पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा

(हिन्दी अनुवाद सहित)

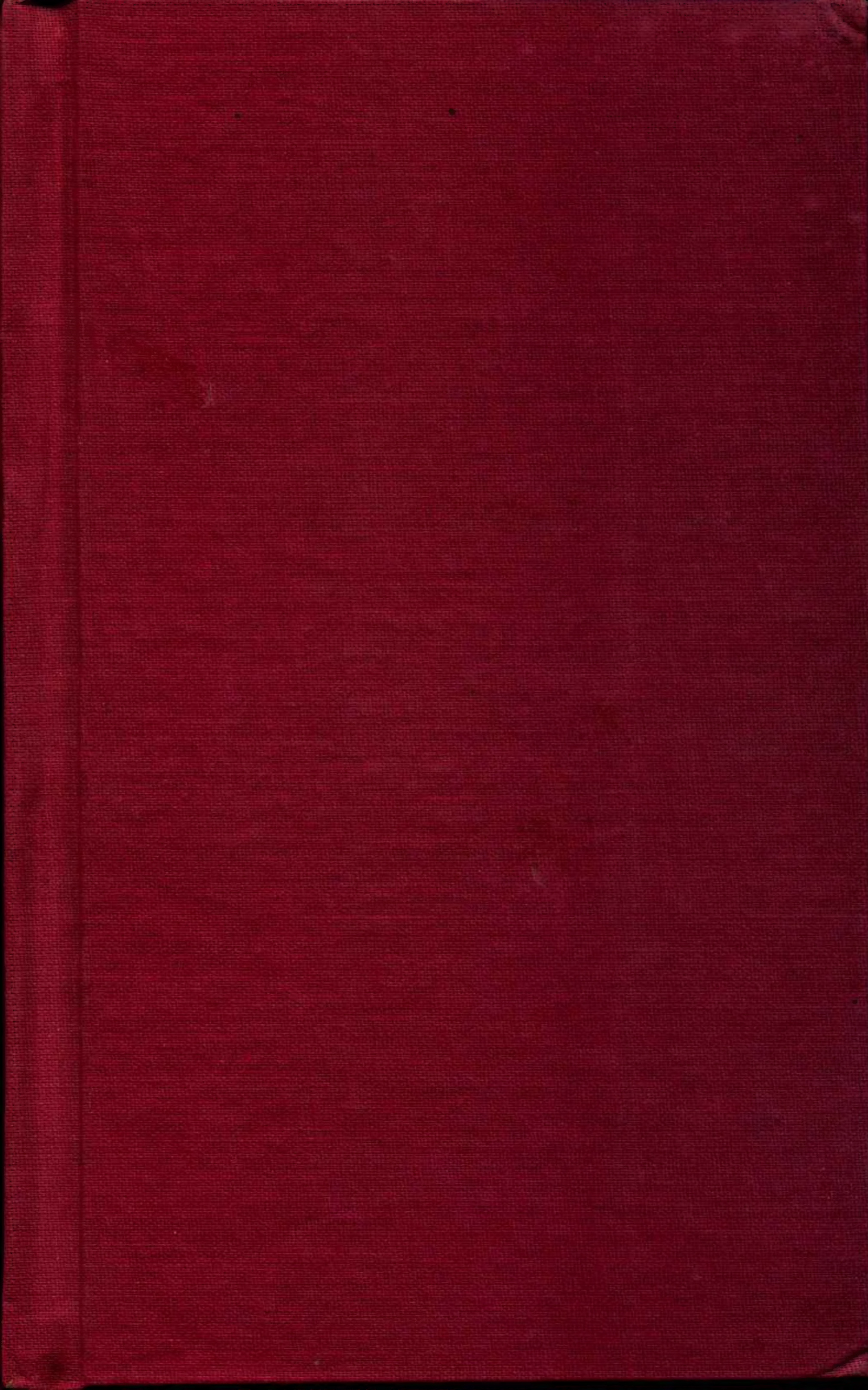
रचयिता

महामहोपाध्याय पं० श्री रामेश्वर झा

प्रकाशक

श्री अरुण कृष्ण जोशी

श्री विजय कृष्ण जोशी



॥ श्रीः ॥
आगमसर्वस्व प्रोफेसर नवजीवन रस्तोगी जी
को सादर समर्पित — कमलेश झा
19.10.05

पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा

(हिन्दी अनुवाद सहित)

रचयिता

महामहोपाध्याय पं० श्री रामेश्वर झा

अनुवादक

पं० श्री कमलेश झा

प्राध्यापक-दर्शन संकाय

कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय

दरभंगा

प्रकाशक

श्री अरुण कृष्ण जोशी

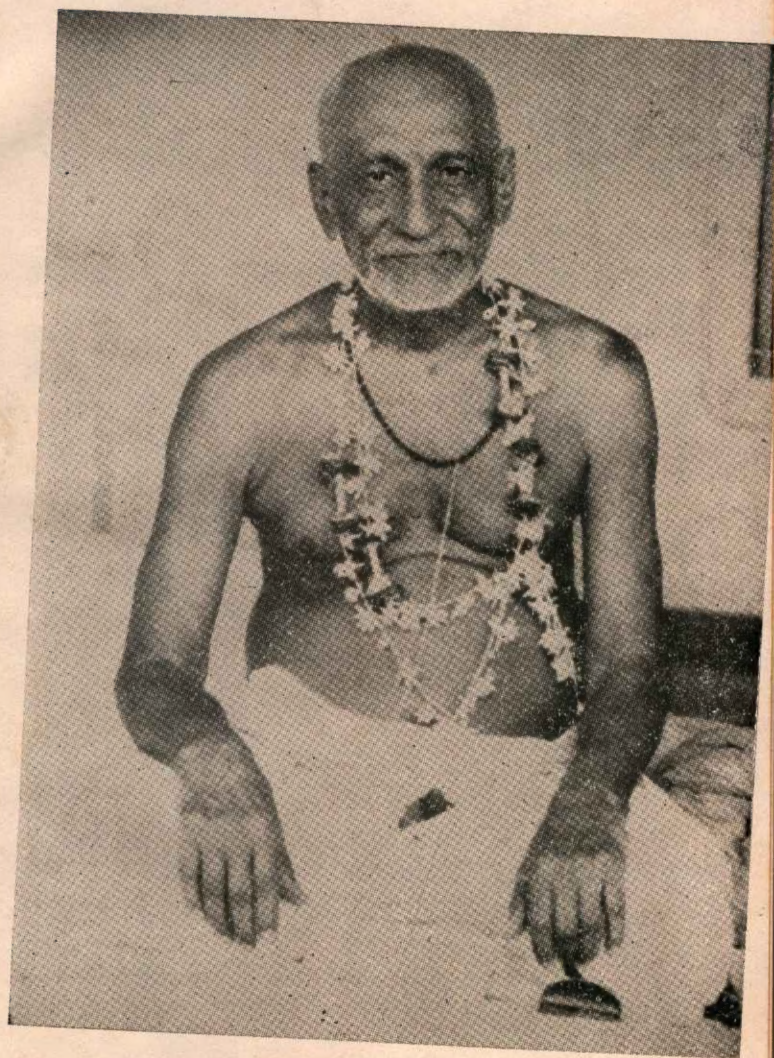
श्री विजय कृष्ण जोशी

द्वितीय आवृत्ति, १९९४
मूल्य : चार सौ रुपये मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान
आर० वी० जोशी एण्ड ब्रदर्स
नीची बाग, वाराणसी
फोन : २३६१६४७

मुद्रक
प्रत्यभिज्ञा प्रेस
वाराणसी

महामहोपाध्याय पं० श्रीरामेश्वर झा



नृत्यद्भिर्भवभूमिकाभिरनिशं रङ्गेत्र भूतैः सह
कालोऽयं दुरतिक्रमोस्ति सकलैः सिद्धैः सुरैर्योगिभिः ।
यः कालं कलनामयं स्वजनितं जानाति कालाधिपः
कालातीतवपुर्विभुर्विजयते रामेश्वरो योगिराट् ॥

—: गुरुवर :—

महामाहेश्वराचार्यः रामेश्वर झा महानुभाव

दिव्याय देवाय दिगम्बराय नित्याय शुद्धाय महेश्वराय।
रामेश्वरायाखिलविग्रहाय स्वात्मैव रोचेत शिवस्वरूपः॥

अखिल देशशिरोमणि श्री-भारत-देश में अनादि काल से आनन्दरूप परमपुरुषार्थ के प्रकाशक महर्षियों की परम्परा चली आ रही है। इसी परम्परा में प्रकृत-ग्रन्थ—"पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" के रचयिता गुरुवर "श्री रामेश्वर झा" महानुभाव का आविर्भाव हुआ।

श्रीगुरुजी सम्पूर्ण विश्व की भूतिभाविनी मिथिला-भूमि के "समस्तीपुर"—मण्डलान्तर्गत ऊर्जस्वल "करेह" नदी के दक्षिण तीर पर, बाबा कुशेश्वर धाम के समीप विश्रुत "पटसा" गाँव में वैशाख शुक्ल प्रतिपदा वि० सं० १९६२ को सुकल, शैव, ब्राह्मण-कुल को अपने जन्म से गौरवान्वित किये थे।

राजा विदेह की भाँति ज्ञान-भक्तिमय जीवन वाले योगिराज "श्री अयोध्यानाथ झा" जी तथा कलिमलाऽस्पृष्टा अपर रमारूपिणी पूज्य मातृचरण श्रीमती "रमादेवी" की गोद को आपने प्रमोदसन्दोहान्वित किया था।

वंशपरम्परानुसार यज्ञोपवीत-संस्कार के पश्चात् "सन्ध्या-गायत्री", "शिशुबोध" और "नाह्लिदत्तपंचविंशतिका" से आपकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था।

आप पं० श्री रामदत्तमिश्र, श्री विद्यानाथ झा, श्री मुक्तिनाथ मिश्र, श्री रघुनाथ झा, श्री राधाकान्त झा तथा श्री सदानन्द झा प्रभृति विद्वज्जन के सान्निध्य में न्याय और व्याकरण विषय में "प्रथमा"-प्रभृति "आचार्य"-पर्यन्त परीक्षाएँ स्वर्णपदकादि से पुरस्कृत होकर उत्तीर्ण किये। आप काशी में पं० प्र० श्री उग्रानन्द झा जी से न्यायशास्त्र का साङ्गोपाङ्ग क्रोडपत्र तैयार कर काशी तथा मिथिला के तत्कालीन शास्त्रार्थी पण्डितों में अग्रगण्य हो गये थे।

गुरुजन, अद्भुतप्रतिभाशाली आपकी छात्रावस्था के शास्त्रीय समाधान की महत्ता की अनुशंसा मुक्तकण्ठ किया करते थे।

आप १९३३ ई० में म० म० श्री बाल कृष्ण मिश्र जी की संस्तुति पर काशिस्थ नित्यानन्द वेद विद्यालय में आकर्षक अध्यापन से ख्यात होकर पं० श्री शिवदत्त मिश्र जी के आग्रह से खुर्जा-स्थित श्री राधाकृष्ण सं० म० विद्यालय में प्रभावपूर्ण न्यायाध्यापन से पर्याप्त आदृत हुए थे।

तदनन्तर आप पितृव्यपाद पं० "नित्यानन्द झा" योगिराज की पुण्य-स्मृति में अपने गाँव "पटसा" में "नित्यानन्द सं० विद्यालय" की स्थापना कर श्रद्धेय "बच्च झा" की भाँति अपने व्यय से छात्रों के भोजनावासादि की व्यवस्था कर प्राचीन परिपाटि से विद्यादान करने लगे।

श्रीगुरुजी के छात्रों का सहस्र गायत्री जप तथा मिथ्याभाषण पर कठोर प्रतिबन्ध का पालन अनिवार्य कर्तव्य था। ये विभिन्न शास्त्र के उद्भट विद्वान् आज देश-विदेश के विश्वविद्यालयों तथा आश्रमों में आपके कीर्तिस्तम्भ हैं।

छात्रावस्था से ही योगाभ्यासी श्रीगुरुजी पितृव्यपाद श्री अक्षय झा जी से प्राप्त स्वर योग की साधना में संलग्न होकर १४ वर्ष तक पयोमात्र आहार करते थे।

समशील श्रीमान् "रामेश्वर जोशी" जी की श्रद्धा से आकृष्ट श्रीगुरुजी तत्कालीन समस्त शिष्यों के साथ वाराणसी-स्थित उनके भवन में समस्त सुविधायें प्राप्त कर, योगाभ्यास और अध्ययनाध्यापन में संलग्न रहते थे।

तदनन्तर काश्मीर में श्रीलक्ष्मण जू० गुरुदेव की दृष्टिमात्र से अवाप्त-शक्तिपात श्रीगुरुजी सद्यः चिराभिलषित पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त कर शैवागम का अवगाहन करने लगे।

महान् तान्त्रिक श्रीगोपीनाथ कविराज जी से प्रेरणा प्राप्त कर श्रीगुरुजी ३५ वर्षों की निरन्तर साधना तथा शास्त्रावगाहन से "जोशी-निवास-कोल्हुआ-वाराणी" में वि० सं० २०१७ में "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" की रचना कर शैवागम को अध्यापन-योग्य बनाये।

तदनन्तर निजेच्छानुसार श्रीगुरुजी "काशी", "काश्मीर" और "पटसा" में रहकर न्याय, वेदान्त, व्याकरण-शैवागमादि के अध्यापन और ज्ञानोपदेश द्वारा राष्ट्रपति-सम्मानित शास्त्रज्ञ से लेकर शास्त्र के "क ख ग घ" से शून्यव्यक्ति-पर्यन्त सहृदय भक्त को संविन्मार्ग की दीक्षा से पूर्णताप्रत्यभिज्ञापन करते थे।

शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को सहज भाव से सरलतया समझा देने की अद्भुत प्रतिभा से मण्डित आपकी दातृत्वशक्ति के अमोघ प्रभाव से साधारणजन भी शास्त्रमर्मज्ञता और शिवात्मता को आत्मसात् कर लेते थे।

महामाहेश्वर श्रीरुजी के अद्भुत शक्तपात से प्राप्त शिवात्मभावि सपत्नीक श्रीमान् रङ्गेश्वर जोशी जी तथा उनके सुपुत्रद्वय (श्री अरुण कृष्णजोशी और श्री विजयकृष्ण जोशी) सतत आपकी सुविधापूर्ण व्यवस्था का पूर्णध्यान रखते थे।

आदरणीय श्रीजोशी जी की उत्साहपूर्ण अभिलाषा है कि श्रीगुरुजी द्वारा विरचित "श्रीक्रमाभिज्ञापना" (दार्शनिक सृष्टिप्रक्रियापरक श्लोकात्म मौलिक ग्रन्थ) तथा "वाक्यपदीयम्" की टीका का अतिशीघ्र प्रकाशन हो।

विविध शास्त्रों के अधिकारी विद्वान् तथा महान् योगी एक मात्र श्रीगुरुजी को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" द्वारा १९८० ई० में प्रथमतः "महामहोपाध्याय" की मानद उपाधि और सम्मानित प्राध्यापक पद में नियुक्ति से आदृत किया गया तथा १९८१ ई० में भारत-सरकार द्वारा "राष्ट्रपति-सम्मानित" और शास्त्रचूडामणि-प्रख्यात-विद्वानों में "प्राथम्य" प्रदान किया गया।

सारस्वत-साधना-संलग्न श्रीगुरुजी के एकान्त क्षणों में छन्दोमयी वाणी फूट पड़ती थी जो उनकी आनन्दपूर्ण स्वरूपानुभूतियों की अभिव्यक्ति करती है। एतादृश दस सहस्र श्लोक गुरुजी की दैनन्दिनियों में सुरक्षित हैं जिनके शतशः श्लोक "गुरु-स्तुति", "शिव तत्त्वविमर्श तथा "सन्मार्ग" (तन्त्र-आगम-विशेषांक) में प्रकाशित हैं।

आद्य शंकराचार्य की भाँति आपकी छन्दोमयी वाणी विभिन्न देवता-स्वरूप स्वात्मदेव की सहज और मार्मिक स्तुति-रूप में बिखरी हुई है।

"उपासतेऽपि ये चान्यं देवं यं कञ्चनापि तु।
स देवोऽप्यहमेवास्ति न चेद्देवो जडो भवेत्॥

आपके पूर्णताप्रद शक्तिपात से पवित्रित शिवरूप अनेक सद्गुरु साधारण गाँव से विशिष्ट नगरों में सहृदय जिज्ञासुओं को सहज भाव से पूर्णता का आधान करते हैं।

आपकी इच्छा शक्ति तथा वाक्सिद्धि की महत्ता से आपके प्रत्येक अभिन्न जन भलीभाँति परिचित हैं।

साक्षात्-शिव श्रीगुरुजी शिष्य नहीं बनाते थे प्रत्युत शिष्यता चाहने-वाले को सद्यः गुरुता प्रदान करते थे।

"न मया क्रियते शिष्यः कृतः शिष्यो न कश्चन।
शिष्यतामिच्छते सद्यो दीयते गुरुता मया॥

संस्कृत प्रेमी आपके चार ज्ञानसम्पन्न पुत्र और अनेक पौत्र-दौहित्रादि संस्कृत के उद्भट विद्वान् हैं जो विद्या सम्बन्ध की प्रधानता से आपके लिये "गुरुजी" शब्द का ही प्रयोग किया करते हैं।

"पुत्रे यशसि तोये च ज्ञायते हृदयं नृणाम्" की पूर्णसफलता आप में दृष्टिगोचर होती है।

श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद के अवताररूप महामाहेश्वर श्रीगुरुजी समस्त शैवागम का स्वयमेव अवगाहन पुरःसर अनुगम कर पुनः शैवागम का सारसंग्रह रूप "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" की रचना किये हैं।

संवित्स्वभावः किल शैव आगमः स्पन्दत्वमाप्तो वसुगुप्तमागतः।
सा प्रत्यभिज्ञाभिनवार्चितौत्पली पूर्णत्वमाप्ता समुपेत्य मामपि॥

"मैं स्वरूपस्थ हो रहा हूँ—" ऐसा कहकर श्रीगुरुजी पौष कृष्ण-प्रतिपद् वि० सं० २०३८ तदनुसार १२।१२।१९८१ की रात्रि १२-२० बजे अपनी ऐहिक लीला समाप्तकर भी नित्य अभिनवरूप में भासमान हैं।

"विभासमानोऽपि न भास्यते यो गुप्तो गुरुः सोऽभिनवः सदास्ते।"

अस्तु, मैं आचार्य उत्पलदेव महानुभाव की छन्दोमयी वाणी से श्रीगुरुजी को प्रणाम करता हूँ—

न ध्यायतो न जपतः स्याद् यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥

— अनुवादक

शुभाशंसनम्

प्रत्यभिज्ञैव भगवती पूर्णता-सामानाधिकरण्येन समुपासिता परिच्छिन्नताभावनामनादिवासनाबद्धमूलामुन्मूलयितुं समर्था। श्रुतिरपि वदति "भूमैव सुखम्" इति। निषेधति च—"नाल्पे सुखमस्ति" इति। अशरीरभाव एव मोक्षः। तत्रेदं विवेक्तव्यम्—यदशरीरभावो नाम न शरीरनाशः, किन्तु परिच्छिन्नानित्यशरीरेन्द्रियान्तःकरणमनोबुद्धिप्रभृतिभ्यः सर्वेभ्योऽनात्मपदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तस्वीयपूर्णतायाः प्रत्यभिज्ञा। सैव पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा "सोऽहमित्यादिरूपेणाभिनेतुं शक्या।

सा तु तदैव चिरं सत्कारदृढनिष्ठादिपूर्वकं सेविता सती अशरीर-लक्षणलक्ष्यां जीवन्मुक्तिं विदेहमुक्तिञ्च प्रदातुं समर्था भवति-यदा श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठद्वारा समुपदिष्टा भवति। तथा च श्रुतिः—आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति। आचार्यशब्दात् प्राशस्त्ये मतुप्। प्राशस्त्यं च शास्त्रज्ञानं तद्विषयसाधनसंसेवनजन्यानुभवश्च। तथा चोक्तं गीतायाम्—"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं वक्ष्यामि हितकाम्यया"—इत्यादि। तथा च प्रशस्ताचार्य-विशिष्टः पुरुषः परमात्मज्ञानवान् भवतीति वाक्यार्थः। वैशिष्टयं च—उपदेश्यतासम्बन्धेन। तथा च श्रुतिः—"प्राप्य वरान्निबोधत" इति। नह्यवरेण प्रोक्ता विद्या बलवती अर्थाद् कृतकृत्यतासाधिका भवति। अत एव तु महात्मनो लक्षणं कृतम्—"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्म-नाम्" इति।

अधीतशास्त्रजन्यासन्दिग्धाबाधितप्रमात्मकज्ञानविशिष्टत्वे सति तदनुसार्यनुभवविशिष्टपरमशिष्टपुरुषोक्तोपायोपासनेनोपासकोऽपि तादृश एव भवतीति शास्त्रमर्यादा।

यथाऽलीकप्रतियोगिकोऽभावो न भवति तथैव अलीककर्तृकसत्तापि न भवति। अतएव जगदीशतर्कालङ्कारैरुक्तं—"सदसतोः संसर्गायोगात्" इति। तथा चेदमत्राकूतं वेदितव्यम् यत्—पूर्वं श्रुतिस्मृतिप्रमाणवचोबद्ध-लक्षणलक्षितशास्त्रज्ञान-तदनुभवविशिष्टा परमशिष्टा मयाऽदृष्टमाहात्म्याद् दृष्टा लोकविश्रुता विदितवैदुष्या विद्वद्वृन्दवन्दितसेवितविद्या मनस्विनो योगिनो भारतदेशालङ्कारभूता अध्यात्मविद्यासाम्राज्यसम्राजो महामान्या,

पण्डितप्रवरा मिथिलामण्डलमण्डनभूता तदभिजनका ब्रह्मप्रकाशिकां काशिकां सेवमाना। श्रीरामेश्वरझामहाशयाः।

तैः स्वसमवेतज्ञानानुभवानुसारं वैखरीमवस्थां प्रापिता "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" व्याख्यानमन्तरान्तरालान्धकारनिवर्तनाक्षमा पूर्णतयाऽविदि-तार्थत्वादिति तस्या व्याख्यानं परमावश्यकमासीत्।

तदेतत्कार्यं यादृशेन पुरुषरत्नेनागणितगुणगणमण्डितेनापेक्षितं सत् फलदं भवेत्—तादृशेनैव कृतमिति सत्यं वच्मि। स च युवा विद्वान् विश्रुतः शिष्टः पण्डितपुङ्गवानां श्रीरामेश्वर झामहानुभावानां शिष्य एव तत्कुलप्रसूतः श्रीभवनाथझासुनो शैवागमव्याकरणवेदान्ताचार्यो दरभङ्गास्थ श्रीकामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृत-विश्वविद्यालये दर्शनविभागे प्राध्यापकः श्रीकमलेशझानामधेयः।

यथा श्रीभाष्यस्य व्याख्या श्रुतप्रकाशिका श्रीभाष्यकाराणां परमा-चार्याणां रामानुजाचार्याणां शिष्येणैव रचिता, शब्देन्दुशेखरस्य च व्याख्या "चिदस्थिमाला" मूलभावप्रकाशनक्षमा, न च तत्र कोपि कविदो विवदते तथैव श्रीमता विदुषा मम शिष्येण मत्स्नेहभाजनेन भविष्णुनाऽल्पी-यसि वयस्येवावाप्तज्ञानवृद्धगुणेन शिष्टेनकृता हिन्दीव्याख्या बहुजनसमवेत-मूलार्थयथार्थज्ञानजननसमर्था भवितेति मम दृढः सर्गः।

देवस्वरूप मिश्रः

विजयादशमी सं०—२०४०

आत्मनिवेदन

"अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानं च गुरुं शिवम् ।
तं नौमि मुक्तमात्मानं विद्याविद्योभयात्मकम् ॥"

महामाहेश्वर गुरुवर श्री पं० रामेश्वर झा महानुभाव के चरणों में ११ वर्ष की अवस्था में ही मैं आपके शक्तिपात से पवित्रित श्रद्धेय माँ की अनुशंसा से पूज्य पिता श्री भवनाथ झा जी द्वारा अध्ययनार्थ लगाया गया। अ इ उ ण्" "ऋ ऌ क्" —से प्रारम्भकर व्याकरण और विभिन्न दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों को श्रीमान् रमाकान्त झा गुरु से संस्कार पुरः सर "गायत्री" प्राप्त कर मुझे साक्षात् शिव के सान्निध्य में अध्यापन करने का यह अद्भुत सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

श्रीगुरुजी १९७९ ई० में कृपा-पूर्ण विलक्षण आशीर्वाद से अपने आवास "श्रीजोशी-निवास-कोल्हुआ-वाराणसी" के समीप "श्रीरणवीर सं० वि० कमच्छा वाराणसी–(का० हि० वि० वि०) में दर्शनाध्यापक रूप में मुझे नियोजित कर मुख्यतया शैवागम का अध्ययन कराने लगे। जिसमें मुझे कईबार डाँट खानी पड़ी थी।

"गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥"

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि श्रुति के साथ—

"शिवोऽहमानन्दघनो महेशः स्वयं प्रकाशश्च परप्रकाशः
परं न स्वस्मादपि किञ्चिदन्यत् स्वयं परं सर्वमिदं यतोऽहम् ॥"—

की अभिव्यक्ति सहसा मुझे चमत्कृत कर दी, जब श्रीगुरुजी की डाँट के पश्चात् उनका शक्तिपात हुआ।

आदरणीय शिवात्मा श्रीमान् रङ्गेश्वर जोशी जी की लोकहितार्थं पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" की हिन्दी-व्याख्या की अभिलाषा-पूर्ति श्रीगुरुजी के कृपा-पूर्ण आदेश से काशी में ही मेरे द्वारा हुई।

तदनन्तर फरवरी १९८२ ई० में सं० वि० वि० दरभंगा में मेरी नियुक्ति हो जाने से इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ।

परम प्रमोद का विषय है कि श्रीमान् रङ्गेश्वर जोशी जी की धर्मपत्नी श्रीमती शकुन्तला जोशी की पुत्रवधू (कु० निमेषा और प्रकाश की माँ श्रीमती रश्मि जोशी) (आनन्द और उमेश की माँ श्रीमती मधु जोशी) के पति क्रमशः श्री अरुण कृष्ण जोशी और श्री विजयकृष्ण जोशी अनुग्रहात्मा विश्वात्मा की इच्छा-शक्ति और सद्व्यय से सहृदय सज्जन को महेश्वरता प्रदान करने हेतु यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित हुआ है।

आदरणीय श्री गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी, श्री कमलेश दत्त त्रिपाठी, श्री रमानाथ झा और श्री राजेन्द्र प्रसाद कौशिक के विलक्षण सुझाव मुझे मिलते रहे हैं।

पंडित श्री जीवेश झा एवं श्री विजयकृष्ण जोशी जी तन्मयता से प्रूफ-संशोधन के साथ भूमिका-लेखन में सुझाव दिये हैं।

उदार पितृव्यचरण श्री श्यामनाथ झा तथा रेवतीपुर निवासी श्री शिवप्रसाद शर्मा जी के संरक्षण में काशी में रहते हुए मुझे दर्शन शास्त्र पढ़ाने वाले संस्कृत वाङ्मय के उद्भट शास्त्रार्थी विद्वान् गुरुवर श्री पंडित देवस्वरूप मिश्र जी "शुभाशंसनम्" लिखने का कृपापूर्ण अनुग्रह किये हैं।

शैवागम के पूर्वाचार्यों, ईश्वर स्वरूप परम गुरु श्रीमान् लक्ष्मण जू देव और उनकी कृपादृष्टि से अवाप्तशक्तिपात महामाहेश्वर म० म० गुरुदेव "श्रीरामेश्वर झा" महानुभाव तथा आपके शक्तिपात से प्राप्त-प्रकाशोदय उपर्युक्त समस्त सतीर्थ्य को मैं यथायोग्य प्रणति और आशीर्वचन प्रतिवेदन पुरःसर कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवद्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवन्नैव प्रकाशोदयः।
हर्षः संसृति भेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतिनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः॥

मैं विश्वात्मा-साक्षात्-शिव-म० म० गुरुवर "श्रीरामेश्वर झा" महानुभाव के पूज्यचरणों में त्रिविध-प्रणति-पुरःसर "श्री राजलक्ष्मी" राष्ट्रभाषाव्याख्यात्मक ग्रन्थ का सविनय समर्पण करता हूँ।

निःसीमनित्यनिजरूपशिवस्वरूपे लब्धा स्थितिर्निखिलविश्वमयस्वभावे।
येन त्वदीयकरुणामृतनिर्भरेण तस्यैष ते चरणयोस्त्रिविधः प्रणामः॥

विजयदशमी
सं० २०४०
१६।१०।८३ ई०

कमलेश झा
ग्रा०, पत्रा० पटसा
जि० समस्तीपुर, बिहार

–भूमिका–

"अत्र तत्र च सर्वत्र सदेदानीं यदा तदा।
त्वमेवैक: स्वयं शम्भो विभासि विविधात्मक: ॥"
"नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों में आनन्दरूप मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है।

परमेश्वर ने सृष्टिप्रकाशन हेतु सूर्य निर्माण के सदृश मोक्षरूप स्वात्मप्रकाशन हेतु वेद, शैव, शाक्त प्रभृति शास्त्रों का निर्माण किया है।

पञ्चकृत्य-स्वभाव परमेश्वर के अनुग्रहशक्तिरूप समस्त शास्त्रों के सारभूत त्रिकशास्त्र का गूढ़रहस्य "मालिनी-विजय" तन्त्र में वर्णित है।

अनादि परम्पराप्राप्त शैवागम का "शिवसूत्र" ८वीं शताब्दी में महात्मा वसुगुप्त को प्राप्त हुआ। इन्होंने "स्पन्दकारिका" ग्रन्थ की रचना कर शैवागम रहस्य का प्रतिपादन किया। तदनन्तर महात्मा सोमानन्दपाद ने "शिवदृष्टि" की रचना कर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रवर्तन किया।

अद्वैतप्रतिपादक शैवागम को आगम, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा-इन तीन भागों में विभाजित किया जाता है।

विरूपाक्षपञ्चाशिका, मालिनी-विजय, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्र तन्त्र, विज्ञान भैरव, मृगेन्द्रतन्त्र, रुद्रयामल, शिवसूत्र-प्रभृति आगम-शास्त्र परमेश्वर प्रोक्त हैं।

स्पन्दसूत्र और इसकी विवृति, प्रदीपिका, स्पन्द-सन्दोह, स्पन्दनिर्णय प्रभृति टीकाग्रन्थ "स्पन्दशास्त्र" कहलाते हैं।

युक्ति और सत्तर्क द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सर्वाङ्गीण शैवाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञाशास्त्र कहलाते हैं।

महात्मासोमानन्द विरचित "शिवदृष्टि" उनके शिष्य श्रीमान् उत्पलदेवाचार्य रचित "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" और "वृत्ति-विवृति" तथा इनके प्रशिष्य और आचार्य लक्ष्मण-गुप्तपाद के शिष्य श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित "लध्वी" और "बृहती" वृति और विवृति की

"विमर्शिनी" तथा तन्त्रालोक, वार्तिक, परमार्थसार, तन्त्रसार प्रभृति ग्रन्थरत्न प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का पर्याप्त पल्लवन करते हैं।

तदनन्तर प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, शिवसूत्र विमर्शिनी, विज्ञान भैरवोद्योत प्रभृति क्षेमराजाचार्य रचित ग्रन्थ शैवागम के कलेवर को विस्तारित करते हैं।

इस प्रकार काश्मीर शैवागम ११वीं शताब्दी तक पर्याप्त विकसित हो गया।

दयामयो भुवनेश्वरी की प्रेरणा से आचार्य रामेश्वर झा के रूप में अवतीर्ण महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपाद ने २०वीं शताब्दी में साधारण संस्कृतज्ञ को भी समावेशचमत्कार पुरःसर कृतकृत्यता हेतु "पूर्णता प्रत्यभिज्ञा" ग्रन्थरत्न को रचना की।

"तयैव भुवनेश्वर्या प्रेरितेन मया पुनः।
दर्श्यते शैवशास्त्राणां सारः सन्तापशान्तये ॥ पू० प्र०-५

"संवित्स्वभावः किल शैव आगमः
स्पन्दत्वमाप्तो वसुगुप्तमागतः।
सा प्रत्यभिज्ञाऽभिनवार्चितौत्पली
पूर्णत्वमाप्ता समुपेत्य मामपि ॥"पू० प्र०-११

सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यशील परमेश्वर का स्वाभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा परस्पर विरुद्ध विविधरूपों में भासित होना अग्नि की दाहकता के सदृश स्वभाव है। स्वात्म-परमेश्वर का अहमात्मक स्वरूपावभासनात्मक विमर्श ही मुख्य कर्तृता है।

क्रीडाशील स्वात्मा का, माया द्वारा व्यामोहित होकर स्व को अपूर्ण मानते हुए संकुचित रूप में भासित होना ही आणवमल कहलाता है।

मायाजन्य कला और कलाजन्य अशुद्ध विद्या, राग, नियति और काल से क्रमशः किंचित्कर्तृत्व किंचिज्ज्ञत्व, अपूर्णत्व, अनित्यत्व और अव्यापकत्व का अपने में आधानकर स्वात्म-महेश्वर ही प्रमाणप्रमेयस्वरूप विश्व का विस्तार कर उसका भोक्ता बन जाता है।

परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी माया शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥

माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन सम्बद्धः ॥
"अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।"
॥प० सा० १५-१६॥

स्वरूप के संकुचित हो जाने से स्वभिन्नतया देहादि का भासन होना "मायिक" और सुखदुःखादिजनक धर्माधर्मादि की वासना "कार्म" मल कहलाते हैं।

कार्म-मल के विना आणव और मायिक मल देहादिनिर्माण में सक्षम नहीं होते। अतः यह मुख्य मल है।

उपर्युक्त तीन मलों के तारतम्य से स्वात्म-महेश्वर ही शिव, मन्त्र-महेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल-संज्ञक सप्तविध प्रमाता बन जाता है।

क्रीडाशील स्वात्मा स्वातन्त्र्य-शक्ति से मलत्रयावृत और कञ्चुकषट्क-पाशित होने से पशु बनता है और निजपूर्णता की प्रत्यभिज्ञा से समावेश दशापन्न पशु सद्यः मल-पाश-निर्मुक्त होकर पशुपति बन जाता है।

यह स्वात्मा ही देश-काल-विषयादि का भासक, प्रमाणों को अनुप्राणित करनेवाला, सर्वभावप्रकाशक, नित्य, व्यापक और विश्वविग्रह है।

प्रकाशरूप सर्वनैर्मल्य-सम्पन्न चिद्दर्पण में स्वातन्त्र्यशक्ति से बिम्ब के अभाव में ही समस्त वेद्य प्रतिबिम्बरूप से भासित होते हैं।

"दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रमादि चित्रमविभागि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ॥"
॥प० सा० १२-१३॥

स्वात्म-महेश्वर समावेश अनुपाय और सोपाय रूप शास्त्रों में वर्णित है।

श्रीगुरु के सकृद् उपदेश, सिद्धयोगी के दर्शन और मुझसे अभिन्न समस्त वेद्य मुझ में ही भिन्नतया भासित है—एतादृश दृढ़ विवेचन से अनुपाय समावेश होता है। इस समावेश से योगी की विकल्पात्मक कलनायें भी निर्विकल्पस्वभाव ही हो जाती हैं।

"न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि ॥"

स्वभिन्न अन्य की अपेक्षा बिना सद्गुरु द्वारा प्रतिबोधित्व अर्थात् स्वानुसन्धान से महेश्वरता की प्राप्ति, इच्छारूप अभेदाख्य शैवसमावेश है।

प्राणव्यापारादि उच्चार के बिना आन्तरिक वृत्तियों के दमन से भेदविगलन द्वारा चिन्तन करने से परमेश्वरता की प्राप्ति, ज्ञानरूप भेदाभेदाख्य शाक्त समावेश है।

उच्चार, करण, ध्यान-प्रभृति स्वपरिकल्पित शास्त्रविहित स्वभिन्न उपाय द्वारा अभ्यास-साध्य महेश्वरता को क्रमिक प्राप्ति, क्रियारूप भेदाख्य आणव-समावेश है।

प्रत्येक समावेश का स्वरूपाविर्भावरूप एक ही फल है।

इस प्रकार अपनी पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा द्वारा परभैरवाख्य बोधोदय से अज्ञानभेदनपुरःसर अपरिच्छिन्न परम स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति ही मोक्ष हैं।

"अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।"

सहजतया शास्त्र के जटिल ज्ञान से रहित सहृदयजन को पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा हेतु शिवादि-पृथिवी पर्यन्त समस्त तत्त्व और उनके प्रकाशक परमेश्वर का परिचय "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" ग्रन्थ में कराया गया है। प्रत्येक प्रकरण में समावेश की प्रधानता का ध्यान रख कर विलक्षण स्वात्मानुसन्धान की प्रक्रिया पाठक को चमत्कृत कर देती है। यथा—

"पूतप्रेमपरामृतैकरसिको जानाति विज्ञो भगवान्।"
"यस्य संविदि सर्वोऽयं भाववर्गोऽवभासते।"
"प्रतिबिम्बतया सोपि शिवः सर्वेश्वरो भवान्।"
"चिदानन्दैकघानताग्रहीतृस्वात्मने नमः।"
"अनुपायस्य विद्वांसो भवन्तोऽस्याधिकारिणः।"
"अहमस्मि चिदाह्लादसामरस्यमयः शिवः।"
स्वप्रकाशमयो देवः स्वात्मानं तं समाश्रये।"
"शक्तेरीशः स एव त्वं ग्रासीकृताध्वमण्डलः।"

इत्यादि।

परमेश्वरानुग्रह से पवित्रित संस्कृत ज्ञान-रहित भक्तजनों के उपकारार्थं प्रकृतग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या हेतु "श्रीमान् रङ्गेश्वर जोशी जी" के सदाग्रह से श्रीगुरुजी से आदिष्ट मैं उनकी महती कृपा से यह कार्य पूर्ण किया हूँ।

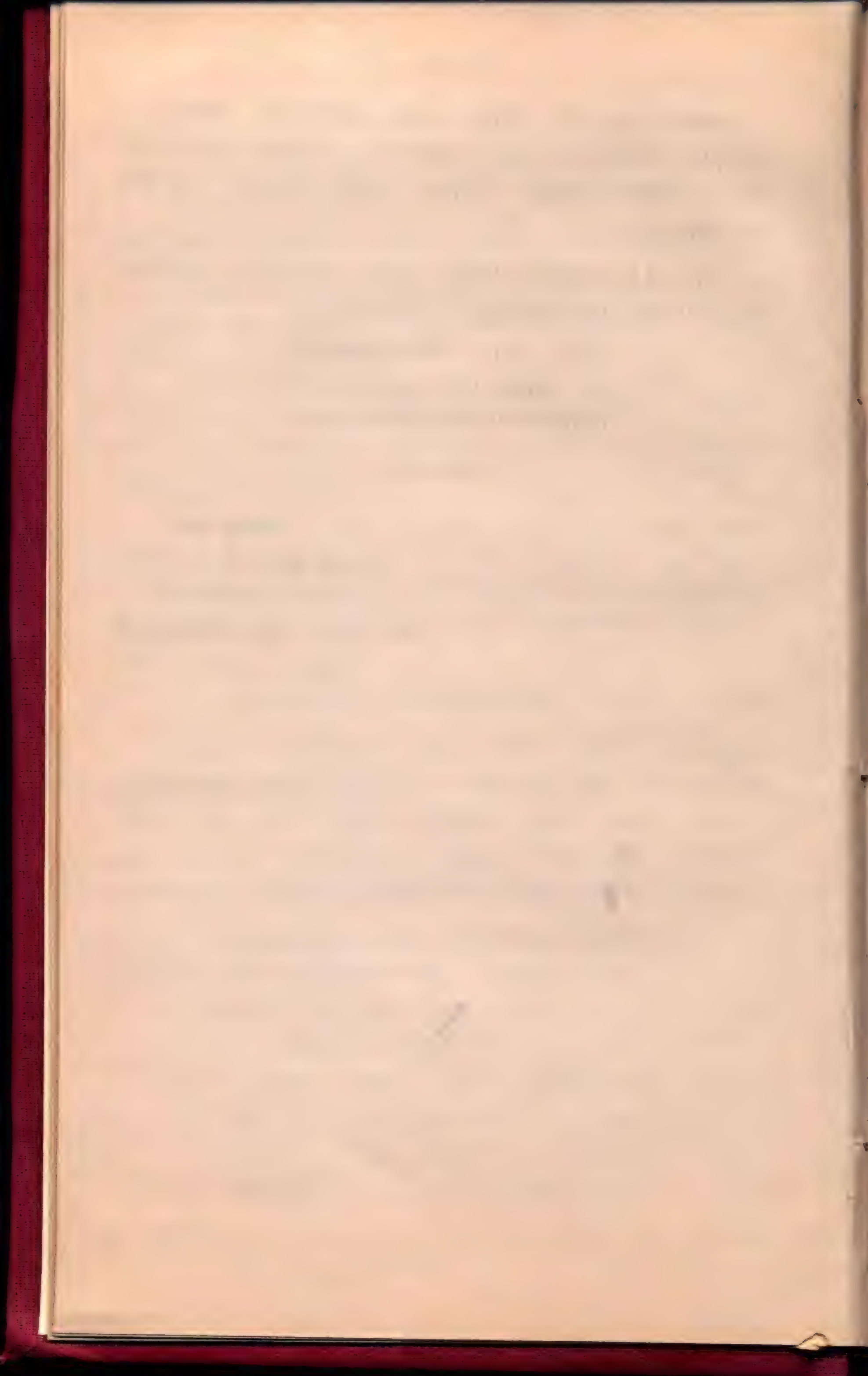
इस ग्रन्थ से कञ्चुकों से पाशित मानव, निजपूर्णता की प्रत्यभिज्ञा द्वारा विपाशित होकर महेश्वरता में प्रतिष्ठित होवें।

"सर्वः प्रियः प्राप्नोत्वभिज्ञताम्।"
नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने॥

॥ इति शिवम् ॥

विजया दशमी
सं० २०४०

कमलेश झा
(व्याकरण-वेदान्त शैवागमाचार्य)
प्राध्यापक–दर्शन संकाय
का० सि० द० संस्कृत विश्वविद्यालय
का० न० दरभंगा।



मितञ्च सारञ्च

अये ! स्वात्मानः ! सहृदयाः ! सुहृदः !

समानशीलव्यसनिनो वयं विश्वमानवाः परमार्थत एकात्मानोऽपि आपाततो देहादिप्रथाप्रथितात्यन्तभेदवन्त एव विभासमानाः स्मो मायापदे ।

तथापि प्रत्यभिज्ञातस्वरूपः सन्नयमहमेवास्मि शिवस्वरूपो भवानिव भवान्वाहमिव विश्वरूपः सृष्टिस्थितिप्रलयनिग्रहानुग्रहपञ्चकृत्यस्वभावो देशकालानवच्छिन्नस् तत्तदवभासकः । स्वातन्त्र्यात् परावाग्रूपात् समुच्छलत्स्वभावात् क्रमविधुरादपि क्रमादुद्भूतेभ्यो वैखर्यात्मतापन्नेभ्यो वर्णमन्त्रपदरूपेभ्यः प्रमाप्रमातृप्रमास्वरूपेभ्यः प्रमेयतामुपगतेभ्यश्च ज्ञानकर्मेन्द्रियान्तःकरणतद्ग्राह्योदन्तापन्नतन्मात्रपञ्चकपञ्चभूतादिभ्यो व्यवहरन् जानन् कुर्वन्नप्यस्मीत्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिः ।

इस ग्रन्थ में संक्षेप से जानने योग्य आधार भूत तत्त्व

हे स्वात्मरूप ! सहृदय सुहृद्गण !

समान स्वभाव (चेतनता) और व्यसन (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) वाले हम समस्त मानवों की वस्तुतः एक ही आत्मा है; किन्तु हम अच्छी तरह विचार किये बिना देह से प्रकाशित अपनी-अपनी भेद-विभिन्नताओं के कारण इस मायिक जगत् में परस्पर भिन्न रूप से भासित हो (दीख) रहे हैं।

फिर भी अपना स्वरूप प्रत्यभिज्ञात हो जाने पर आप की तरह मैं ही शिवस्वरूप हूँ अथवा मेरी तरह आप ही विश्वरूप हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह और अनुग्रह ये पञ्च-कृत्य आप ही के स्वभाव हैं। आप देश

तथा काल से अनवच्छिन्न हैं अर्थात् देश-काल परिच्छेदन आप में नहीं है; प्रत्युत देश-कालादि को प्रकाशित करने वाले आप ही हैं।

अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति—जो परावाक् स्वरूप है. सदैव उच्छलित होना जिसका स्वभाव है, तथा जिसमें क्रम नहीं है;—से क्रमपूर्वक उत्पन्न होता हुआ "वैखरी" रूपता को प्राप्त करता हुआ, वर्ण, मन्त्र, पद रूप बनता हुआ पुनश्च वही प्रमा, प्रमाता, प्रमाण रूप बनता हुआ एवं प्रमेयरूप से ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तः करण (मन-बुद्धि) इन सब से गृहीत होने वाले, इदन्ता रूप से युक्त पञ्चतन्मात्र (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) तथा उनके आश्रय (आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी) आदि से व्यवहार करता हुआ तथा उनको जानता हुआ भी मैं ही हूँ अर्थात् आप ही हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

कुतो न विप्रतिपत्तिः ?

कथमहमेव शिवस्वरूपो वा ? विश्वरूपो वा ? यतः शिवः सर्वज्ञः सर्वकर्ता नाहमस्मि तथा, सत्यम्, तत एव तु प्रत्यभिज्ञापयामि, प्रत्यभिजानन्तु भवन्तः।

आशङ्का—संदेह कैसे नहीं है ? मैं ही कैसे शिवस्वरूप अथवा विश्वरूप हूँ ? शिव तो सब कुछ करने वाला है; सर्वज्ञ है—मैं वैसा तो नहीं हूँ।

समाधान—ठीक है, इसीलिये तो मैं आपको प्रत्यभिज्ञा करा रहा हूँ अर्थात् आपको अपने को पहचानने में समर्थ बना रहा हूँ। आप अपने को पहचानिये।

अन्योन्यावहानेन भेदात्मना निर्भासमाना ये शुद्धाशुद्ध-मिश्ररूपा लोकास्तत्प्रमातृप्रमेयाश्च तेषामन्योन्यसम्बन्धादयः कार्य-कारणभाव-क्रियाकारकभाववैचित्र्यादयश्च तेषां समेषां पारमार्थिकस्वभावो भवानेव शिवात्मा भवदात्मा वा शिव एवैकः स्वरूपसंस्थिताखिलवेद्यवेदकप्रपञ्चप्रकाशकः स्वच्छ आदर्श इव स्वीयशक्तिबिम्बप्रतिबिम्बितविभिन्नविरुद्धपदार्थैकाव-

भासकः सविमर्शो जडविलक्षणश्चेतनो भवानेव भगवानस्ति भाति च । निर्विमर्शः प्रकाशोऽपि जड एव भवेन्न चेतनः ।

एक से एक को हटाकर विभिन्न रूप से समझ में आने वाले जो ये शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध लोक हैं—अर्थात् चतुर्दश भुवन अथवा अनन्त भुवन हैं—इनमें जो प्रमाता तथा प्रमेय हैं, उनका परस्पर सम्बन्ध आदि है, कार्यकारणरूपता है और क्रिया-कारक-भाव प्रभृति विचित्रता है—उन सबों का वास्तविक स्वभाव या तत्त्व-शिवस्वरूप एक आप ही हैं अथवा आप से अभिन्न एक शिव ही है ।

अपने स्वरूप में ही ठहरा हुआ—जो समस्त वेद्य-वेदक रूप प्रपञ्च है—उसके प्रकाशक आप ही हैं ।

जैसे स्वच्छ दर्पण अपनी शक्ति द्वारा बिम्ब से प्रतिबिम्बित विभिन्न विरुद्ध पदार्थों का प्रकाशन करता है, वैसे ही अपने शक्तिरूप बिम्ब से प्रतिबिम्बित अनन्त पदार्थों के प्रकाशक, विमर्शयुक्त, जड से विलक्षण, चेतन आप ही भगवान् हैं और प्रकाशमान हो रहे हैं । विमर्श विना दर्पण, मणि आदि में जो प्रकाश है; वह जड़ है, चेतन नहीं । किन्तु चेतन प्रकाश तो अहमात्मक विमर्श से युक्त ही है ।

इतश्च भवानेव शिवो यतः—सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वेन न पुनरतिक्राम्यतो ज्ञत्वम् । ज्ञानञ्चज्ञानक्रियात्मिका चेतनतैवाहमित्यात्मिका । या चावधानधनैः स्पन्दादिनामभिर्व्यवहृता शक्त्यात्मपरावाक्स्वरूपा । तद्वांश्च य एव भवान् भूमिष्ठो भूत्वा नवजातः शिशुरासीदस्ति चेदानीं यादृशो यादृशश्च भविष्यति तस्मिंस्त्वयि स्वातन्त्र्यशक्त्यविनाभूतेऽवस्थातर्येकस्मिन् सत्येव ताश्चेमाश्चाऽवस्थाः स्वीयभेदभासकमायाशक्तिजनिताः त्वयैव विभासिताः त्वत्प्रमातृप्रयोजिकश्चाभूवन् भविष्यन्ति सन्ति च । तत्रैवेमे विभान्ति सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादि- विकल्पा अपि ।

(अब आप अपने प्रश्न का उत्तर सुनिये) इसलिये आप ही शिव हैं; क्योंकि सर्वज्ञता (सब कुछ जानना) और अल्पज्ञता (थोड़ा बहुत जानना)

ये दोनों ज्ञता (ज्ञान) को छोड़कर नहीं रहतीं। ज्ञानक्रिया रूपा चेतनता ही "अहम्"—(मैं) प्रतीतिरूप है। जिनका ध्यान ही धन है, उन लोगों ने इसे स्पन्द, ऊर्मि आदि नाम से कहा है। वस्तुतः यह शक्तिस्वरूप परावाणी ही है। उसी अहम्—(मैं) रूप ज्ञान से युक्त जो आप माँ के पेट से निकल कर नवजात शिशु थे, अभी यादृश हैं तथा आगे यादृश होंगे—वह आप सदैव स्वातन्त्र्य-शक्ति से युक्त, विभिन्न अवस्थाओं वाले हैं। आपके रहने पर हो ये अवस्थायें आपकी अपनी ही भेदावभासिका माया-शक्ति द्वारा उत्पन्न हुई हैं और आप से ही भासित होती हैं। ये ही अवस्थायें आपको अतीत में प्रमाता बनाती थीं, भविष्य में बनायेगीं तथा सम्प्रति बनाती हुई मौजूद हैं। इन्हीं अवस्थाओं में आपको सर्वज्ञता तथा अल्पज्ञता आदि विकल्प-ज्ञान होते रहते हैं। (प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर ये सब अपने अन्दर मालुम पड़ते हैं।)

मत्तो भिन्नो भवान् विजानाति मां यथैवाहमपि भवन्तमिति कथमहमेवैकाकी शिव इति न कुतर्क्यम्। यतः त्वत्प्रकाशित एवाहमपि भामि भाति वान्यत् किञ्चिज्जन्यजनकादिवैचित्र्येण विभासमानं त्वयि प्रकाशात्मनि विश्वात्मनि, असति त्वयि कुतोऽहमपि तवास्मि। नाहं न वा किञ्चिदन्यदसति त्वयि। भुक्तत्वादयो या अप्यवस्थास्तुर्यादिपदव्यवहृता अन्या वा तास्ताः काश्चन सर्वाश्च ताः त्वत्प्रतिभासिता एव भान्ति त्वय्यवस्थातरि। स च भवान् मनाक् पश्यतु तत्रभवन्तं स्वात्मानं नित्यमेकरूपेण जडाद्विलक्षणतयाहमित्येवं निरवच्छिन्नं स्वरसतः स्फुरन्तम्।

आशङ्का—मुझसे भिन्न आप, मुझको अपने से भिन्न समझते हैं, जैसा कि मैं भी आपको अपने से भिन्न समझता हूँ। (तभी तो आप मुझे समझा रहे हैं और मैं आप से समझने आया हूँ।) तो मैं ही अकेला शिव हूँ—यह कैसे उपपन्न होगा ?

समाधान—उपर्युक्त कुतर्क नहीं करना चाहिये। क्योंकि—आप से ही प्रकाशित मैं भी आपको भासित हो रहा हूँ। जो भी अन्य वस्तु

कारण-कार्य-आदि विचित्र रूप से विभासमान है वह सब विश्वात्मरूप प्रकाश स्वरूप आपके रहने पर ही भासित हो रहा है। आपके बिना मैं भी तो आपका नहीं होता। न मैं होता हूँ, न अन्य ही कोई वस्तु होती है, आपके बिना।

मुक्ति आदि जो तुर्य, तुर्यातीत आदि अवस्थाएँ हैं अथवा अन्य सिद्धान्तों में जो सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य-प्रभृति अवस्थाएँ हैं; वे सब विभिन्न अवस्था वाले आपसे ही प्रतिभासित होने पर भासित अर्थात् अनुभवपथारूढ़ होती हैं।

वह आप जरा पूज्य स्वात्मा को देखें—जो जड-विलक्षण, नित्य, निरन्तर एक रूप से "अहम्-अहम्" अथवा "मैं-मैं" रूप में देदीप्यमान हैं।

विश्वात्मकं चेदं प्रतिभासमानं स्वरूपं न केनचित् परिच्छिन्नेन रूपेण-इदमित्थमित्यादिना प्रतिभाति। न चापि पुनः प्रतिप्रकाशते प्रतिभासमानवस्तूनां प्राणरूपत्वात् सकृत्-प्रकाशमानस्वरूपत्वाच्च। इति भवानेव निखिलावभासको विश्वरूपः शिवोऽहमात्मकः।

विश्वात्मक सदा प्रतिभासमान निजरूप, "यह है" "इस प्रकार से है" "ऐसा है"—इत्यादि परिच्छिन्न रूप से भासित और पुनः प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि स्वात्मा प्रतिभासमान वस्तुमात्र का प्राणस्वरूप और एक ही बार प्रकाशमान है। अतः आप ही निखिल विश्व के अवभासक विश्वरूप शिव अहम्-रूप से प्रकाशमान-शील हैं।

इत्थमिमां शिवात्मतां प्रत्यभिजानन्तोऽपश्यन् विगलित-शङ्काकलङ्का गुरवः, द्रक्ष्यन्ति च भवन्तोऽपि सुकृतिनः श्रीगुरु-कृपाप्रभाप्रध्वस्तध्वान्ता वयमिव सुस्पष्टम्प्रकाशाख्यस्वात्म महेश्वरादेव विश्वं निर्भासते। अत्रैव विश्रान्तं सदवभासते। एतदिच्छयैव च प्रकाशते। प्रकाशमानस्य विश्ववेद्यस्याह-मेवास्म्यात्मा। निर्भासमानेऽपि विश्वस्मिन्ननावृत एवाहमस्मि। स्वानधिकमपि विश्वं स्वेच्छयैवाधिकमिव प्रत्येमीत्यादि।

इसप्रकार एवं-विध शिवरूपता की प्रत्यभिज्ञा द्वारा शङ्का-कलङ्क-शून्य गुरुजनों ने देखा है और सुकृती आप भी श्रीगुरुकृपा से आणवादि-त्रिविध-मल-रूप अज्ञान विनष्ट हो जाने से हमारी तरह स्पष्टतया देखेंगे कि—"प्रकाशरूप स्वात्म-महेश्वर से ही विश्व निर्भासमान है, स्वात्म-महेश्वर में ही विद्यमान रहकर भासित हो रहा है और स्वेच्छा से ही प्रकाशित होता है। प्रकाशमान समस्त विश्व का मैं ही स्वात्मा हूँ। विश्व के प्रकाशमान होने पर भी मैं अनाच्छादित ही हूँ। अपने से भिन्न न होने पर भी स्वेच्छा से ही स्वातिरिक्त-सदृश समझता हूँ—इत्यादि"।

अपि च भावनां सत्त्वासत्त्वादिप्रतिष्ठा संविदमन्तरेणानुपपन्नेति संविद्विश्रान्तत्वमेवैषां तत एव च तदभिन्नप्रकाशमानत्वं—तदनतिरिक्तत्वेऽपि ततोऽतिरिच्यमानत्वं, स्वभावात् स्वातन्त्र्यादवभासते इत्यतः स्वातन्त्र्यवाद एव हृदयावर्जकः पन्था रहस्यत्वाद्गुप्तोऽपि गुरुभिः प्रकाश्यमानोऽविच्छिन्नः परमोपादेय इति।

आप यह भी देखेंगे कि—"पदार्थों का होना अथवा न होना संविद् (ज्ञान) विना अनुपपन्न है। अर्थात् जो व्यक्ति जिस वस्तु को जिस समय समझता है, उसे उस समय उस वस्तु का अस्तित्व होता है; अन्यथा नहीं। अतः वेद्य-मात्र संविदधीन हैं, संविद् से अभिन्न होकर ही भासित होते हैं और संविद् से भिन्न न होने पर भी स्वातन्त्र्य-द्वारा उससे पृथक् प्रकाशित होते हैं।" अतः स्वातन्त्र्यवाद ही हृदय को सन्तुष्ट करने वाला सन्मार्ग है। यह रहस्यमय होने से गुप्त होने पर भी श्रीगुरुजन से अनवरत प्रकाशित होने से अविच्छिन्न और परम उपादेय है—इति।

प्रारम्भे प्रतीयमानोप्ययं प्रभेदो न संविदभिन्नं प्रमातारं परं भेत्तुं समर्थः प्रकाशात्मिकायाः संविदः स्वरूपकृतस्य विषयकृतस्य वा भेदस्यानुपपत्तेः। स्वरूपकृतभेदाभ्युपगमेऽन्यतरस्या असंविद्रूपत्वापत्तावप्रकाशमानतापत्तेः। स्वतो भेदालम्बनसामर्थ्यशून्याश्चेमे विषयाः कथङ्कारं संविदं भेदयेयुः। संवेदनकृतभेदवद्भिरेभिः संविदं भिन्दतां वाचोयुक्तिपटूनां वल्गनं

सुस्पष्टमन्योन्याश्रयादिदोषजुष्टम् । अतश्च वेद्यवर्गः समस्तः प्रकाशाभिन्नसंविदात्मभवदभिन्नो भवन् भातीति विश्वं भातीति भवान् भाति भवान् भातीति विश्वं भातीत्यतः स्वात्मशिव-प्रकाशो विश्वप्रकाशः स्वरूप एवेतिन परमाद्वैतेऽस्मिन् द्वैतत्वेन विभातं किञ्चिदविद्यादिद्वैतं स्वीकृत्य निषेधं कुर्वाणानामद्वैतिनां फलतो द्वैतस्वीकार इव द्वैताङ्गीकारोस्ति लेशतोऽपि ।

अपने-आपको न जानने से प्रारम्भ में प्रतीत होने वाले अनन्त भेद, "हम संविद्-रूप पर प्रमाता हैं"—इसे भेदन करने में समर्थ नहीं है क्योकि संविद् में स्वरूप अथवा विषय द्वारा भेद उपपन्न नहीं हो सकता। तथाहि—स्वरूपतः अर्थात् एक संविद् से दूसरी संविद् भिन्न है—ऐसा स्वीकारने से किसी एक संविद् को प्रकाशभिन्न अर्थात् अप्रकाशरूप होने से प्रकाशमानता उपपन्न नहीं होगी। अतः संविद् में स्वरूपकृत भेद नहीं माना जा सकता। संविदों में विषयकृतभेद अर्थात् घटज्ञान से पटज्ञान भिन्नविषयक होने से भिन्न है—ऐसा नहीं स्वीकारा जा सकता। क्योंकि घट-पटादि विषय खुद को भी नहीं जानते, परस्पर भिन्न-समझने की सामर्थ्य से शून्य हैं तब भला, संविदों को परस्पर भिन्न कैसे कर सकते हैं ?

बहुत बोलने में चतुर कतिपय लोगों का यह कहना—"संविद् द्वारा परस्पर भेदित विषय संविदों के परस्पर भेदन में प्रयोजक हो सकते हैं— स्पष्ट रूप से अन्योन्याश्रय, चक्रक-आदि दोषों से दूषित है।

अतः समस्त वेद्य-पदार्थ, प्रकाशरूप संविद् से अभिन्न-आप से अभेद-रूपता को प्राप्त कर ही भासित होते हैं। इसलिये विश्व भासित है अर्थात् आप प्रकाशमान हैं और आप भासमान हैं अर्थात् विश्व भासित हो रहा है। इस प्रकार इस परमाद्वैतमत में लेश-मात्र भी द्वैत का अङ्गीकार नहीं किया गया है जैसा कि कुछ अन्य अद्वैती (वेदान्ती) लोग द्वैतरूप से अविद्यादि को स्वीकार कर ज्ञानादि द्वारा उसका निरोध मानने वाले अर्थतः द्वैत को स्वीकार लेते हैं।

अनुभवविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाच्च शब्दमात्रावलम्बिनो विवर्तपरिणाम-विमर्शविहीनस्वच्छसंवेदनप्रतिबिम्बवादादयो न

हृदयमावर्जयन्ति यतो निर्भास्य मानस्यासत्यत्वम् अनुभव-विरुद्धम् । अविद्या वैचित्र्यमाधत्ते इति व्याहतंवचः स्वयमिय-मनिर्वाच्या वराकी कथमाधत्तां वैचित्र्यम् ।

अनुभव विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने से शब्दमात्र का अवलम्बन करने वालों के विवर्तवाद, परिणामवाद और विमर्शविहीन स्वच्छ-संवेदन में प्रतिबिम्बवाद प्रभृति हृदयावर्जक नहीं हैं क्योंकि प्रकाशित वस्तुओं को असत्य कहना अनुभव-विरुद्ध है। अविद्या-शक्ति से असत्य ही सत्यरूप से भासित होता है अतः अविद्या ही वैचित्र्य का आधान करती है—ऐसा कहना स्पष्टतः "वदतो व्याघात" अर्थात् असंगत प्रलाप है। क्योंकि बेचारी अविद्या खुद ही अनिर्वचनीया है तब यह कैसे विचित्रता-सम्पादन कर सकती है।

यत्र च रूपान्तरं तिरोभवद्रूपान्तरं प्रादुर्भवति स परिणा-मोपि प्रकाशस्य तिरोभावे सर्वान्ध्यप्रसङ्गात् तस्य रूपान्तरा-भावाच्च प्रादुर्भवतोऽपि प्रकाशभिन्नस्याप्रकाशस्य प्रकाशमान-त्वायोगाच्च नानुभवपथमारोहति ।

जिस परिणामवादी सांख्य-मत में एक रूप तिरोभूत और दूसरा रूप प्रादुर्भूत होता रहता है। यथा—दूध से दही, मक्खन से घी आदि। यह परिणामवाद भी अनुभव में ठीक नहीं बैठता है क्योंकि प्रकाश के तिरोभूत हो जाने से सम्पूर्ण विश्व अन्धकारमय हो जायगा। प्रकाश का दूसरा रूप भी नहीं माना जा सकता। यदि "तुष्यतु दुर्जनन्याय" से मान भी लिया जाय तो प्रकाश से भिन्न अप्रकाश ही होगा फलतः वह प्रकाश-मान ही नहीं होगा। अतः परिणामवाद भी युक्तिसंगत नहीं।

स्वच्छसंवेदनपक्षोपि प्रतिबिम्बसमर्पकान्तरद्वितीयशङ्का-कलङ्कित एव ।

स्वच्छसंवेदनवाद में भी प्रतिबिम्ब-समर्पक बिम्ब का अभ्युपगम अपेक्षित है। फलतः संवेदन-प्रतिबिम्बवाद भी बिम्बरूप द्वितीय की शङ्का-रूप कलङ्क से दूषित ही है।

स्वातन्त्र्यवादे परमेश्वराभिन्ना पारमेश्वरी शक्तिरेव स्वातन्त्र्य-विमर्शादिनामाभिधेया सर्वं प्रकाशयति स्थापयति

विलापयति स्वस्मिन्नेवेति न किञ्चनाप्यप्रातीतिकं भवति । अतः स्वस्मिन् स्वशक्त्यैव विभासमानमिदं विश्वं विभातीति भवानेव भगवानखिलविमर्शकः शिव इति शम् ।

इस स्वातन्त्र्य-वाद में तो आत्मस्वरूप परमेश्वर से अभिन्न पारमेश्वरी शक्ति है। यह स्वातन्त्र्य, विमर्श आदि नामों से भी जानी जाती है। यही शक्ति समस्त वस्तु को अपने में प्रकाशित, स्थापित और विलीन करती है। अतः कुछ भी अप्रातीतिक (प्रतीति में नहीं बैठने वाली) नहीं है। अतः अपने में ही अपनी शक्ति से प्रकाशमान यह संसार भासित हो रहा है। इस प्रकार अखिल-वस्तु का विमर्श करने वाले आप ही भगवान् शिव हैं—इति शम्।

न निन्दामि न च स्तौमि न करोम्यपि किञ्चन ।
कुर्वंस्त्वत्प्रेरितो वेद्मि त्वत्कृतिर्मे कृतिर्ननु ॥१॥

मैं न निन्दा करता, न स्तुति करता, न तो अन्य ही कुछ करता हूँ। तुमसे प्रेरित होकर करता हुआ मैं दृढ़रूप से समझता हूँ कि तुम्हारी कृति ही मेरी कृति है अथवा मेरी कृति ही तुम्हारी कृति है।

भोलामिश्रात्मजो विद्यानाथोऽभिज्ञोभवद् यथा ।
शिष्योऽनेन तथा सर्वः प्रियः प्राप्नोत्वभिज्ञताम् ॥२॥

इस "मितञ्च-सारञ्च" से मेरे शिष्य, श्रीभोला मिश्र के आत्मज, विद्यानाथ मिश्र जैसे स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा प्राप्त किये, वैसे ही इससे समस्त सहृदय पाठक निज-पूर्णता को प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करें अर्थात् मैं ही शिव हूँ—ऐसा जानें।

धीमन्तं कृष्णकान्तं तं सुहृदं संस्मराम्यहम् ।
घटितोऽर्थप्रदो येन श्रीजयदेवसंस्तवः ॥३॥

बुद्धिमान् पण्डित श्री कृष्णकान्त झा, जो मेरे मित्र हैं और जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने हेतु "श्री जयदेव ठाकर" से अर्थप्रद परिचय कराया—उनका स्मरण करता हूँ।

इति रामेश्वरस्य ।

उपर्युक्त 'मितञ्च सारञ्च" शीर्षक संक्षिप्त सार तत्त्व ग्रन्थकार आचार्य-श्री रामेश्वर झा जी ने स्वयं प्रतिपादित किया है।

विषयानुक्रमणिका

उपायतामुपगते विश्वस्मिन् भावमण्डले ।
अयं हि प्रथमोपाय इति वादकता कथम् ॥१॥

जहाँ सम्पूर्ण-विश्व = पदार्थ-समूह उपायरूप में स्वीकृत है वहाँ कैसे कहा जा सकता कि "यह प्रथम उयाय है" ॥१॥

सर्वं यत्रास्ति सर्वत्र सर्वं सच्चैकमेव यत् ।
तस्मिन्नस्मिन्ननेकस्मिन्नेकस्मिन् वा क्रमः कुतः ॥२॥

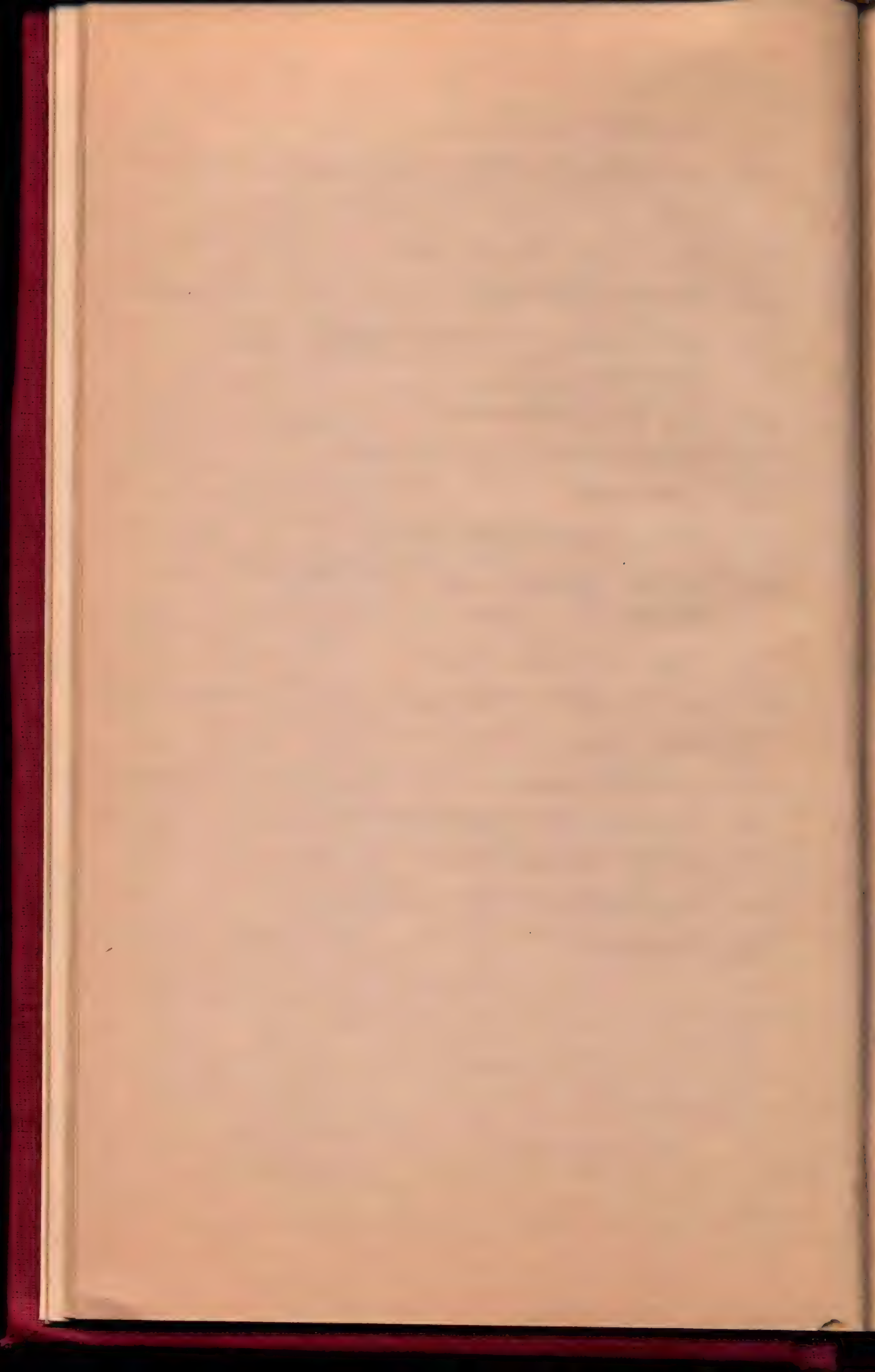
जिसमें सर्वत्र सब कुछ हैं और सब कुछ होता हुआ भी जो एक ही है उस एक या अनेक में क्रम कैसे हो सकता है ॥२॥

सर्वथैवाक्रमेऽप्यस्मिन् क्रमो नास्त्येव न यतः ।
ऋते क्रमावभासन्तु सिद्ध्येदक्रमतापि न ॥३॥

सर्वथा अक्रम स्वात्मा में "क्रम है ही नहीं"—ऐसा नहीं अर्थात् क्रम का अभाव भी नहीं है। क्योंकि क्रम-अवभासन (संसार) विना अक्रमता की भी सिद्धि (जानकारी) नहीं हो सकती ॥३॥

आशय यह है—संसार में रहकर ही अक्रम अद्वैत स्व-स्वरूप को समझा जा सकता है। अन्यथा कौन समझेगा ? कैसे समझेगा ?

अतएव देवता लोग भी अपने को समझने हेतु मृत्यु-भुवन में ही आने की इच्छा करते हैं—ऐसा पुराणों में वर्णित है।



प्रक्रिया-विमर्शने

पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा

स्वात्ममहेश्वरसमावेशः

अनुत्तरं परं देवं स्वतन्त्रं चिन्मयाद्वयम् ।
निराशंसं निजानन्दं वन्दे स्वात्ममहेश्वरम् ।।१।।

स्वात्मस्वरूप महेश्वर में समावेश का अभिधान

मैं—अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) स्वतन्त्र, चिन्मय, अद्वितीय, आशंसा (इच्छा) रहित, निजानन्दरूप परम देव स्वात्म-महेश्वर की वन्दना करता हूँ—अर्थात् तद्रूप हो रहा हूँ ।। १ ।।

शैव-शास्त्र में "नमः" "जयति" "वन्दे" इत्यादि पदों का अर्थ— "तद्रूप-समावेश" ही होता है ।

उपायोपेयादीनां स्वात्मस्वरूपाभिमर्शनम् ।

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मात्ररूप एव महेश्वरः ।
उपायोपेयरूपेण स्फुरन् भामि स्वतेजसा ।।२।।

उपाय, उपेय प्रभृति का स्वात्मरूपतया परामर्शन

स्वच्छ, स्वतन्त्र, चिन्मात्ररूप मैं ही महेश्वर स्वतेज (स्वशक्ति) द्वारा उपाय एवं उपेय दोनों रूप से स्फुरित होता हुआ भासित हो रहा हूँ ।।२।।

शिवसामरस्यापन्नशक्तिस्मरणम्

यत्कटाक्षविलासेन शिवतामेति वै शवः ।
नौमि तां परमामाद्यां सतः शक्तिं शिवात्मिकाम् ।।३।।

जिसके कटाक्ष के विलास-मात्र (उन्मेषावस्था) से "शव"— "परमशिवता" को प्राप्त करता है उस शिवस्वरूपा, आद्या सत् (शिव) की अर्थात् अपनी ही **"परमशक्ति"** को प्रणाम करता हूँ ।। ३ ।।

स्वातन्त्र्याख्ययेच्छाशक्त्या शैवागमसारसङ्ग्रहः

स्वरूपमनुगामिन्या विलसद्विश्वरूपया ।
शिवोऽपि समतामेति पशुतां वा ययेच्छया ॥४॥
तयैव भुवनेश्वर्या प्रेरितेन मया पुनः ।
दर्श्यते शैवशास्त्राणां सारः सन्तापशान्तये ॥५॥

स्वातन्त्र्य संज्ञक "इच्छा-शक्ति" द्वारा
शैवागम-सार के सङ्ग्रह में ग्रन्थकार की प्रवृत्ति

स्वरूप का अनुगमन करने वाली जिस **इच्छा शक्ति** द्वारा शिव भी समता (परमशिवता) को प्राप्त करता है तथा विश्वरूप से विलास करने वाली जिस इच्छा शक्ति द्वारा वही शिव "पशुता" (जीवरूपता) को प्राप्त करता है; उसी भुवनेश्वरी (इच्छा शक्ति) से प्रेरित होकर मैं (ग्रन्थकार) संताप-शान्ति हेतु पुनः शैव शास्त्रों के सारांश का निरूपण करता हूँ ॥ ४-५ ॥

श्रीगुरुशक्तेरद्भुतत्वाभिमर्शनम्

श्रीगुरुपदनखजन्मा जन्मान्धस्यापि प्रकाशयन्नर्थान् ।
स जयति कोऽपि विकासः प्रकाशमानोऽनवच्छिन्नः ॥६॥

१२वें श्लोक तक श्रीगुरु की अद्भुत (अनुभवगम्य) शक्ति का अवमर्शन किया गया है—

श्रीगुरु के पदनख से उत्पन्न होनेवाला, जन्मान्ध (स्वात्मज्ञानशून्य) को भी अर्थों का बोध कराता हुआ, प्रकाशमान, अवच्छेदवर्जित, (अपरिच्छिन्न) उत्कृष्ट अतएव अद्भुत "विकास" सर्वोत्कर्षेण विद्यमान है ॥६॥

गुरुदेवे गिरातीते गम्भीरे गतलक्षणे ।
कथं गिरा परिच्छिन्नवाचिकेयं प्रवर्तताम् ॥७॥

वाणी से अतीत, गम्भीर, लक्षण से रहित गुरुदेव के वर्णन में—परिच्छिन्न वस्तु-मात्र का अभिधान करने वाली "वाणी" भला कैसे प्रवृत्त हो सकती है ?

अप्यणुं शिवयन्तीयं धन्या कापि कृपामयी ।
गिरा पुनर्गुरोरेव वर्ण्यंतेऽपि गुरुर्यया ॥८॥

अणु (जीव) को भी "शिव" रूपता की प्रत्यभिज्ञा कराने वाली कृपामयी गुरु की विलक्षण वाणी ही "धन्य" है, जिसके द्वारा "गुरु" भी वर्णित हो जाते हैं ।

गुरुशक्तिर्जयत्येका मद्रूपप्रविकासिका ।
स्वरूपगोपनव्यग्रा शिवशक्तिर्जिता यया ॥

मेरे स्वरूप का प्रकाशन करने वाली, एकमात्र "गुरुशक्ति" ही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है, तब तो स्वरूप-गोपन हेतु व्यग्र (छटपटाती हुई) शिवशक्ति (माया) भी इससे पराजित हो गई है ॥९॥

नौमि तां जयतात् सैव यया साक्षात्कृता मया ।
शिवैक्याख्यातिसंसारावस्थापीयं शिवात्मिका ॥१०॥

मैं उसी गुरुशक्ति को नमन करता हूँ, तथा उसी की जयकार मनाता हूँ, जिसके द्वारा मैंने यह प्रत्यक्षरूप से देखा कि शिव से भिन्नतया प्रतीत होने वाली यह संसारावस्था भी "शिवावस्था" ही है ॥१०॥

अस्त्यस्मिन् महसां महानिधिरसौ देवोविवस्वान् महान्
यस्मिञ्जाग्रति जाग्रतीव रजनोसुप्ता इमे जन्मिनः ।
किन्त्वेका महती ततो विजयते श्रीदैशिकाङ्घ्रिद्युति-
र्यद्भासाच्छुरितं चिरन्तनतमो हित्वैव जागर्ति सत् ॥११॥

इस संसार में तेज की सबसे बड़ी निधि भगवान् सूर्य हैं, जिनके उदित होते ही रात में सोये हुए समस्त प्राणी जग से जाते हैं (क्योंकि पुनः सो ही जाया करते हैं) ।

किन्तु इस महान् तेजस्वी से भी महत्त्वपूर्ण श्रीगुरु के पदसरोज की "कान्ति" विराजमान है, जिसके प्रकाश से आच्छुरित चिरन्तन (अनादि) तम (अज्ञान) को छोड़कर "सत्स्वरूप" (नित्य आत्मा) सदा के लिए जग जाता है ॥११॥

भेदाभेदमयी दृष्टिर्विद्याविद्यामयी प्रथा ।
नौमि तां श्रीगुरोर्मूर्त्ति स्वोर्मिरेव यया कृता ।।१२।।

मैं उस गुरुमूर्ति को नमस्कार करता हूँ, जिसने भेद-अभेद दृष्टि को तथा विद्या-अविद्या की प्रथा (प्रतिभास) को अपना ही तरङ्ग बना दिया है ।।१२।।

शिवस्य दासत्वमुपागतोऽयं निवृत्ततर्षः परिपूर्णकामः ।
प्रवर्तते लोकहिताभिलाषिस्वातन्त्र्यशक्त्यैव नियुज्यमानः ।।१३।।

शिव की दासता को प्राप्त कर यह जन (मैं) सब अभिलाषाओं से रहित तथा समस्त कामनाओं से परिपूर्ण होता हुआ भी लोगों का हित चाहनेवाली स्वातन्त्र्य-शक्ति से नियोजित होकर प्रस्तुत-ग्रन्थ-लेखन में प्रवृत्त हो रहा है ।। १३ ।।

अध्ययनज्ञानादिपूर्वकं स्वस्मिन् पूर्णताप्रत्यभिज्ञायाः तदुपायभूततदाख्यग्रन्थस्य च हृत्स्थत्वप्रतिपादनम्

प्राधीतास्ताश्च विद्या ऋषिमुनिगुरुभीरक्षिता याः प्रयत्नैः
प्राप्तं पीतं च पूर्णं गुरुमुखसुलभं ब्रह्म, विद्यामृतं यत् ।
किन्त्वेषा कापि रम्या सम्रसरसिका मोक्षयन्ती च भोगान्
शक्तिः स्वीया स्वतन्त्रा विलसति हृदये पूर्णताप्रत्यभिज्ञा ।।१४।।

ग्रन्थकार की अध्ययनज्ञानादिपूर्वक पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा तथा "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" नामक तदुपायभूत ग्रन्थ की हृदयनिष्ठता का अभिधान—

जो विद्यायें आज तक ऋषि, मुनि एवं गुरुजनों द्वारा प्रयत्नपूर्वक रक्षित हैं, उन विद्याओं का अध्ययन मैंने भलीभाँति किया और विद्याओं का अमृत = ब्रह्म, जो गुरुमुख से ही सुलभ है, उसे प्राप्त कर पूर्णतः पान-भी किया—परन्तु भोगों को भी मोक्ष बनाती हुई समरसमयी, अनिर्वचनीय एवं रमणीय अपनी ही स्वातन्त्र्य-शक्ति पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा रूप से तथा पूर्णताप्रत्यभिज्ञानामक पुस्तकरूपेण हृदय में नृत्य कर रही है ।। १४ ।।

शैवागमस्य पूर्णताप्रत्यभिज्ञात्मत्वख्यापनम्

संवित्स्वभावः किल शैव आगमः
स्पन्दत्वमाप्तो वसुगुप्तमागतः ।
सा प्रत्यभिज्ञाभिनवार्चितौत्पली
पूर्णत्वमाप्ता समुपेत्य मामपि ।।१५।।

शैवागम की पूर्णताप्रत्यभिज्ञा-रूपता का अभिधान—

प्रथमतः शैव आगम संवित्स्वभाव ही था। अर्थात् गुरु के उपदेश-मात्र से शिष्यों को प्राप्त होता था। तदनन्तर वसुगुप्त को प्राप्त कर वह आगम (ज्ञान) "स्पन्दकारिका" ग्रंथ-रूप से अवतीर्ण हुआ। तत्पश्चात् वही ज्ञान आचार्य उत्पल देवरचित "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" ग्रंथ द्वारा प्रगट हुआ, जिसकी व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने की थी। तदनन्तर वही ज्ञान मेरे (ग्रंथकार के) "पूर्णता प्रत्यभिज्ञा" ग्रंथ से प्रकाशित हो रहा है।

मूल में ज्ञान शान्त-स्पन्द था, तत्पश्चात् वसुगुप्ताचार्य को प्राप्त कर वह सस्पन्द अर्थात् सविमर्श हो गया। तदनन्तर उत्पलदेवाचार्य एवं उनके प्रशिष्य आचार्य अभिवन गुप्त तक उन्मिषित पुष्पित "प्रत्यभिज्ञा" रूप में रहा। सम्प्रति वही ज्ञान मुझ (ग्रंथकार) को पाकर पूर्णता को प्राप्त कर लिया है।

अध्येतॄणां विज्ञत्वप्रत्यभिज्ञापनम्

सारासारविवेकबुद्धिविकलो लोको वराको ह्ययं
स्पन्दस्यूतपरामृतस्य वचसो जानातु तत्त्वं कथम् ।
किन्त्वेतस्य मदीयदिव्यवचसो वाच्यं किमप्यद्भुतं
पूतप्रेमपरामृतैकरसिको जानाति विज्ञो भवान् ।।१६।।

अध्येताओं को "विज्ञता" की प्रत्यभिज्ञा करायी गई है—

सार तथा असार का विवेचन करने वाली बुद्धि-कला से विहीन ये बेचारे साधारण लोग स्पन्दरूप थैला में निहित परावाणी रूप परम अमृतमय तत्त्व को भला कैसे समझ सकते हैं? मेरे इस दिव्यवाणी के विलक्षण अर्थ को तो पूत प्रेम (आत्मप्रेम) रूप परामृत के एकमात्र रसिक विज्ञ आप (पाठक) जानते ही हैं ।।१६।।

अनुत्तराख्यशिवस्य महामन्त्रमय्यया शक्त्या नित्यसृष्टियुक्तत्वाभिधानम्

परवाङ्मयमन्त्रात्मवीर्यसर्गमयः शिवः ।
स्ववीर्यघनतारूपेदन्तास्फुरणरूपया ॥१७॥
युज्यते सततं सृष्ट्या स्वीयशक्तिविसृष्टया ।
अदेशकालकलितस्पन्दात्मानुत्तराभिधः ॥१८॥

महामन्त्रमयी शक्तिद्वारा अनुत्तर शिव की नित्य सृष्टि-युक्तता का कथन

परावाणी से अभिन्न मन्त्ररूप वीर्य से सृष्टिमय, देश तथा काल से अकलित, स्पन्दरूप अनुत्तरसंज्ञक शिव—अपनी शक्ति से निकली हुई अपने वीर्य की सघनता से अभिन्न इदन्तास्फुरण स्वरूप सृष्टि से सदैव युक्त है ॥ १७-१८ ।

वक्तव्यं किमु तत्र यत्र भगवान् वेत्तैव वेद्यो भवञ्-
शक्तिं स्वामहमात्मिकां भगवतीं पश्यन् स्वयं मुह्यति ।
पुंस्त्वस्त्रीत्वविकल्पनां सुघटयन् भोक्तैव भोग्योपि स-
न्नच्छन्नोपि विभाति विश्वविभवः स्वच्छन्दया स्वेच्छया ॥१९॥

वहाँ क्या कहना, जहाँ ज्ञाता भगवान् ही ज्ञेय-वस्तु बनता हुआ अपनी अहं स्वरूप भगवती "शक्ति" को देखता हुआ स्वयं ही मोहित होता है; लिङ्गभेद की कल्पना करता हुआ भोक्ता ही भोग्य बन जाता है तथा अनवच्छिन्न प्रकाशमान—अपनी स्वच्छन्द इच्छा से विश्व वैभव सम्पन्न होकर भासित हो रहा है ॥ १९ ॥

प्रकाशाख्यशिवस्य सर्वभावस्वभावत्वम्

प्रकाश एव भावानां स्वभावः सर्वसम्मतः ।
स एव शिवशास्त्रेऽस्मिन्नुपादेयः परो मतः ॥२०॥
अप्रकाशं च यत्किञ्चित् स्वयं न प्रथते हि तत् ।
स्वभावत्वं कुतस्तस्य वस्तुतत्त्वमवस्तुनः ॥२१॥
अभावः शून्यमेवाथ यदन्यदपि किञ्चन ।
प्रकाशते न तत्सर्वं प्रकाशात्मतया विना ॥२२॥

प्रकाश शब्द वाच्य शिव की सकलभावरूपता का अभिधान

समस्त पदार्थों का स्वभाव अर्थात् स्वत्व (मूल) प्रकाश (चेतन) ही है—यह सर्वसम्मत है। वही प्रकाश शिव शास्त्र (शैवागम) में परम उपादेय है। प्रकाश से भिन्न जो कुछ भी है वह स्वयं ही प्रथित (प्रकाशित) नहीं है फिर तो जो अवस्तु है वह वस्तुतत्त्व अर्थात् स्वभाव (मूल) कैसे हो सकता है। अभाव, शून्य अथवा अन्य कोई भी वस्तु प्रकाशरूपता को प्राप्त हुए विना प्रकाशित नहीं हो पाता ॥ २०-२२ ॥

प्रकाशस्यैकत्वाभिधानपूर्वकं सर्वस्य प्रकाशात्मत्वव्यवस्थापनम्

घटाद्याकारभेदेन मृदादेर्भिन्नता यथा।
न तथास्ति प्रकाशस्य तद्भेदानुपलब्धितः ॥२३॥
स च प्रकाशो नानेक एक एव यतः किल।
प्रकाशादितरस्तस्य स्वभावो नोपपद्यते ॥२४॥
भावाभावस्वरूपस्य विश्वस्य जगतः किल।
आत्मा स्वभावश्चैतन्यं तद्भिन्नं नहि किञ्चन ॥२५॥
नाचेत्यमानः कस्यापि स्वभावः कोपि कुत्रचित्।
चेत्यमानः प्रकाशात्मा चिदेवान्यो न कश्चन ॥२६॥

प्रकाश का एकता-प्रतिपादन-पुरःसर समस्त भावों की प्रकाशात्मता का व्यवस्थापन

जिस प्रकार घड़ा, दियाला आदि आकार के भेद से मृद् (मिट्टी) आदि की भिन्नता होती है, उस प्रकार प्रकाश की भिन्नता नहीं होती क्योंकि प्रकाश का भेद उपलब्ध नहीं होता।

वह प्रकाश अनेक नहीं है अपि तु एक ही है। अत एव प्रकाश से अतिरिक्त उस (प्रकाश) का स्वभाव उपपन्न नहीं होता।

भावात्मक तथा अभावात्मक समस्त संसार की आत्मा = जीवन अर्थात् स्वभाव चेतन ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं।

कहीं भी किसी भी वस्तु का अचेत्यमान (अज्ञात) स्वभाव कुछ हो ही नहीं सकता। चेत्यमान (ज्ञात) अर्थात् ज्ञान का विषय तो प्रकाश-स्वरूप चेतन ही है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २३-२६ ॥

सर्वस्य प्रकाशात्मकत्वे पूर्वाचार्यसमर्थनम्

तदुक्तं परमेशेन श्रीमदुच्चघुष्म भैरवे ।
यावन्न वेदका एते तावद् वेद्याः कथं प्रिये ॥२७॥
स्पन्दशास्त्रेऽपि सम्प्रोक्तं वसुगुप्तमहात्मना ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥२८॥

समस्त भावों की प्रकाशात्मता में पूर्वाचार्यों के समर्थन का अभिधान

अत एव परमेश (शंकर) श्री "उच्छुष्म भैरव" नामक आगम में पार्वती से कहे हैं—हे प्रिये ! जब तक ये पदार्थ वेदक (ज्ञाता) नहीं होंगें तब तक वेद्य (ज्ञेय) हो ही नहीं सकते ।

"स्पन्दशास्त्र" में भी महात्मा वसुगुप्त ने कहा है—भोक्ता ही भोग्य रूप से सदा सब जगह स्थित है ।

देशकालयोः संविद्भेदकत्वाभावः

देशकालौ न चैवास्य भेदकौ भवितुं क्षमौ ।
स्वप्रथां प्राप्नुतो यस्मादस्मादेवापि तावुभौ ॥२९॥
क्रमाक्रमकथातीते स्वस्मिन् सन्ति न तत्त्वतः ।
सदा-यदा-तदेत्यादि-कालकेलिविकल्पनाः ॥३०॥
न च कालकलाभिः स स्पृश्यते परमेश्वरः ।
न हि तासां स्वतन्त्रास्ति स्थितिस्तत्कल्पनां विना ॥३१॥

देश तथा काल "संविद्" के भेदक नहीं हो सकते ।

देश तथा काल प्रकाशरूप "संविद्" के भेदक नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों इस प्रकाश से ही अपनी प्रथा (सत्ता) को प्राप्त करते हैं ।

क्रम तथा अक्रम की कथा से नितान्त रहित स्वरूपभूत प्रकाश में सदा, यदा, तदा—इत्यादि काल की विकल्पनायें नहीं हैं ।

वह प्रकाशरूप परमेश्वर काल-कलाओं से अछूता है । इस प्रकाश रूप स्वात्मा की कल्पना के विना काल-कलाओं की स्वतन्त्र स्थिति भी नहीं है ।

भला ऐसी स्थिति में काल किस प्रकार प्रकाश का भेदन कर सकता है ॥ २९-३१ ॥

प्रकाशसंविदोरभेदः —

सैव सर्वेषु शास्त्रेषु संविदित्यभिधीयते ।
अर्थप्रकाशरूपा हि संवित् सर्वस्य सम्मता ॥३२॥

प्रकाश तथा संविद के अभेद का अभिधान ।

यह प्रकाश ही समस्त शास्त्रों में "संविद्" शब्द से कहा जाता है । अर्थ प्रकाश को ही समस्त शास्त्रकारों ने "संविद्" कहा है ।

स्वसंवेदनशब्दार्थः

स्वप्रकाशात्मिकायेयं संवित्तिः पारमार्थिकी ।
तत्स्वसंवेदनं प्रोक्तं यतो विश्वव्यवस्थितिः ॥३३॥

"स्वसंवेदन" शब्द के अर्थ का कथन—

स्वप्रकाश (अपने आपका प्रकाश) जो वास्तविक संवित्ति है तथा जिसके द्वारा समस्त विश्व की व्यवस्था हो रही है वह "स्वसंवेदन" कहलाता है ॥३३॥

प्रकाशेऽपारतन्त्र्यप्रकाशनम्

परप्रकाश्यतैवास्ति पारतन्त्र्यस्य लक्षणम् ।
तदभावात् प्रकाशस्य पारतन्त्र्यं न सिद्ध्यति ॥३४॥
प्रकाशः स्वप्रकाशार्थं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ।
अपेक्षते न चैवास्ति प्रकाशान्तरमेव च ॥३५॥

प्रकाश के अन्यानपेक्ष प्रकाशन का कथन

दूसरे से प्रकाशित होना ही परतन्त्र का लक्षण है । प्रकाश किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित होता नहीं, अतः प्रकाश में परतन्त्रता सिद्ध नहीं होती है ।

प्रकाश अपने प्रकाशन हेतु अपने से अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करता । वस्तुतः अन्य प्रकाश है भी कहाँ ? जिसकी अपेक्षा की जा सके ?

प्रकाशस्वभावाभिधानम्

इति स्वतन्त्र एवैकः प्रकाशः परमार्थतः ।
सर्वाकारनिराकारस्वभावः स विराजते ॥३६॥
देशकालाद्यवच्छेदविरहाद् व्यापको हि सः ।
आद्यन्तरहितो नित्यो विश्वाकृतिरनाकृतिः ॥३७॥

प्रकाश के स्वभाव का अभिधान

अतः परमार्थतः स्वातन्त्र्य-शक्ति से युक्त एक प्रकाश ही विश्वाकार एवं निराकार स्वभाव वाला विराजमान है।

वह प्रकाश देश तथा काल के अवच्छेदन (संकोच) से वर्जित होने के कारण व्यापक, आदि तथा अन्त से रहित होने से नित्य एवं विश्वाकृति होने से अनाकृति है।

संविदः प्रमाणानपेक्षित्वम्, नियताकृतिदेशराहित्यं च

प्रमायां न प्रवर्तन्ते मानानि यदुपेक्षया ।
किं प्रमाणं भवेत् तत्र मानप्राणान् वितन्वति ॥३८॥
सर्वावभासकस्यास्य परापेक्षा न विद्यते ।
निरपेक्षोऽस्त्यतः पूर्णः स्वतन्त्रः सर्वभासकः ॥३९॥
न नियताकृतिस्तस्य देशो न नियतः प्रभोः ।
यतो हि विश्वरूपत्वे नैयत्यं प्रतिबन्धकम् ॥४०॥

संविद् में प्रमाणनिरपेक्षता एवं नियत देश और नियत आकार के अभाव का कथन

जिस प्रकाशरूप "संविद्" से उपेक्षित होने पर प्रमाणों की प्रवृत्ति प्रमा (यथार्थज्ञान) रूप कार्य में नहीं हो पाती; भला प्रमाणों को अनुप्राणित करने वाले उस संविद् में अन्य क्या प्रमाण हो सकता है ?

समस्त विश्व का प्रकाशन करने वाले इस "संविद्" को अन्य की अपेक्षा नहीं है। अत एव निरपेक्ष संविद्रूप प्रकाश पूर्ण, स्वतन्त्र एवं सबका प्रकाशक है। प्रकाशरूप प्रभु का नियत आकार तथा नियत देश नहीं है क्योंकि नियतरूपता विश्वरूपता में प्रतिबन्धक होती है ॥ ३८-४० ॥

इदमोऽपि प्रकाशात्मत्वव्यवस्थापनम्

ननु तावदिदम्भावः प्रकाशाद् भिन्न एव हि ।
भातीवेति कथं सर्वं प्रकाशात्मव्यवस्थितम् ॥४१॥
हन्तेदमोऽप्रकाशात्वमिष्टं यस्य तु तस्य ते ।
अश्वेतः श्वेतते कश्चिदप्रकाशः प्रकाशताम् ॥४२॥
यदि भावोऽप्रकाशात्मा प्रकाशीभावमागतः ।
तर्हि स्वरूपसंलोपान्न स भावः प्रकाशितः ॥४३॥
तस्मात् प्रकाश एवायं गीतो यः परमः शिवः ।
स एवाचिन्त्यविभवः स्वातन्त्र्यरसनिर्भरः ॥४४॥
तैस्तैः स्वभावभूतैस्तु भावैर्भाति तथा तथा ।
विश्वभावस्वरूपोऽपि तिष्ठत्येवाच्युतस्थितिः ॥४५॥

इदमर्थ की प्रकाशरूपता का उपपादन

शङ्का—इदम् (यह है) रूप से प्रतीत होने वाले पदार्थ, प्रकाश-स्वरूप स्वात्मा से भिन्नतया भासित-सा होते हैं—तब, "सब कुछ प्रकाश ही है" यह कैसे समझा जा सकता है ?

समाधान—हन्त (ओफ !) इन्दन्तया प्रतीत होने वाले पदार्थों की अप्रकाशरूपता का अङ्गीकार करने वाले तेरे मत से अश्वेत (काला) भी श्वेत (सफेद) हो रहा है अतः अप्रकाश भी प्रकाशित होवे ।

किन्तु यदि भावजात अप्रकाश-रूप है और वह प्रकाशित होता है, तब तो पदार्थों के स्वरूप के लुप्त हो जाने से वह प्रकाशित ही नहीं हुआ ।

अतः यह प्रकाश ही, जो "परमशिव" शब्द से कहा जाता है; वह स्वातन्त्र्यरस से परिपूर्ण, अचिन्त्यवैभवशाली है और स्वरूपभूत पदार्थ-रूप से भासित हो रहा है । वह प्रकाश समस्त भाव रूप होने पर भी सदा अपने स्वरूप में ही बना रहता है ॥ ४१-४५ ॥

अध्येतॄणां शिवात्मत्वप्रत्यभिज्ञापनम्

अहमेव प्रकाशोऽस्मि नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यच्च प्रकाशते विश्वं प्रकाशोऽहं तदेव हि ॥४६॥

यस्य संविदि सर्वोऽयं भाववर्गोऽवभासते ।
प्रतिबिम्बतया सोऽपि शिवः सर्वेश्वरो भवान् ॥४७॥

अध्येताओं को शिवरूपता की प्रत्यभिज्ञा करायी गई है

मैं स्वयं ही वह प्रकाश हूँ, उस से भिन्न नहीं हूँ। जो कुछ संसार रूप से प्रकाशित है वह मैं स्वयं प्रकाशित हो रहा हूँ। ये सारे पदार्थ जिसके "संविद्" में प्रतिबिम्ब रूप से भासित हो रहे हैं; वह सर्वेश्वर शिव भी स्वयं आप ही हैं ॥ ४६-४७ ॥

शिव एवाणुत्वापन्नः सन् क्रीडति

किन्तु स्वस्यैव स्वातन्त्र्यान्मायाशक्त्या विमोहितः ।
पूर्णोऽप्यणुत्वमापन्नः क्रीडतीव स्वयं प्रभुः ॥४८॥

शिव ही अणुरूपता को प्राप्त कर क्रीडा करता है ।

किन्तु शिवस्वरूप प्रभु अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से माया के द्वारा मोहित होकर पूर्ण होता हुआ भी अणु (जीव) रूपता को प्राप्त कर (अपूर्ण बन कर)क्रीडा जैसा कर रहा है ।

शिवस्य सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वम्

अतः सृष्टिः स्थितिर्ध्वंसस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः ।
इति पञ्चसु कर्तृत्वमावहञ्छिव उच्यते ॥४९॥

शिव की सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्य की कर्तृता का कथन

इसीलिये प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ही सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह (तिरोभाव) तथा अनुग्रह इन पाँच कार्यो को सम्पादित करता हुआ शिव कहलाता है ॥ ४९ ॥

षड्वस्तुरूपत्वमप्यस्यैव

बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ ।
षड्वस्तुत्वमप्यस्य प्रोक्तं दीक्षोत्तरादिके ॥५०॥

शिव की ही षड्रूपता का अभिधान

दीक्षोत्तरादिक ग्रन्थ में (दीक्षा आदि के लिये) शिव को छः प्रकार के वस्तु रूप कहा गया है। वे छः रूप हैं—बिन्दु, नाद, व्योम, मन्त्र, भूवन और विग्रह ॥ ५० ॥

शिवाभिन्नशक्तिचक्रात्मकत्वं विश्वस्य

ग्राह्यग्रहीतृग्रहणस्वरूपं
यद्भाति विश्वं विततं विचित्रम् ।
तच्छक्तिचक्रात्मकमेव सर्वं
शिवाद् विभिन्नं नहि किञ्चिदस्ति ।।५१।।

विश्व की शिव से अभिन्न "शक्तिचक्ररूपता" का कथन

ग्राह्य (पदार्थ) ग्रहीता (प्रमाता) और ग्रहण (इन्द्रिय) स्वरूप जो यह विचित्र संसार विस्तृत है; वह केवल शक्ति-समूह ही है। अतः सब कुछ शिव ही है। शिव से अलग कुछ भी नहीं है ॥ ५१ ॥

"शिव और शक्ति में नाम का ही भेद है"

चिदादिपञ्चशक्तिस्वरूपाभिधानम्

स्वातन्त्र्यशक्तिः प्रथमा तदीया
ह्यानन्दरूपेण विभासमाना ।
इच्छा द्वितीयास्ति चमत्कृतिर्या
चिच्छक्तिरेतस्य प्रकाशतैव ।।५२।।

आमर्शरूपापि च ज्ञानशक्तिः
क्रियापि सर्वाकृतिरूपतैव ।
स्थिता प्रभोः सूक्ष्मतया परायाम्
अन्यत्र चाप्यक्रमशः स्फुरन्ती ।।५३।।

इत्येवं शक्तिभिर्युक्तः पञ्चभिः परमेश्वरः ।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्त्यैवास्ति युक्तः स वस्तुतः ।।५४।।

पाँच शक्तियों के स्वरूप का अभिधान

प्रभु की आनन्द रूप से भासित होने वाली स्वातन्त्र्य-शक्ति पहली है। चमत्कृति रूपा इच्छा दूसरी शक्ति है। प्रकाशरूपता चित् शक्ति तीसरी है। चौथी आमर्शन (विमर्श) रूपा ज्ञानशक्ति है तथा सर्वाकार रूपता पाँचवीं क्रियाशक्ति है।

"प्रभु" की ये पाँचों शक्तियाँ परावस्था में सूक्ष्मरूपता से तथा अन्यत्र क्रम रहित स्फुरित होती रहती है।

इस प्रकार परमेश्वर यद्यपि पाँच शक्तियों से युक्तहै तथापि परमार्थतः शक्ति त्रितय—इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से ही युक्त है ॥ ५२-५४ ॥

इच्छादिशक्तेः परात्मकत्वम्

स्वाभाविकी स्फुरत्ता या विमर्शाख्या पराभिधा।
अक्रमा क्रमरूपेव सेच्छा ज्ञानक्रियात्मिका ॥५५॥

इच्छादि तीनों शक्तियाँ परारूपा ही हैं

स्वभावतः स्फुरित होने वाली क्रमवर्जित विमर्शसंज्ञक पराशक्ति ही क्रमरूप जैसी होती हुई इच्छा-ज्ञान-क्रिया बन जाती है ॥ ५५ ॥

शिवशक्त्योरविनाभावः

त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः।
शक्तिरेवाथ देवी सा, सा च शास्त्रे निरूप्यते ॥५६
सैका सत्यप्यनेकत्वं गच्छतीति पिनाकिना।
मालिनीविजये प्रोक्तं वार्तिके प्रकटीकृतम् ॥५७॥
सुमेरौ परमाणौ वा समाधौ व्युत्थितावपि।
न तया रहितो देवो देवी तद्रहिता न हि ॥५८॥

शिव तथा शक्ति के अविनाभाव की पुष्टि

तीन शक्तियों (इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया) से युक्त अथवा एक शक्ति (परा) से युक्त शिव है। अथवा अकेला शिव ही विश्वरूपेण स्थित है। अथवा शक्तिरूपा एक देवी ही वितत विश्वरूप से स्थित है—ऐसा शास्त्रों में बताया गया है।

"मालिनीविजय" आगम में परमेश्वर ने कहा है—"वह शक्ति अकेली होती हुई भी अनेक रूप बन जाती है।

आचार्य अभिनव-गुप्त ने "मालिनीविजयवार्तिक" ग्रन्थ में इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है—

सुमेरु जैसे महान् पदार्थ में अथवा परमाणु-सदृश लघुपदार्थ में, समाधि में अथवा व्युत्थान में कहीं भी (सर्वत्र) उस शक्ति से रहित शिव नहीं है एवं शिव के बिना शक्ति नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

शक्तिस्वरूपं चैतन्यशब्दार्थश्च

अहमित्यात्मिका शक्तिः शिवामर्शस्वरूपिणी ।
भासयन्ती शिवं स्वस्यां भातीयं च शिवे स्वयम् ॥५९॥
शिवादभिन्नमात्मानं स्वात्मनश्च शिवं तथा ।
भासयन्ती विस्फुरन्ती शक्तिश्चैतन्यमुच्यते ॥६०॥

"शक्ति" के स्वरूप तथा "चैतन्य" शब्द के अर्थ का कथन

"अहम्"—यह शिव का आमर्शन करने वाली शक्ति है। अहम्-शब्द का अर्थ शिवस्वरूप स्वात्ममहेश्वर ही है।

अहमात्मक शक्ति अपने में शिव को प्रकाशित करती हुई स्वयं शिव में प्रकाशित होती है।

शिव से अभिन्न अपने को तथा अपने से अभिन्न शिव को भासित करती हुई विस्फुरण शील शक्ति ही "चैतन्य" कहलाती है।

अहमित्येव प्रकाशस्य स्वभावः, परामर्शश्च

प्राणादिदेहपर्यन्तसंस्पर्शरहितत्वतः ।
विशुद्धसंविदात्मैव प्रकाशस्य परात्मनः ॥६१॥
आत्मा जीवितभूतत्वात् स्वभावः सार एव च ।
विच्छेदशून्यो नित्यत्वात् परामर्शोऽहमित्ययम् ॥६२॥

अहमाकार स्फुरण ही प्रकाश का स्वभाव तथा परामर्श है

प्रकाश रूप परमात्मा का प्राण, बुद्धि, देह आदि के स्पर्श से रहित होने के कारण शुद्धसंवित् स्वरूप अहम्-परामर्श है। यह परामर्श जीवन होने से आत्मा है, स्वभाव (अपनी सत्ता) है तथा सार (हृदय) है। नित्य है अत एव विच्छेद-रहित है।

स्वातन्त्र्यशक्तिविश्रान्तोऽनन्यापेक्षिस्वरूपतः ।
संविद्रूपसमावेशी वागात्मापि न वाग्वपुः ॥६३॥

अपोह्य विरहाच्चायमविकल्पो, विकल्पवान् ।
इदमंशस्य निर्भासात् पश्चाद्भाविविकल्पने ।।६४।।

अहम्-परामर्श का स्वरूप अनन्यसापेक्ष है, स्वातन्त्र्य-शक्ति में ही विश्रान्त है अर्थात् स्वातन्त्र्य-शक्ति-स्वरूप ही है। यह संविद् रूप में समावेश कराने वाला, तथा वाणी की आत्मा है। यह शब्द रूप नहीं है।

अहम्-परामर्श अविकल्प है, क्योंकि इसमें अपोह्य (त्याज्य) कुछ भी नहीं है। यह परामर्श पश्चाद्भावी विकल्प में इदम् पदार्थ के भासन होने से विकल्प रूप भी है।

विकल्पलक्षणम्

अन्योह्यपोह्यते यत्र विकल्पस्तत्र नो मतः ।
नह्यपोह्यः परः कश्चित् प्रकाशे शुद्धचेतने ।।६५।।

विकल्प का लक्षण तथा "अहम्"-परामर्श में उसके अभाव का प्रतिपादन

हम शैव के मत से "विकल्प" उसे कहते है; जहाँ ज्ञेय पदार्थ से अन्य पदार्थ का अपोहन होता है। शुद्ध चेतन प्रकाश रूप पराहम्भाव में अन्य कोई अपोह्य नहीं है, अतः यह अविकल्प कहलाता है ।। ६५ ।।

संकुचित प्रकाश एवाणुः, अनवच्छिन्नप्रकाश शिवः, उभयत्र स्वातन्त्र्यं हेतुः

अनवच्छिन्नप्रकाशो यो निजानन्दपरिप्लुतः ।
स स्वातन्त्र्यात् संकुचितमात्मानमवभासयन् ।।६६।।
अणुरित्युच्यते शास्त्रे स्वातन्त्र्येण पुनर्यदा ।
सर्वकर्तृत्वरूपेण सर्वज्ञत्वेन चाप्यथ ।।६७।।
प्रकाशयत्यात्मनात्मानं तदा देवः प्रकाशते ।
अनवच्छिन्नप्रकाशात्मशिवरूपतयैव सः ।।६८।।

एक ही "प्रकाश" की शिवरूपता तथा जीवरूपता में स्वातन्त्र्य की हेतुता का उपपादन

अपने आनन्द से ओतप्रोत जो अखण्ड प्रकाश है, वही अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से स्वयं को संकुचित भासित करता हुआ शास्त्र में अणु

(जीव) कहा जाता है। वही प्रकाश फिर जब अपने स्वातन्त्र्य से ही सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व रूप से स्वयं को प्रकाशित करता है तब यह देव निरवच्छिन्न प्रकाश स्वरूप शिव रूप से ही प्रकाशित होता है ॥६६-६८॥

स्वातन्त्र्यादेवानुपाय शैवोपायादिना स्वरूपाविर्भावनम्

अथानुपायं सोपायं वात्मानं प्रविकासयन् ।
उपायपक्षे गृह्णातीच्छां वा ज्ञानमथ क्रियाम् ॥६९॥

स्वातन्त्र्य के कारण ही अनुपाय तथा शैवोपाय आदि द्वारा स्वरूपाविर्भाव का प्रतिपादन

यह शिव कहीं अनुपाय से और कहीं पर उपाय द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। उन उपायों में इच्छा, ज्ञान अथवा क्रिया को ग्रहण करता है ॥६९॥

शाम्भव-शाक्ताऽणवोपायाः, पूर्वपूर्वस्योत्तरवावश्यकत्वं च

इच्छाख्यः शाम्भवः प्रोक्तो ज्ञानं शाक्तस्तु भण्यते ।
आणवस्तु क्रियारूपः फलभेदविवर्जितः ॥७०॥

वस्तुतस्त्रिविधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
अभेदेन पुनर्भेदाभेदेनापि च तत्त्वतः ॥७१॥

अभेदोपाय एवोक्तः शाम्भवः शाक्त उच्यते ।
भेदाभेदोभयात्मा यो भेदोपायः स आणवः ॥७२॥

किन्त्वत्र पूर्वपूर्वः स्यात् प्राण एवोत्तरोत्तरे ।
मृतदेह इवायं स्यात् पूर्वं पूर्वं विनोत्तरः ॥७३॥

शाम्भव, शाक्त तथा आणव उपाय के स्वरूप तथा पूर्व उपाय की पर उपाय में आवश्यकता का प्रतिपादन

इच्छा को शाम्भव उपाय, ज्ञान को शाक्त उपाय तथा क्रिया को आणव उपाय कहा गया है। इन उपायों के फल में कोई भेद नहीं है।

परमार्थतः ये तीनों उपाय ज्ञानस्वरूप ही है। जो अभेद रूप से भेदाभेद रूप से तथा भेद रूप से भासित होते हैं।

अभेदोपाय ही शाम्भव है, भेदाभेदोपाय शाक्त है, तथा भेदोपाय ही आणव है।

किन्तु पूर्व-पूर्व उपाय पर उपाय में प्राणभूत हैं। पूर्वोपाय से विहीन उत्तरोपाय मृतदेह (निष्प्राण शरीर) के सदृश ही हैं।

समावेशत्रैविध्यम्

समावेशोऽपि त्रिविधः शैवः शाक्तस्तथाणवः।
इच्छाज्ञानक्रियायोगादुत्तरोत्तरसम्भृतः ॥७४॥

तीन प्रकार के वमावेश का प्रतिपादन

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया योग से समावेश (समाधि) भी तीन प्रकार का है—शैव, शाक्त तथा आणव। शैव में इच्छा, "शाक्त" में इच्छा तथा ज्ञान, एवं "आणव" में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का योग रहता है ॥७४॥

शाम्भव समावेशः

अकिञ्चिच्चिन्तकस्याद्यो गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पाद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥७५॥

शाम्भव समाधि का निरूपण

किसी अन्य के चिन्तन बिना ही तीव्रतम स्वानुसन्धान द्वारा अथवा गुरु द्वारा प्रतिबोध (स्वानुसन्धान) द्वारा होने वाले समावेश को "शाम्भव" समावेश कहा गया है ॥७५॥

शाक्त समावेशः

उच्चार रहितं वस्तु चिन्तयन्तः स्वचेतसा।
प्राप्नुवन्ति यमावेशं शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥७६॥

शाक्त समावेश का निरूपण

प्राणव्यापारादि उच्चार के विना ही केवल चिन्तन द्वारा प्राप्त किये गये समावेश को "शाक्त" समावेश कहा जाता है ॥७६॥

आणव समावेशः

उच्चार करण ध्यान वर्णस्थान प्रकल्पनैः।
आणवोऽपि समावेशः फलभेदविवर्जितः ॥७७॥

आणव समावेश का निरूपण

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान की परिकल्पना द्वार होने वाले समावेश को आणव समावेश कहा गया है।

इन समावेशों में फल-भेद नहीं होता, अपि तु स्वरूपाविर्भाव रूप एक ही फल है ॥७७॥

उच्चारस्वरूपम्

प्राणव्यापार उच्चार उच्यते जीवनात्मकः ।
देहाद्यचेतनस्यापि चैतन्यप्रतिभासकः ॥७८॥
चिद्रूपस्य स्थितिर्येयं सामान्यस्पन्दनात्मिका ।
प्राणना सैव विज्ञेयाऽविकल्पामर्शरूपिणी ॥७९॥
स्वातन्त्र्यारोपसारत्वात् पुनः प्राणादिरूपताम् ।
भासयन्ती विशेषेण भजते पञ्चरूपताम् ॥८०॥
इत्थं द्विविध उच्चारः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।
सामान्यसंज्ञकः सूक्ष्मो विशेषः स्थूल संज्ञकः ॥८१॥

उच्चार के स्वरूप का स्पष्टीकरण

देह, इन्द्रिय आदि अचेतन को भी चैतन्य रूप से प्रतिभासित करने वाला जीवन रूप प्राण-व्यापार ही "उच्चार" कहलाता है।

चेतन की जो सामान्य-स्पन्दन रूप स्थिति है, वही विकल्प रहित आमर्शन स्वरूप प्राणना (जीवन) कहलाती है।

वही स्थिति स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा प्राणादि को विशेष रूप से भासित करती हुई—प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान इन पाँच स्वरूपों को प्राप्त होती है।

इस प्रकार उच्चार दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। सामान्य स्पन्दन रूप सूक्ष्म है और प्राणादि विशेष रूप स्थूल है ॥७८-८१॥

तत्र उच्चारः, तस्य द्वैविध्यं च

अपि द्विधा चिदुच्चारः प्रधानेतर भेदतः ।
चितोऽस्ति मुख्यता क्वापि विमर्शस्यैव कुत्रचित् ॥८२॥

व्यतिरिक्तविमृश्यस्य　　पुराऽभावाच्चिदात्मनः ।
स्वात्ममात्रपरामर्शो　　विमर्शोऽनुत्तरात्मानः॥ ८३॥

उदेति प्रथमं योऽसौ स्वच्छोऽहमिति संस्फुरन् ।
तत्र भात्येव परमं प्राधान्यं हि चिदात्मनः ॥८४॥

यतः प्रकाशमात्रस्य भानं नान्यस्य कस्यचित् ।

प्रकारान्तर से उच्चार के दो भेद होते हैं

इसी प्रकार चेतन का उच्चार भी दो प्रकार का है—प्रधान तथा अप्रधान ।

जिस उच्चार में चेतन की प्रधानता रहती है उसे "प्रधानचिदुच्चार" कहते हैं और जिसमें चेतन की अप्रधानता एवं विमर्श की प्रधानता रहती है उसे "अप्रधान चिदुच्चार" कहते हैं ।

पहले चिदात्मा से अतिरिक्त विमर्शनीय वस्तु के अभाव रहने से स्वात्ममात्र परामर्श रूप अनुत्तर (शिव) विमर्श उदित होता है । वह स्वच्छ "अहम्"—इस रूप से स्फुरित होता है । इस विमर्श में चिदात्मा की अत्यन्त प्रधानता होती है । क्योंकि प्राथमिक अहम्-विमर्श में प्रकाश का ही भान होता है, अन्य वस्तु का नहीं ।

ध्यातव्य है—जब आप सो कर उठते हैं सवप्रथम उदित होने वाले अहम्-परामर्श में स्वरूप का ही भान होता, अन्य का नहीं । यह तो स्व संवेद्य ही है ॥८२-८५/१॥

किन्तूद्योगादिसंस्पृष्टो　　यदा　　संकोचमागतः ॥८५॥

स　　एवाहम्परामर्शस्तदाऽन्यस्य　　प्रधानता ।
तथा ह्यत्र स्वरूपं स्वं गोपयित्वा प्रभुः पुनः ॥८६॥

पृथग्भावं　　विमर्शात्मप्रमाणादिं　　प्रकाशयन् ।
द्वादशात्मस्वरूपेण　　भात्यकारकलादिना ॥८७॥

षण्ढवर्ज्येण　　सूर्यात्मा　　प्रमाणात्मार्थमासृजन् ।
स्थापयन् संहरंश्चापि कुर्वन् सर्वाणि चात्मसात् ॥८८॥

एकादशेन्द्रियगणो बुद्धियुग् द्वादशात्मकः ।
प्रकाशकत्वात् मूर्यात्मा विषये स्वे विराजते ।।८९।।

वही अहमात्मक विमर्श जब संकुचित प्राण, बुद्ध्यादि रूप से भासित होता है तब उद्योगादि कला से युक्त होता है और उसमें अन्य पदार्थ की प्रधानता रहती है।

तथा हि—(देखें)—इस विमर्श में प्रभु (प्रकाश स्वरूप स्वात्मा) अपने स्वरूप को छिपा कर अन्य पदार्थं = विमर्शात्मक प्रमाणादि को प्रकाशित करता हुआ षण्ढ़ = नपुंसक (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ३) के विना अकार आदि १२ स्वर रूप से सूर्य रूपेण भासित होता है। प्रमाण रूप प्रभु, पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और संहार करता हुआ समस्त पदार्थों को आत्मसात् कर लेता है।

एकादश इन्द्रिय (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मन) तथा बुद्धि से युक्त द्वादश स्वरूप प्रभू अपने-अपने विषयों को ग्रहण करते हैं। विषयों के प्रकाशक होने से ये सूर्य रूप कहे जाते हैं ।।८५/२-८९।।

अहंकारः प्रमात्रात्मा सर्वाण्यनुसरन्निव ।
करणं किन्त्वहमिति सर्वत्रैव विजृम्भते ।।९०।।

अतः प्रमातृसंलग्नोऽहङ्कारः करणेश्वरः ।
स्वस्तिन् विलापकस्तेषां तद्वर्गे न हि गण्यते ।।९१।।

सब पदार्थों का अनुसरण करता हुआ प्रमाता के करीब में स्थित अहंकार भी करण ही है, जो समस्त इदमात्मक ज्ञान में विजृम्भित होता है। किन्तु प्रमाता से संलग्न रहने के कारण यह "करणेश्वर" कहलाता है। समस्त करणों को अपने में विलीन करने वाले अहंकार की गणना करण-वर्ग में नहीं की जाती है ।।९०-९१।।

करणवर्णनम्

ग्राह्य—ग्राहक—चिद्व्याप्ति-त्यागा-क्षेप-निवेशनैः ।
प्रकारैः सप्तभिर्भिन्नमभ्यासं बोधपूर्वकम् ।।९२।।
प्राहुः करणमप्यत्र व्याप्त्या स्वात्मप्रतिष्ठता ।
बोध्यं न्यक्कृत्य स्वात्मैकताननतामागतं पुनः ।।९३।।

बोधमेव परं प्राहुः करणं तद्विदो जनाः ।
ज्ञातव्यं तच्च गुरुतोऽन्योऽर्थोऽस्याप्यधुनोच्यते ॥९४॥

करण का निरूपण

ग्राह्य, ग्राहक, चिद्, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप तथा निवेशन—इन सात भेद से भेदित बोधपूर्वक अभ्यास को आचार्यों ने "करण" कहा है ।

व्याप्ति से स्वात्मस्थिति रूप जो बोध है, जिसमें बोध्य का लेशमात्र भी नहीं, स्वात्मैकतानता को प्राप्त हुए उस बोध को ही करणविद् आचार्यों ने परम करण बताया है। बोधात्मक इस करण को गुरु से विशेष रूपेण समझना चाहिये ।

आगे करण शब्द का दूसरा अर्थ भी बताया जा रहा है ॥९२-९४॥

मुद्राया अपि करणार्थत्ववर्णनम्

मुद्रादिपदवाच्यो यो देहस्यावयवस्य वा ।
सन्निवेशविशेषात्मा व्यापारः करणं स्मृतम् ॥९५॥
सम्प्राप्तेश्वरतादात्म्ययोगिनो यापि काचन ।
स्थितिर्देहस्य सा मुद्रा वास्तवी चित्प्रतिच्छविः ॥९६॥

मुद्रा को भी करण शब्द से कहा जाता है

मुद्रा पद वाच्य—देह अथवा उसके अवयव (अङ्गुल्यादि) का सन्निवेश (विशेष स्थिति से रखना) रूप व्यापार को "करण" कहा जाता है ।

ईश्वर के साथ तादात्म्य (एकता) को प्राप्त किये हुए योगी के देह की कोई भी स्थिति है, वस्तुतः वही मुद्रा है; जिसमें चेतन की प्रतिच्छवि दीखती है ॥९५-९६॥

मुदं रात्यर्पयति या देहे स्वरूपलाभजम् ।
तस्मात्तत्प्रतिबिम्बं वा बिम्बं मुद्रोच्यते बुधैः ॥९७॥
प्रतिबिम्बोदयोमुद्रा श्रीदेव्यायामलेस्थिता ।
मुद्रा बिम्बोदया नान्येत्यागमोऽपि यतस्ततः ॥९८॥

बिम्बात् समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता ।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता ॥९९॥

"मुदं राति देहे इति मुद्रा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वरूपलाभ से उत्पन्न मुद् (हर्ष) को देह में अर्पित करने के कारण स्वरूप के प्रतिबिम्ब अथवा बिम्ब को आचार्यों ने "मुद्रा" शब्द से कहा है।

"श्री देवीयामल" आगम में "प्रतिबिम्बोदय" को "मुद्रा" कहा गया है। तथा अन्य आगम में—"बिम्बोदय ही मुद्रा है, उससे अन्य नहीं" ऐसा कहा गया है। अतः "बिम्बोदया" शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। बिम्बात् उदयः यस्याः[६] मुद्रायाः[६]" (षष्ठ्यन्त) इस व्युत्पत्ति के अनुसार बिम्ब (चेतन) से जिसका उदय हो वह "मुद्रा" (प्रतिबिम्बस्वरूप) कहलाती है।

बिम्बस्य उदयः यस्याः[५] (पञ्चम्यन्त) इस दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार बिम्ब (चेतन) का उदय जिससे होता है—ऐसी मुद्रा—"स्वरूपलाभ" के प्रति उपायस्वरूप है।

खेचरी आदि मुद्राओं द्वारा शरीर में चेतनाभास दीखने लगता है। एवं चेतनज्ञानवान् पुरुष के देह को किसी प्रकार की स्थिति-मुद्रास्वरूप ही दीखती है, अतः "मुद्रा" चेतनाभास का कारण और कार्य दोनों है ॥९७-९९॥

मुद्रात्रैविध्यम्

मनोजा गुरुवक्त्रस्था, वाग्भवा मन्त्रसम्भवा ।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता ॥१००॥

सामान्यतः मुद्रा के तीन भेद बताये गये हैं

पहली मुद्रा—"मनोजा" गुरुवक्त्र (उन्मना) में रहती है, दूसरी "वाग्भव" मुद्रा मन्त्र-जपादि द्वारा उत्पन्न होती है तथा तीसरी "देहोद्भव" मुद्रा, देह के अवयवों के विक्षेप से जन्य होती है ॥१००॥

ध्यानम्

यदेतत्सर्वतत्त्वान्तर्भूतं तत्त्वं परं स्वराट् ।
तस्यैव भावनं ध्यानं बुद्धिव्यापार एव तत् ॥१०१॥

"ध्यान" के स्वरूप का निर्वचन

समस्त तत्त्वों का अन्तस्तत्त्व अत एव अत्यन्त देदीप्यमान "शिव" ही परमतत्त्व है, उस की ही भावना को ध्यान कहा गया है। यह ध्यान बुद्धि का ही व्यापार है ॥१०१॥

वर्णशब्दार्थः

सृष्टिसंहारबीजात्मा सूक्ष्मप्राणे सदा स्फुरन् ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णपदाभिधः ॥१०२

वर्णस्वरूप का निरूपण

अव्यक्त शब्दों के अनुकरण के सदृश, सूक्ष्म-प्राण में सदा स्फुरित होने वाला, सृष्टि तथा संहार का बीज रूप, ध्वनि ही वर्ण शब्द वाच्य है ॥१०२॥

स्थानं तस्य भेदाश्च

त्रिकोणकन्दहृत्कण्ठभ्रूमध्यद्वादशान्तकम् ।
स्थानशब्दसमाख्येयं यदभ्यासाच्छिवात्मता ॥१०३॥

देहे स्थानमिदं प्रोक्तं तथा प्राणे बहिस्तथा ।
अतः स्थानं त्रिधैवास्ति शिष्टभेदोपि चेदृशः ॥१०४॥

अन्तर्बाह्यविभेदेन प्राणोऽयं द्विविधस्तथा ।
प्राणादिप्रतिभेदेन पञ्चधास्ति स्थितस्तनौ ॥१०५॥

एकादशविधं बाह्यं मण्डलस्थण्डिलादिकम् ।
प्रतिमा-मूर्ति-पुस्तादि-तूर-लिङ्गाक्षसूत्रकम् ॥१०६॥

पुस्तकं च पटः पात्रं स्थितं स्थानं विभेदतः ।
इत्याणवस्य संक्षेपाद् भेदः स्पष्टं प्रदर्शितः ॥१०७॥

स्थान तथा उसके भेद का अभिधान

त्रिकोण (मूलाधर), कन्द (नाभि) हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य तथा द्वादशान्त (शक्तिद्वादशान्त एवं शिव द्वादशान्त जो नासिका और ब्रह्मरन्ध्र से बारह अङ्गुलि बाहर तक है) को स्थान शब्द से कहा जाता है। इन स्थानों में अभ्यास करने से "शिवात्मता" प्राप्त होती है।

देह में उपर्युक्त स्थान बताये गये। प्राण और बहिर्देश (बाहर) में भी स्थान की कल्पना की गई है। इस प्रकार स्थान तीन तरह के होते हैं। प्राणस्थित तथा बहिःस्थित स्थान को अब बताया जा रहा है—

आभ्यन्तर तथा बाह्य भेद से प्राण दो प्रकार का है। पुनः प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान रूप से एक ही प्राण पाँच प्रकार से शरीर में स्थित है।

बाह्यस्थान ग्यारह प्रकार के हैं—मण्डल, स्थण्डिलादि, प्रतिमा, मूर्ति, पुस्त आदि, तूर, लिङ्ग, अक्षसूत्र, पुस्तक, पट तथा पात्र। इस प्रकार आणव-समावेश के समस्त भेद संक्षेप से दिखाये गये ॥१०-१०७॥

परतत्त्वान्तः प्रविविक्षोरवस्थाः

इत्थं देहगतोपायैरुच्चारकरणादिभिः।
विविक्षोः परतत्त्वान्तःस्थितिर्देहेऽपि या भवेत् ॥१०८॥
सा प्रत्यक्षीकृता शास्त्रेऽप्युक्ता सम्प्रति दर्श्यते।
यया विश्वासमापन्नो योगी प्राप्नोति पूर्णताम् ॥१०९॥

"परतत्त्व" में प्रवेश चाहने वाले योगी की अवस्थाओं का अभिधान

इस प्रकार उपर्युक्त उच्चार, करण आदि देहस्थ उपायों द्वारा परतत्त्व में प्रवेश चाहने वाले योगी के देह में जो स्थिति होती है उसका हम (ग्रन्थकार) ने साक्षात्कार किया है। शास्त्र में इसे विस्तारपूर्वक बताया गया है। अब उस स्थिति का निरूपण किया जायगा। इस स्थिति से विश्वास प्राप्त कर योगिजन पूर्णता को प्राप्त करते हैं ॥१०८-१०९॥

आनन्दः पूर्णतौन्मुख्यमात्रादेव प्रजायते।
देहादावात्मतात्यागादुद्भवः प्लुतिसंज्ञकः ॥११०॥

पूर्णता की ओर उन्मुखता मात्रा से आनन्द की अनुभूति होने लगती है। फिर देहादि में आत्म-बुद्धि के त्याग से प्लुति नामक उद्भव (ऊर्ध्व-गति) होता है ॥११०॥

परधामाधिरोहात्मा क्षणं यावद् भवेत् पुनः।
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या प्राणदौ संस्थिता पुरा ॥१११॥
सा गलतीति कम्पोऽपि तृतीयेयमवस्थितिः ॥११२/१

उसके पश्चात् परमधाम में प्रवेश होता है। यह स्थिति क्षण-भर के लिये होती है। पहले अनात्म पदार्थों में जो आत्म बुद्धि थी वह नष्ट हो जाती है अतः "कम्प" का अनुभव होता है। यह तीसरी स्थिति है ॥११-११२/१॥

बाह्यवृत्तिव्युपरमादान्तरानुभवस्य च ॥११२॥

स्फुटं कस्याप्यनुदयान्निद्रावस्थेव जायते।

गलिते देहतादात्म्यनिश्चयेऽन्तर्मुखत्वतः ॥११३॥

तावन्निद्रायते यावन्न रूढ़िः संविदात्मनि।

बाह्य वृत्तियों के व्युपरम हो (रुक) जाने से तथा आभ्यन्तर किसी पदार्थ के स्पष्टतया अनुभूत नहीं होने से "निद्रावस्था" जैसी स्थिति हो जाती है। इसी को "योगनिद्रा" कहते हैं।

देहात्मता-निश्चय के विनष्ट हो जाने पर अन्तर्मुखता होने से तब तक निद्रावस्था की अनुभूति होती है; जब तक "संविद् स्वरूप" में स्थैर्य नहीं हो जाता ॥११२/२-११४/१॥

घूर्णिः सापि महाव्याप्तिर्विश्वात्मत्वेन संविदम् ॥११४॥

जानतो योगिनो याति सृष्टिसंहारधर्मिणः।

देहादि शून्यपर्यन्तेऽनात्मन्यात्मत्वभावनाम् ॥११५॥

त्यजतो गृह्णतश्चापि संविदात्मनिजात्मनि।

योगिनोऽन्ते महाव्याप्तिः संविदेकस्वभावता ॥११६॥

एकस्मिन् वाप्यनेकस्मिन् भावे सर्वत्र जायते।

इयं स्पन्ददशा प्रोक्ता महाव्याप्तिरियं तथा ॥११७॥

संविद् को विश्व रूप से जानने वाले योगी को घूर्णिसंज्ञक "महाव्याप्ति" स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति की प्राप्ति से योगी सृष्टि तथा संहार की शक्ति से सम्पन्न होता है। देह से लेकर शून्य पर्यन्त अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि-त्याग-पुरःसर "संविद्" स्वरूप "स्वात्मा" में आत्म-निश्चय करने वाले योगी को अन्त में "महाव्याप्ति" प्राप्त होती है। समस्त पदार्थ को "संविद् स्वरूप" समझना ही "महाव्याप्ति" है। यह एक

पदार्थ तथा अनेक पदार्थ में समान रूप से भासित होता है। इसे "स्पन्द दशा" भी कहा गया है ॥ ११४/१-११७॥

पूर्णतेश्वरतादेः साध्यत्वाभावः

सृष्टिसंहारकारित्वं पारमेश्वर्यमेव च ।
पूर्णतेश्वरता वापि महाव्याप्तिः स्वतन्त्रता ॥११८॥
न साध्या किन्तु सिद्धेयं भेदापाये तु भासते ।

पूर्णतादि पद वाच्य "महाव्याप्ति" साध्य नहीं है

सृष्टिसंहारकारिता, पारमेश्वर्य, पूर्णता, ईश्वरता, महाव्याप्ति तथा स्वतन्त्रता ये पर्याय हैं। ये साध्य नहीं, अपि तु सिद्ध हैं; किन्तु भेद के नष्ट होने पर ही भासित होते हैं ॥११८-११९/१॥

भेदविलापनोपायः

भेदोऽपि भासमानोऽयं संविदो नातिरिच्यते ॥११९॥
संविदेव विभातत्वादि"ति निश्चयशालिनः ।
अपयाति क्षणादेव भेदोऽभेदत्वमागतः ॥१२०॥

भेद-विनाशन के उपाय का कथन

भासमान यह भेद भी संविद् से भिन्न नहीं है, अपि तु संविद् ही है क्योंकि विभासित होता है—इस प्रकार के निश्चय वाले योगी का भेद अभेदरूपता को प्राप्त कर नष्ट हो जाता है ॥११९/२-१२०॥

शिवाभिन्न-स्वात्मस्वरूपाभिमर्शनम्

चिदानन्दैकघनतामधस्कृत्य पुनः पुनः ।
परिमितप्रमातृत्वकाङ्क्षिणेऽप्यहमात्मने ॥१२१॥
परिमितप्रमातृत्वमधस्कृत्य पुनः पुनः ।
चिदानन्दैकघनताग्रहीतृस्वात्मने नमः ॥१२२॥

शिवस्वरूप स्वात्मा का परामर्शन

चिदानन्दैकरूपता को पौनःपुन्येन छोड़कर परिमित प्रमातृता (शून्य प्राणादिरूपता) की आकांक्षा करने वाले तथा परिमितप्रमातृता का पौनः-

पुन्येन त्याग कर चिदानन्दैकरूपता को ग्रहण करने वाले अहमात्मक स्वात्मा को नमस्कार अर्पित हो ॥१२१-१२२॥

विद्यामायोभयात्मायं चिद्घनः परमेश्वरः ।
एक एव स्वतन्त्रत्वान्निग्रहानुग्रहात्मकः ॥१२३॥
निग्रहानुग्रहौ कुर्वन् देवो विश्वैकविग्रहः ।
कथं कुर्यात् स्वभिन्नस्य निग्रहं वाप्यनुग्रहम् ॥१२४॥
स्वस्मिन्नेव स्वयं कुर्यादुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
परप्रमात्मना तिष्ठन् भिन्नरूपेण वा पुनः ॥१२५॥

चिद्घन परमेश्वर स्वरूप स्वात्मा विद्या और माया उभय रूप है। यह अपने स्वातन्त्र्य से निग्रह तथा अनुग्रह रूप बनता रहता है। सम्पूर्ण विश्व ही जिसका स्वरूप है ऐसा स्वात्मदेव अपने से भिन्न का निग्रह अथवा अनुग्रह कथमपि नहीं कर सकता अपि तु "स्व" में ही निग्रह अथवा अनुग्रह करेगा।

स्वात्म देव अपने में ही उन्मिषित (परप्रमातृरूप) होकर अनुग्रह करता है तथा विभिन्न शून्य प्राण बुद्धि-देह रूप से निमिषित होकर अपने को निगृहीत करता है ॥१२३-१२५॥

विद्या-माया स्वरूपम्

"विद्या" स्वरूपसंवित्तिरनुग्रहमयी शिवा ।
स्वरूपगोपनक्रीडामयो "माया" विलासिनी ॥१२६॥

विद्या एवं माया के स्वरूप की व्याख्या

अनुग्रह रूप शिवात्मक "विद्या" शक्ति स्वरूप ज्ञानरूपा है। स्वरूप को छिपाकर सांसारिक क्रीडा करने वाली "माया" शक्ति भी विलास कराने वाली है, न कि दुःख देने वाली ॥१२६॥

अनुत्तरस्वरूपैव निराकाङ्क्षा सदोदिता ।
महामन्त्रमयी शक्तिः शब्दार्थोभयगर्भिणी ॥१२७॥

आकांक्षा-रहित, सदा उदित, शब्द तथा अर्थ दोनों को गर्भ में रखने वाली अनुत्तर शिव से अभिन्न शक्ति महामन्त्रमया है ॥१२७॥

उल्लिलासयिषाद्यात्म-व्यापारैरनुपद्रुतः ।
निस्तरङ्गोदधिप्रख्यः प्रकाशोऽनुत्तराभिधः ॥१२८॥
अदेशकालकलितनित्यस्पन्दमयोऽपि यः ।
स एव सामरस्येन स्वातन्त्र्येण स्वयं प्रभुः ॥१२९॥
अधिशेते दशां शाक्तीमहमित्युल्लसन्निव ॥१३०/१

उल्लास (उन्मेष) आदि की इच्छा रूप व्यापार से रहित, निस्तरङ्ग सागरोपम प्रकाश को "अनुत्तर" शब्द से कहा जाता है।

देश-काल की कलना से रहित, नित्यस्पन्दमय अनुत्तर शिव ही स्वातन्त्र्य-शक्ति से समरस होकर "अहम्"—इस प्रकार से उल्लसित होता हुआ "शक्तिरूपता" को प्राप्त करता है ॥१२८-१३०/१॥

किमतश्चाधिकतरं दुष्करं नु भविष्यति ॥१३०॥
यदखण्डितताद्रूप्ये प्रकाशात्मन्यसौ पुनः ।
प्रकाशननिषेधोऽपि भास्यते स्वात्मनि स्वयम् ॥१३१॥

इससे बढ़कर दुष्कर और क्या हो सकता है—"अखण्डित प्रकाश-स्वरूप स्वात्मा में ही स्वयमेव "प्रकाशन-निषेध" भी भासित किया जाता है ॥१३०/२-१३१॥

प्रथमं ग्राहकांशस्य ग्राह्यांशस्य ततः परम् ।
उल्लासनं भगवता क्रियते स्वीयमायया ॥१३२॥
अथवा सममेवायं ग्राह्यग्राहकमण्डलम् ।
मायया कलया देवो भासयन् भाति भास्वरः ॥१३३॥

शिवस्वरूप स्वातमा अपनी माया-शक्ति से प्रथमतः ग्राहकांश का तत्पश्चात् ग्राह्यांश का अवभासन करता है।

अथवा ग्राह्य और ग्राहक के परस्पराश्रित होने से एक साथ ही ग्राह्य तथा ग्राहक समुदाय को भासित करता हुआ देदीप्यमान स्वात्मा भासित हो रहा है ॥१३२-१३३॥

माया-सद्विद्येच्छानां स्वरूपम्

ग्राह्यमण्डलतद्ग्राहिनानारूपावमर्शिनी ।
"माया" पूर्णत्वसम्भोगप्रच्युतिक्षोभकारिणी ॥१३४॥

"सद्विद्या" पूर्णविश्रान्तिदायिनी, सुशिवात्मिका ।
ज्ञाननिर्भरभावांशस्वरूपपरिमर्शिका ॥१३५॥

इच्छाशक्तिः प्रमात्रंशपूर्णभावावभासिका ।

माया-सद्विद्या तथा इच्छा की व्याख्या

ग्राह्य-समूह तथा ग्राहक-समूह के अनेक स्वरूपों का परामर्श करानेवाली, पूर्णता के साथ सहज सम्भोग से दूर करने हेतु क्षोभ की सम्पादिका शक्ति—"माया कहलाती है ।

शिवस्वरूपा, ज्ञानपूर्ण पदार्थों को "स्व" रूपतया परामर्शन करनेवाली एवं पूर्णविश्रान्ति प्रदान करनेवाली शक्ति "सद्विद्या" कहलाती है। पूर्णरूप से "प्रमातृता" का अवभासन करनेवाली "इच्छा शक्ति है। १३४-१३६/१॥

स्वातन्त्र्यशक्तिः स्फुरत्तारूपा

इति श्रीवार्तिके प्रोक्तं गुरुणापि महात्मना ॥१३६॥

नैसर्गिकी स्फुरत्तात्मा विमर्शाख्या परा प्रभोः ।
अक्रमा क्रमरूपेव शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा ॥१३७॥

स्फुरत्ता ही स्वातन्त्र्य-शक्ति है

श्री "मालिनी-विजय-वार्तिक" में महात्मा गुरुवर अभिनव गुप्त ने कहा है—"प्रभु की स्वाभाविक स्फुरत्ता रूप विमर्शसंज्ञक, स्वातन्त्र्यरूप परम शक्ति है। वह परमार्थतः अक्रम होती हुई भी सक्रम जैसी दीखती ॥" १३६/२-१३७॥

जननी सर्वशक्तीनां सर्वशक्तिमयी परा ।
राजते संशिदात्मैव शक्तिश्चैतन्यचन्द्रिका ॥१३८॥

उन्मेषादीश्वरो यस्या निमेषाच्च सदाशिवः ।
स्वरूपगोपनक्रीडा-कारिणी सा प्रभोः प्रिया ॥१३९॥

दुर्घटं घटयन्तीव सम्भावयन्त्यसम्भवम् ।
अवितर्क्या प्रभोः शक्तिः सृजन्तीदन्तयाप्यहम् ॥१४०॥

स्वातन्त्र्य-शक्ति समस्त (अनन्त) शक्तियों की माता है, अत एव परा एवं सर्वशक्तिमयी है। चन्द्रमा की चन्द्रिका की भाँति यह शक्ति संविद् स्वरूप ही है।

जिस के उन्मेष से ईश्वर तथा निमेष से सदाशिव तत्त्व बनता है, ऐसी स्वरूप-गोपन रूप क्रीडा करने वाली शक्ति, प्रभु शिव को अत्यन्त प्रिय है।

दुर्घट को सुघटित करने वाली, असम्भव को सम्भव बनाने वाली प्रभु की अवितर्क्य शक्ति अहम् को इदम् बनाती है अर्थात् "मैं" को "यह" रूप से भासित करती है ॥१३८-१४०॥

चिद्रूपैकरसे परे सुखमये भाते सदाहन्तया
वेद्यत्वेन विभासितं पुनरिदं सर्वं ययेदन्तया ।
चैतन्ये जडतां जडेऽप्यजडतामुल्लासयन्ती मुदा
सा माया भुवनेश्वरी विजयते-स्वातन्त्र्यभङ्गोद्भवा ॥१४१॥

जिस शक्ति द्वारा चिदेकघन, सुखमय, सदैव अहम्-रूपसे से भासमान परम शिव में पुनः इदन्तया समस्त वेद्य पदार्थ विभासित होते हैं। वह माया शक्ति चेतन में जडता तथा जड में चेतनता को प्रमोद पूर्वक उल्लसित करने वाली सर्वोत्कर्षेण वर्तमान है। यह शक्ति अपने स्वातन्त्र्य के नष्ट होने से उत्पन्न होती है ॥१४१॥

अहमित्यात्मिका शक्तिः शुद्धचैतन्यभासिका ।
यैव सैव पुनर्माया भासयन्तीदमंशताम् ॥१४२॥

शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन करने वाली जो "अहम्" इत्याकारक शक्ति है; वही फिर इदमंश को भासित करती हुई "माया" कहलाती है ॥१४२॥

सम्यग् ज्ञानम्

शिवात्मकस्य भावस्य परामर्शोऽहमात्मकः ।
सम्यग्ज्ञानमिति ख्यातं परामृतरसात्मकम् ॥१४३॥

सम्यग् ज्ञान का स्वरूप

समस्त पदार्थ शिवस्वरूप ही हैं। उन सब पदार्थों का "अहम्"—रूप से भासित होना ही सम्यग् ज्ञान कहलाता है यही परम अमृत-रस है ॥१४३॥

अस्यैव स्वस्वभावस्य शिवाभिन्नस्य सर्वदा।
भासमानस्य, सत्यस्य, विश्वरूपतयापि च ॥१४४॥
भेदोद्भावनसामर्थ्यमिदन्तोल्लेखनेन यत्।
सैव "माया" समाख्याता न तु वस्त्वन्तरात्मिका ॥१४५॥

शिवस्वरू, सदा सत्य रूप से भासित होने वाले स्वस्वभाव का ही इदन्ता के उल्लेख से विश्वरूप से भी भिन्नतया भासन की शक्ति ही "माया" कहलाती है। माया कोई अलग वस्तु नहीं है।

सम्पूर्ण विश्व का स्वरूपतया प्रतीति सम्यग् ज्ञान है तथा भेद प्रतीति ही माया है ॥१४४-१४५॥

पूर्णताविभूत्याद्यनेकनामानि शक्तेः

पूर्णसंवित्स्वभावस्य शक्तिर्या पूर्णतैव सा।
विभूतिर्हृदयं सारं स्पन्दः सामर्थ्यमेव च ॥१४६॥
त्रिशिकोर्मिस्तथा काली चण्डी दृक्कर्षिणी तथा।
वाणी भोगः परा नित्या कुलमित्यादिभिः सदा ॥१४७॥
तत्तदर्थप्रवृत्ताभिः संज्ञाभिरभिधीयते ॥१४८/१॥

एक ही शक्ति की पूर्णता, विभूति प्रभृति अनेक संज्ञा

पूर्ण संवित् के स्वभाव की शक्ति ही "पूर्णता" कहलाती है। यही शक्ति विशेष-विशेष अर्थों में विभूति, हृदय, सार, स्पन्द, सामर्थ्य, त्रिशिका, ऊर्मि, काली, चण्डी, दृक्कर्षिणी, वाणी, भोग, परा, नित्या, कुल—इत्यादि संज्ञाओं से व्यवहृत होती है ॥१४६-१४८/१॥

मायायास्त्रैविध्यम्

कार्यतो नामतो भेदो मायाया अधुनोच्यते ॥१४८॥
वैषम्यमधिगच्छन्ती जननौन्मुख्यभागियम् ।
"मायाग्रन्थिः" समाख्याता मायाविलपदाभिधा ॥१४९॥

अव्यक्तस्य कलायाश्च जननी या गुहा स्मृता ।
साऽव्यक्तकलयोस्तत्त्वं "तत्त्वरूपे"ति कथ्यते ॥१५०॥

इदं तत्त्वमिदं नेति भ्रमसंशयदायिनी ।
"मायाशक्तिः" समाख्याताऽभिन्ने भेदावभासिनी ॥१५१॥

इत्थं माया त्रिधा ख्याता नामकार्य विभेदतः ।
ग्रन्थिस्तत्त्वं च शक्तिश्च यद्यप्येकैव वस्तुतः ॥१५२॥

माया के तीन भेद का निरूपण

अब कार्य तथा नाम के भेद से माया के भेद बताये जायेंगे । विषमता को प्राप्त करती हुई, जनन (उत्पति) हेतु उन्मुख माया को "मायाग्रन्थि" कहा जाता है । इसका दूसरा नाम "मायाविल" भी है ।

अव्यक्त और कला की उत्पादिका गुहा-संज्ञक माया—अव्यक्त तथा कला का सार होने से "मायातत्त्व" कहलाती है ।

यह तत्त्व है, यह तत्त्व नहीं है, तथा यह तत्त्व है या नहीं ?—इस प्रकार के भ्रम, संशय आदि की उत्पादिका माया—"मायाशक्ति" कहलाती है । यह शक्ति अभेद में भी भेद दर्शाती है ।

इस प्रकार यद्यपि माया नाम और कार्य के भेद से ग्रन्थि, तत्त्व तथा शक्ति—तीन प्रकार की हैं, तथापि वस्तुतः एक ही है ॥१४८/२-१५२॥

महामायास्वरूपम्

अधस्ताच्छुद्धविद्याया मायाया उपरिस्थिता ।
महामाया, यया सुप्ता अणवो मनवः स्मृताः ॥१५३॥

महामाया का परिचय

शुद्धविद्या तत्त्व से नीचे और माया तत्त्व से उपर महामाया-तत्त्व है। इस के द्वारा सुलाये गये अणु ही मनु (मन्त्र) अर्थात् "मन्त्रप्रमाता" कहे गये हैं ॥१५३॥

तत्रस्था मन्त्रमहेश्वरादयः

> सन्ति विष्णुविरिञ्च्याद्या मायागर्भाधिकारिणः ।
> तदुत्तीर्णास्तु मनवो महामायावशीकृताः ॥१५४॥
> मन्त्रा मन्त्रेश्वरा मन्त्रमहेशात्मान एव च ।
> शुद्धाशुद्धाध्वमध्यस्थाः साञ्जनाश्च निरञ्जनाः ॥१५५

महामाया में स्थित मन्त्रमहेश्वरादि का अभिधान

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि मायागर्भ (मायाण्ड) के अधिकारी हैं। माया से उत्तीर्ण (पार) मन्त्रगण "महामाया" के अधीन हैं। ये मन्त्र, मन्त्रेश्वर तथा मन्त्रमहेश्वर--वर्गों में विभाजित हैं। शुद्धाध्वा तथा अशुद्धाध्वा के मध्य में स्थित ये (मन्त्र) मल से युक्त तथा मल से रहित भी हैं ॥१५४-१५५॥

विज्ञानाकलमन्त्रादयः

> दिध्वंसिषुत्वमापन्न आणवो हि मलो यदा ।
> यस्मिंस्तस्मिन् समायाति विज्ञानाकलता तदा ॥१५६॥
> किञ्चिद्विध्वंसमानत्वे मन्त्रत्वमुपगच्छति ।
> मन्त्रेश्वरत्वमायाति ध्वंसमानत्वमागते ॥१५७॥
> किञ्चिद् ध्वस्तत्वमापन्ने तन्महेश्वरता मले ।
> साकल्येन पुनर्ध्वस्ते शिवता सर्वभासिनी ॥१५८॥
> सदाशिवप्रभृतयः सन्ति शुद्धाध्ववर्तिनः ॥१५९/१

विज्ञानाकल, मन्त्र आदि का स्वरूप-परिचय

जिस पुरुष में जिस समय आणव-मल विध्वंसिषा (ध्वंस की इच्छा) का विषय बनता है, उस पुरुष में उस समय "विज्ञानाकलता" आती है। अर्थात् जिसका मल नष्ट होने वाला रहता है वह "विज्ञानाकल" कहलाता है।

जिसका आणव मल कुछ-कुछ ध्वस्त होने लगता है उसे "मन्त्र" कहा जाता है। जिसका आणव मल कुछ ध्वस्त हो जाता है यह मन्त्रेश्वर कहलाता है। जिसका पूर्णरूपेण मल ध्वस्त हो जाते हैं; उसे सर्वतः प्रकाशमयी शिवता प्राप्त होती है।

सदा शिव, ईश्वर प्रभृति तत्त्व "शुद्धाध्वा" में विद्यमान रहते हैं ॥१५६-१५९/१॥

परं शिवं विनाऽन्ये सर्वे मायाविनः

परं शिवं परित्यज्य महामायासमाश्रिताः ॥१५९॥
सदाशिवादयः सर्वे सन्तीत्थं केचिदूचिरे।
इदमंशस्य तत्रापि भानात् पक्षो ह्ययं मतः ॥१६०॥

परमशिव के अतिरिक्त अन्य सभी की मायाविता है

परम शिव को छोड़कर सदाशिवादि सब के सब महामाया से आलिङ्गित हैं—ऐसा कुछ आचार्यो ने कहा है, क्योंकि "अहम्-इदम्" इत्यादि सदाशिवावस्था प्रभृति में भी इदम् की प्रतीति होती ही है। अत एव यह पक्ष स्वीकार किया गया है ॥१५९/२-१६०॥

सदाशिवप्रभृतेर्महामायायोगित्वेऽपि स्वातन्त्र्याावियोगः

परामृतरसापायस्तेषां नास्ति कदाचन।
इति स्वातन्त्र्यमेवास्ति महामायावतामपि ॥१६१॥

सदाशिवादि तत्त्वों का महामाया के साथ योग रहने पर भी स्वातन्त्र्य-वियोग नहीं होता।

सदाशिव प्रभृति तत्त्व महामाया से युक्त हैं, किन्तु कभी भी इनमें परामृत रस का नाश नहीं होता अत एव इनमें स्वातन्त्र्य रहती ही हैं ॥१६१॥

महामायाया मतभेदेन विद्यामायान्यतराङ्गत्वम्

भेदाख्यमायिकमलाभावाद् विद्याङ्गभूतेयम्।
वाऽज्ञानमल सद्भावान्मायैवेयं महामाया ॥१६२॥

मत भेद से महामाया की विद्यारूपता तथा मायारूपता है

भेदभान रूप मायिक मल के अभाव से महामाया को कुछ आचार्यों ने विद्या का अङ्ग बताया है तथा अज्ञान-मल रहने से इसे कुछ आचार्यों ने मायारूप ही कहा है ॥१६२॥

मलस्य त्रिधात्वे द्विधात्वेऽपि वा मायिकत्वमेव

मायया कृतमेवस्यान्मलमज्ञानमत्र हि ।
आणवं मायिकं कार्मं त्रिविधं तद् भवेद् द्विधा ॥१६३॥
पौरुषं पुरुषस्थं तद् बौद्धं बुद्धिस्थमेव च ।
तत्त्वतो मायिकं सर्वं त्रैविध्यं कार्यनामतः ॥१६४॥

मल तीन प्रकार के हों अथवा दो प्रकार के—हैं मायिक ही ।

इस शैवागम शास्त्र में माया से सम्पादित, अज्ञान पदवाच्य मल तीन प्रकार के हैं—आणव, मायिक तथा कार्म ।

प्रकारान्तर से मल दो प्रकार के हैं—पुरुष में रहनेवाला "पौरुषमल" तथा बुद्धि में रहनेवाला 'बौद्धमल" ।

वस्तुतः समस्त मल मायिक है । कार्य तथा नाम के भेद से उसके तीन भेद किये जाते हैं ॥१६३-१६४॥

दीक्षायाः पौरुषमलनिवर्तकत्वं पौरुषज्ञानजनकत्वं च ।

पौरुषं हि मलं यत्स्याद् दीक्षा तस्य निर्वातिका ।
किन्तु दीक्षापि नो तावद् यावद् बौद्धं न नश्यति ॥१६५॥
हेयोपादेयनिश्चित्या सत्त्वशुद्धिर्यदा भवेत् ।
तदैव जायते सापि दीक्षा या शिवयोजना ॥१६६॥
असंकुचितनिर्विकल्पसंविद्रूपं हि पौरुषम् ।
ज्ञानं यत्तद् भवेच्छास्त्रं विना, दीक्षाद्युपायकम् ॥१६७॥

दीक्षा पौरुष मल को दूर करती है तथा पौरुष-ज्ञान को उत्पन्न करती है

दीक्षा "पौरुष-मल" का विनाश करती है किन्तु जब तक बौद्धमल नष्ट नहीं हो जाता तब तक "दीक्षा" सम्भव नहीं ।

हेय (त्याज्य) तथा उपादेय (ग्राह्य) के निश्चय से अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ही शिव के साथ एकीकरण रूप दीक्षा हो पाती है।

संकोच रहित निर्विकल्प संविद् रूप पौरुषज्ञान शास्त्र के विना भी दीक्षा आदि उपाय से होता है ॥१६५-१६७॥

बौद्धज्ञानाज्ञानस्वरूपम्, दीक्षालक्षणम्, बौद्धमलद्वयम्

संकोचाध्यवसायात्माऽज्ञानं यद् बुद्धिसंस्थितम्।
तदुच्छेदाय बौद्धी स्यादसंकुचितचेतना ॥१६८॥

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
इत्येवंलक्षणा दीक्षा न सम्भवत्यनिश्चये ॥१६९॥

तात्त्विकस्वस्वभावस्याज्ञानमेव ह्यनिश्चयः।
अनात्मन्यात्मगर्वो यः स विपरीतनिश्चयः ॥१७०॥

इमे एव मले द्वे हि बुद्धिस्थे परिकीर्तिते।
शास्त्रजेऽध्यवसायात्मज्ञाने सति विनश्यतः ॥१७१॥

बुद्धिस्थ ज्ञान तथा अज्ञान के स्वरूप, दीक्षा-लक्षण तथा द्विविध बौद्ध मलों का निरूपण

संकोच के निश्चय रूप बुद्धिस्थ अज्ञान के उच्छेद (विनाश) के लिये असंकुचित बुद्धिस्थ ज्ञान आवश्यक है ॥

जिसके द्वारा ज्ञानसद्भाव का आधान तथा पशु-वासना का उच्छेद होता है, उसे "दीक्षा" कहा जाता है। यह दीक्षा "अनिश्चय" रहने पर सम्भव नहीं है ॥

अपने तात्त्विक स्वभाव का अज्ञान ही "अनिश्चय" है तथा अनात्म देहादि में आत्माभिमान ही "विपरीत-निश्चय" है ॥

ये ही (अनिश्चय तथा विपरीत निश्चय) दो बौद्ध मल बताये गये हैं। ये दोनों मल शास्त्रजन्य निश्चयात्मक ज्ञान होने पर विनष्ट हो जाते हैं ॥१६८-१७१॥

अतः प्रधानं बुद्धिस्थं ज्ञानं वस्तुप्रमात्मकम्।
अयमस्मि विभुरहं शिवः सर्वप्रकाशकः ॥१७२॥

मदभिन्नमिदं सर्वमित्यादि बहुरूपकम् ।
तदप्यभ्यस्यमानं सद् हन्त्यज्ञानं च पौरुषम् ॥१७३॥

अतः वस्तु का प्रमात्मक बौद्ध ज्ञान ही प्रधान है। वह ज्ञान—"यह मैं विभु हूँ", "मैं सब का प्रकाशक शिव हूँ" तथा "मुझसे अभिन्न यह समस्त विश्व है"—इत्यादि अनेक प्रकार का है ॥१७२-१७३॥

विकल्पसंविदोऽभ्यासः करोत्येवाविकल्पताम् ।
यतः शास्त्रविकल्पज्ञोऽभ्यासाद् यात्यविकल्पताम् ॥१७४॥

विकल्पानात्मसंकोचः प्रकाशः संविदो हि यः ।
शिवस्वभाव एषोऽत्र हृदयं सर्ववस्तुनः ॥१७५॥

विकल्पात्मक संविद् का अभ्यास भी अविकल्पसंविद् रूपता प्रदान करता ही है। अत एव तो शास्त्रीय विकल्प ज्ञान वाला विद्यार्थी अभ्यास द्वारा अविकल्प ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

विकल्पों द्वारा संकोचरूपता को अप्राप्त संविद् का प्रकाश ही शिव-स्वभाव है। इसे समस्त पदार्थों का हृदय (सार) कहा गया है ॥१७४-१७५॥

मलनिरासार्थत्वं शास्त्रस्य, तत्स्वरूपं च

तस्मान्मलनिरासार्थं शास्त्रमीशेन भाषितम् ।
सर्वागमनदीसंघोऽप्येति यत्प्राप्य पूर्णताम् ॥१७६॥

व्यवस्थितमिदं विश्वं नियत्या विनियन्त्रितम् ।
उदपादि तथा शास्त्रं निजरूपप्रकाशकम् ॥१७७॥

यथा सृष्ट्यवभासार्थं सूर्यं निर्मितवान् विभुः ।
तथा स्वात्मप्रकाशार्थं शास्त्रं निर्मितवान् विभुः ॥१७८॥

माया शक्तिर्यथा तस्य जगद्रूपा विराजते ।
विद्याशक्तिस्तथा तस्य शास्त्ररूपा विराजते ॥१७९॥

तस्य देवातिदेवस्य शक्तिः शुद्धाध्वदायिनी ।
शब्दतत्त्वमयी देवी शास्त्ररूपेण राजते ॥१८०॥

पञ्चकृत्यकृतस्तस्य शक्तिर्याऽनुग्रहात्मिका ।
सैव साक्षादियं देवी भाति शब्दाम्बरावृता ॥१८१॥

शास्त्र-स्वरूप तथा मलनिरास रूप उसका प्रयोजन

अतः मल-विनाश हेतु ईश्वर (शिव) ने आगम शास्त्र कहा है । इस आगम रूप सागर को प्राप्त कर समस्त शास्त्र रूप नदियाँ पूर्णता प्राप्त करती हैं ।

भगवान् जैसे नियति-शक्ति से नियन्त्रित व्यवस्थित इस विश्व को बनाये वैसे ही अपने स्वरूप-प्रकाशन हेतु शास्त्र भी बनाये हैं । विभु ने सृष्टि (संसार) को प्रकाशित करने हेतु "सूर्य देव" निर्माण की भाँति स्वरूप-प्रकाशन हेतु शास्त्र-निर्माण किया है । भगवान् की माया-शक्ति ही जिस प्रकार संसार रूप है उसी प्रकार विद्या-शक्ति ही शास्त्र-रूप से विद्यमान है ।

उस महादेव की—शुद्धाध्वा प्रदान करने वाली शब्दतत्त्वात्मक शक्ति ही शास्त्र रूप से विराजमान है ।

पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह तथा अनुग्रह) सम्पादन करने वाले भगवान् की अनुग्रह-शक्ति ही शब्द रूप वस्त्र से आच्छादित शास्त्र रूप से भासित हो रही है ॥१७६-१८१॥

सर्वेषामपि शास्त्राणां षडर्धं सारमुच्यते ।
मालिनीविजयं शास्त्रं तस्मादप्यधिकं मतम् ॥१८२॥
तत्र निर्णीत एवार्थस्तन्त्रालोके सुविस्तरात् ।
श्रीमताऽभिनवगुप्तपादेन प्रतिपादितः ॥१८३॥

समस्त आगमों का सार तत्त्व "त्रिक" शास्त्र हैं । उनमें भी "मालिनीविजय" "सारतम" सर्वोत्तम शास्त्र है । "मालिनीविजय" में प्रतिपादित अर्थ को श्रीमान् अभिनव गुप्ताचार्य ने अपने ग्रन्थ "तन्त्रालोक" में विस्तार पूर्वक बताया है ॥१८२-१८३॥

शैवशास्त्राध्ययने शिवस्य प्रयोजकत्वम् । शिवेच्छयैव श्रीगुरोर्दर्शनं च

अहं श्रीदेवगिरिणा स्वामिना प्रभुणा स्वयम् ।
समुपेत्य समीपं मां भृशमर्थतयतापि च ॥१८४॥

हठान्निषेधं कुर्वाणो गलेपादिकयैव तु ।
भिक्षां देहीति वचसा तन्त्रालोके नियोजितः ॥१८५॥

मन्ये साक्षाच्छिवेनैव भक्त्या मे परितुष्यता ।
कृपया देवदेवेन कृता दीक्षा स्वयं मम ॥१८६॥

पुनरेकेण विप्रेण श्रीश्रीनगरवासिना ।
अज्ञातनामगोत्रेण स्वयमागत्य याचितः ॥१८७॥

नीतश्च दृष्टवान् पादौ गुरोर्लक्ष्मणशर्मणः ।
गुरुपरम्पराप्राप्तविद्यैश्वर्यविलासिनः ॥१८८॥

गुरोः प्रभासारिकयोर्नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ।
गुप्तगङ्गासमीपस्थस्वेश्वराश्रमवासिनः ॥१८९॥

अनुग्रहैकरूपेण नित्यशान्तेन योगिना ।
भाषमाणेन दृष्ट्यैव शक्तिपातः कृतो मयि ॥१९०॥

ग्रन्थकार को साक्षात् शिव ने शैवशास्त्र के अध्ययन में लगाया तथा उन्हें शिवेच्छा से ही "श्रीगुरु" का दर्शन हुआ

स्वामी श्री देवगिरि जी (काश्मीर में) स्वयं मेरे समीप आकर मुझसे प्रार्थना किये ।

मेरे द्वारा निषेध किये जाने पर भी "भिक्षा दो" ऐसा कहते हुए बहुत प्रार्थना से उन्होंने हठात् गलेपादिका न्याय से हमें "तन्त्रालोक" के अध्ययन में लगाया । मैं तो यह समझता हूँ—मेरी भक्ति से प्रसन्न हो देवाधिदेव साक्षात् शिव ने कृपा पुरः सर देवगिरि जी रूप से मुझे दीक्षा दी ॥१८४-१८६॥

पुनः शिवेच्छा से ही श्रीनगरनिवासी ब्राह्मण मेरे पास आकर मुझसे याचना पूर्वक ले गये । मैं उनका नाम-गोत्र भी नहीं जानता । वहाँ जाने पर गुरुदेव श्रीलक्ष्मण जी के चरण कमलों का दर्शन किया । ये गुरुदेव गुरु-परम्परा से विद्या-युक्त तथा ऐश्वर्य से सुशोभित हैं, प्रभाजी तथा सारिका जी के गुरु हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं तथा गुप्तगङ्गा के समीप स्वकीय "ईश्वराश्रम" में रहते हैं ।

अनुग्रह-मूर्ति, शान्तस्वभाव, बात-चीत करते हुए वे गुरुदेव दृष्टिमात्र से मुझ पर "शक्तिपात" किये ॥१८७-१९०॥

बुद्धया विविच्य तच्छास्त्रं प्राप्य चिन्मयतामपि ।
जनस्यायत्नसिद्धयर्थं सारं वच्मि विशेषतः ॥
अर्णवादागतं रत्नं तटे यद्युपलभ्यते ।
तथापि मूढ़भेकस्य किन्तेनास्ति प्रयोजनम् ॥१९१-१९२॥

तदनन्तर अपनी बुद्धि से शैवशास्त्र का विवेचन कर तथा चिन्मयता को प्राप्त कर अनायास अथवा अल्पायास से लोगों की सिद्धि हेतु विशेष-रूप से सार तत्त्व का निरूपण करता हूँ। किन्तु इसके अधिकारी विरले ही होते हैं। देखिये तो—समुद्र से आया हुआ रत्न तट पर ही प्राप्त होता है, किन्तु मूढ़ मेढ़क को उस रत्न से कोई प्रयोजन है ? ॥१९१-१९२॥

संशयाधिविनाशकानुपायोपक्रमः

शिवशास्त्रं परिज्ञाय शिवतादात्म्यमागतः ।
मादृशानां स्वतः सिद्धयै मन्त्रयाम्यहमीश्वरः ॥
मन्त्रशास्त्रे सन्दिहानो दोषज्ञो विदुषा मया ।
प्रार्थ्यतेऽत्र प्रवृत्त्यर्थं संशयाधिं चिकित्सितुम् ॥
मन्त्रस्याहं मुनिर्द्रष्टा छन्दोऽनुष्टुब् महेश्वरः ।
देवोऽकथः सर्वसिद्धौ विनियोगोऽस्ति वाञ्छितः ॥
१९३-१९५॥

संशयरूप "आधि" के विनाशक "अनुपाय" का उपक्रम

शैवागम को भलीभाँति समझ कर तथा शिव के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर मेरे सदृश लोगों की स्वतः सिद्धि हेतु ईश्वररुप मैं मन्त्र (रहस्य-कथन) कर रहा हूँ। मन्त्र-शास्त्र में सन्देह करने वाले दोषज्ञ (पण्डित) से प्रार्थना है कि वे संशय रूप आधि (मानस-रोग) की चिकित्सा हेतु मेरे मन्त्रात्मक ग्रन्थ में प्रवृत्त हों।

इस मन्त्र का द्रष्टा मुनि—"मैं" हूँ, इसमें अनुष्टुप् छन्द है। अकथनीय महेश्वर इसके देवता हैं। समस्त अभिलषित सिद्धि में इसका विनियोग (उपयोग) हो सकता है ॥१९३-१९५॥

शिवाभिन्न स्वात्मविमर्शनस्य सर्वोत्कृष्टोपायत्वादनुपायात् पूर्वं तदाचरणम्

स्वस्मिन् बिभर्त्ति स्वविमर्शशक्त्या
सर्गस्थितिध्वंसमनारतं यः ।
तमच्छमच्छन्नमनन्तरूपं
मन्थानसंज्ञं प्रणमामि देवम् ॥१९६॥

शिवाभिन्न स्वात्मा का विमर्श के सर्वोत्तम उपाय होने से अनुपाय के पहले उसका आचरण किया जाता है

जो अपनी विमर्शशक्ति द्वारा खुद में अहर्निश सृष्टि, स्थिति तथा ध्वंस को धारण करता है, उस स्वच्छ, अनावृत (प्रगट) अनन्तरूप मन्थान संज्ञक देव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१९६॥

प्रकाशरूपस्य चिदात्मनस्ते
स्वातन्त्र्यमेतन्नहि किञ्चिदन्यत् ।
शिवादिपृथ्व्यन्तसमस्तविश्व-
रूपेण चैकोऽपि विभासि यत्त्वम् ॥१०७॥

हे देव ! एक तुम शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त विश्वरूप में भासित हो रहे हो—यह प्रकाशस्वरूप चिद्रूप तुम्हारा स्वातन्त्र्य ही है, अन्य कुछ नहीं ॥१९७॥

मदात्मनापि त्वमुना विभासि
स्वतन्त्र एकः स्वमिवातिभिन्दन् ।
त्वय्येव भेदोऽपि न चेद् विभायात्
सर्वात्मता ते नहि साधु सिध्येत् ॥१९८॥

इस मेरे रूप से भी स्वतन्त्र एक तू ही अपने को अत्यन्त भिन्न करते हुए विभासित हो रहे हो। तुझ में ही यदि भेद भी भासित न हो तो तुम्हारी सर्वरूपता भली-भाँति सिद्ध नहीं हो पायेगी ॥१९८॥

कृपेलिमो देव ! तथा त्वयाहं
यथाऽऽप्नुयां त्वत्पुरवासितां ताम् ।
यत्र स्थितः सर्वपदार्थभूतं
त्वामेव पश्यन्नहि विस्मरेयम् ॥१९९॥

हे देव ! तुम मेरे ऊपर ऐसी कृपा करो, जिससे मैं तुम्हारे उस धाम में निवास प्राप्त कर सकूँ, जहाँ स्थित होकर समस्त पदार्थ रूप तुम्हें देखता रहूँ, तुम्हें न भूलने पाऊँ ॥१९९॥

त्वय्येव भातः स्मृतिविस्मृती ते
द्वयोरपि त्वं स्वयमेव भासि ।
तथापि साम्मुख्यसुखप्रदासौ
स्मृतिः प्रिया मे नहि विस्मृतिस्ते ॥२००॥

यद्यपि तुम में ही तुम्हारी स्मृति और विस्मृति दोनों ही भासित होती हैं तथा तुम्हारी स्मृति एवं विस्मृति इन दोनों में ही तुम स्वयं भासित होते हो तथापि साम्मुख्य-सुख को देने वाली तुम्हारी स्मृति ही मुझे प्रिय है, न कि तुम्हारी विस्मृति ॥२००॥

वाचा कया त्वामहमीशमीडे
प्रसादये त्वां क्रियया कया वा ।
यतः सदान्तुर्मुखभास्वरूपो
न मायिकं पश्यसि किञ्चिदेतत् ॥२०१॥

हे ईश ! मैं तुम्हारी स्तुति किस वाणी से करूँ ? किस क्रिया द्वारा तुम्हें प्रसन्न करूँ ? क्योंकि तुम सदैव अन्तर्मुख प्रकाशस्वरूप हो, इस मायिक जगत् को देखते ही नहीं हो ॥२०१॥

स्तुवन्नपि त्वामहमेमि सद्यः
परामृताधायि चमत्कृतिन्ते ।
अथाप्यविच्छिन्नसुखैकधामन् !
याचे स्वभावं त्वदकृत्रिमं तम् ॥२०२॥

यद्यपि तुम्हारी स्तुति करता हुआ मैं तत्क्षण परमामृत का आधान करने वाले तुम्हारे चमत्कार को प्राप्त कर लेता हूँ, तथापि हे "अखण्ड सुख के एक मात्र धाम !" मैं आपके ही अकृत्रिम स्वभाव की याचना करता हूँ ॥२०२॥

त्वं पूर्णरूपोऽसि विभासि पूर्णः
सर्वं च पूर्णेऽथ समत्र पूर्णम् ।
अतः स्फुटं मे स्तुतिवागपीयं
व्यक्तिं दधात्येव हि पूर्णतायाः ॥२०३॥

तुम परिपूर्ण हो, परिपूर्ण ही भासित हो रहे हो । पूर्ण में सब कुछ है और सब कुछ भी पूर्ण ही है—अतः मेरी यह स्तुतिरूप वाणी भी पूर्णता ही की स्पष्ट अभिव्यक्ति करती है ॥२०३॥

अनुपायार्थः

सकृद्देशनया वाऽथ सिद्धादीनां च दर्शनात् ।
स्वयं विवेचनेनापि शिवतादात्म्यदर्शनात् ॥२०४॥

स्वल्पोपायममुं प्राहुरनुपायं महाजनाः ।
अल्पार्थकत्वमस्त्येव षड्विधार्थनञो यतः ॥२०५॥

"अनुपाय" का अर्थ निर्देश पुरःसर निरूपण

गुरु के द्वारा एक बार आदेश (उपदेश) मिल जाने से, सिद्ध-योगिनी आदि के दर्शन से तथा स्वयं विवेचना के द्वारा शिव-तादात्म्य (शिव-रूपता) की प्राप्ति होती है । इस लिये इस स्वल्प उपाय को ही महापुरुष "अनुपाय" कहते हैं । "अनुपाय" में नञ् (अन्) शब्द का अर्थ स्वल्प होता है ।

शास्त्र में नञ् के छः अर्थ बताये गये हैं—

सादृश्य, अभाव, अन्य, स्वल्प, अप्राशस्त्य तथा विरोध

स्वातन्त्र्यस्यैव सर्वत्राप्रतिहतसाधकत्वम्

यस्त्विदं वेत्ति भगवच्छक्तिपातपवित्रितः ।
स्वातन्त्र्यात् स्वात्मरूपस्य प्रकाशो नान्यत इति ॥२०६॥

स स्वभाचन्द्रिकाध्वस्तध्वान्तो निर्मलचन्द्रमाः ।
तमस्तापौ हन्ति दृशं विस्फार्यानन्दनिर्भराम् ॥२०७॥

स्वतन्त्रता की ही सब जगह अप्रतिहत शाधकता है

भगवान् के शक्तिपात से पवित्र हुआ जो भी व्यक्ति यह जानता है कि "स्वातन्त्र्य से ही स्वरूप का प्रकाशन होता है अन्य से नहीं", वह स्व प्रकाश की चन्द्रिका द्वारा अज्ञान रूप अन्धकार को ध्वस्त कर निर्मल चन्द्र की तरह आनन्द परिपूर्ण दृष्टि को विस्फारित कर तम (मायिक मल) तथा ताप (दुःख) का विनाश कर देता है ॥२०६-२०७॥

स्वात्ममहेश्वरे उपायानुपयोगप्रदर्शनम्

स्वप्रकाशमयो योऽयं स्वात्मैव परमेश्वरः ।
किमुपायेन कर्तव्यं नित्ये तत्र महेश्वरे ॥२०८॥

२२५ वें श्लोक तक—स्वात्म-महेश्वर में उपाय की अनुपयोगिता का निरूपण

स्वप्रकाशमय स्वात्मा ही परमेश्वर है । महेश्वर स्वरूप नित्य स्वात्मा में उपाय द्वारा भला क्या किया जा सकता है ? ॥२०८॥

न रूपलाभो नित्यत्वान्नाशो नावरणस्य च ।
यतो नावरणं तत्र सकृद्भाते चिदात्मनि ॥२०९॥

नित्य स्वात्मा में स्वरूप लाभ हो नहीं सकता । निरन्तर विभासमान होने से चिद्रूप स्वात्मा-महेश्वर में कोई आवरण भी नहीं जिसका विनाश किया जा सके ॥२०९॥

स्वयंप्रकाशमानस्य पुनर्ज्ञानं न सम्भवेत् ।
कः कुत्र प्रविशेद्वापि प्रवेष्टाऽन्यो न कश्चन ॥२१०॥

स्वयं प्रकाशमान चिदात्मा का पुनः प्रकाशन सम्भव ही नहीं है । कौन किसमें प्रवेश करेगा ? अन्य प्रवेष्टा भी तो नहीं है ॥२१९॥

पूर्णेऽवधानं न युक्तं नापूर्णं सत्यमेव हि ।
इत्यान्तरावधानादिर्नोपायः कोऽपि सम्भवेत् ॥२११॥

पूर्ण का ध्यान सम्भव नहीं, अपूर्ण सत्य नहीं हो सकता। अतः चिदात्मा में आन्तरिक ध्यानादि उपाय सम्भव नहीं हैं ॥२११॥

मनुते योऽवधानादि कारणं शिवदर्शने ।
नूनं खद्योतमादत्ते दिदृक्षू रविमप्यसौ ॥२१२॥

जो शिवस्वरूप स्वात्मा के दर्शन में अवधान आदि को कारण मानता है वह निश्चय ही सूर्य को देखने हेतु जुगनू को साधन बनाता है ॥२१२॥

स्वपदा स्वशिरश्छायां लोचनेनैव लोचनम् ।
लङ्घितुं लोकितुं बाल इच्छेद्धीमान्न कश्चन ॥२१३॥

अपने पाँव से अपने सिर की छाया को लाँघने तथा अपने नेत्र से अपने नेत्र को देखने की इच्छा अज्ञानी ही कर सकता है, न कि ज्ञानी ॥२१३॥

सर्वप्रकाशके ह्यस्मिन्नादिसिद्धे महार्चिषि ।
किं प्रमाणं भवेदन्यद् यत् तस्मादुपजीवति ॥२१४॥

समस्त वस्तु के प्रकाशक, प्रथमतः सिद्ध, महान् तेजोरूप स्वात्मा में दूसरा प्रमाण भी क्या हो सकता ? क्योंकि समस्त प्रमाण तो उसी से जीवित हो रहे हैं ॥२१४॥

उपायो वा भवेत् कोऽत्र भिन्नस्यानुपलब्धितः ।
चित्प्रकाश्यो हि संसारस्तद्भिन्नो नैव सिध्यति ॥२१५॥

स्वत्मा से भिन्न कुछ उपलब्ध भी तो नहीं है, जो उपाय बन सके। क्योंकि चेतन से प्रकाशित होने वाला संसासर कथमपि उससे भिन्न हो नहीं सकता ॥२१५॥

अद्वैतभैरवविभौ न प्रवेशोपवेशयोः ।
आभ्यासिकी स्थितिः कापि तौ हि भेदैक जीवितौ ॥२१६॥

व्यापक अद्वैत-भैरव में अभ्यास द्वारा प्रवेश तथा उपवेश की स्थिति सम्भव नहीं, क्योंकि प्रवेश तथा विश्रान्ति भेद में ही सम्भव है।

तत्र आचार्यसम्मतिः

अत उक्ता शिवदृष्टौ सोमानन्दमहात्मना ।
गुरुणा परमेणापि उपायानुपयोगिता ।।२१७।।

"भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः ।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना ।।२१८।।

सर्वदा मातृपित्रादितुल्यदार्ढ्येन सत्यता ।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।।२१९।।

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा" ।।२२०।।

अत एव परम गुरु महात्मा सोमानन्द जी ने शिवदृष्टि" ग्रन्थ में स्वात्मा में उपाय की अनुपयोगिता का उपपादन किया है—

"सतत स्फुरणशील "**शिव**" में "**भावना**" तथा "**क्रिया**" द्वारा क्या किया जा सकता ?

एक बार सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर फिर-फिर उसमें भावना और क्रिया द्वारा उसमें क्या किया जा सकता ?

जिस तरह माता-पिता, भाई-बहन आदि के विषय में एक बार कहने-सुनने से दृढ़ सत्य प्रमा होती है उसी तरह प्रमाण, शास्त्र अथवा गुरुवाक्य द्वारा एक बार सर्वत्र स्थित शिवता का दृढ़ निश्चय हो जाने पर क्रिया अथवा भावना द्वारा उसमें कुछ नहीं किया जा सकता ।।२१७-२२०।।

अत एव तु केनापि शैवेनोक्तं महात्मना ।
अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।।२२१।।

यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।।२२२।।

अत एव किसी शैव महात्मा ने "स्वच्छन्द तंत्र" में कहा है : "हे देव ! सर्वतः प्रकट, अपरोक्ष सदा विद्यमान भवत्तत्त्व की प्राप्ति हेतु उपायों का

अवलम्बन करने वाले निश्चय ही तुम्हें नहीं जान पाते। चलकर कहाँ पहुँचा जाय क्योंकि यावद् वस्तु शिवमय ही है" ॥२२१-२२२॥

उपाय एव करणव्यापारः फलसिद्धिदः।
सर्वमान्योऽपि सिद्धान्तो घटतेऽयं न संविदि ॥२२३॥

संविन्निष्ठा हि सकलाः संवेद्यत्वात् क्रियादयः।
संविदं नावभासेयुर्भास्यन्ते संविदा त्वमी ॥२२४॥

संविदः स्वप्रकाशत्वे युक्तिरेकैव निर्मला।
संविदोऽस्वप्रकाशत्वे स्यादान्ध्यं जगत इति ॥२२५॥

"करण-व्यापार रूप उपाय ही फलसिद्धि-प्रद है"—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है किन्तु "संविद्" के सन्दर्भ में यह लागू नहीं होता। क्योंकि क्रिया आदि उपाय सवेद्य होने से **"संविद्"** में ही विश्रान्त होते हैं। स्वयं संविद् से प्रकाशित होनेवाले ये संविद् का अवभासन कथमपि नहीं कर सकते। **संविद्** की **स्वप्रकाशता** में एक ही निर्मल युक्ति है : "यदि संविद् स्वयं प्रकाश मान न हो तो सम्पूर्ण जगत् अन्धकूप हो जायेगा ॥२२३-२२५॥

विमर्शमात्र सिद्ध त्वाभिधान पूर्वकस्वात्महेश्वराभिमर्शनम्

लोकप्रकाशको लोकविस्रष्टाऽतः स्वभावतः।

विमर्शमात्रसंदृश्यो यः स एव विमृश्यताम् ॥२२६॥

तस्मात् समस्तमेवेदमेकं चिन्मात्र केवलम्।

देशेनास्त्यपरिछिन्नं कालेनाकलितं तथा ॥२२७॥

अप्युपाधिभिरम्लानमाकृत्याप्यनियन्त्रितम्।

शब्दैरप्यस्त्यसंदिष्टं प्रमाणैरप्रपञ्चितम् ॥१२८॥

प्रमाणान्तस्य कालादेः स्वेच्छयैव प्रकाशकम्।

एकमेवाद्वयं वस्तु द्वित्वाश्रयमिव स्थितम् ॥२२९॥

एवमेव सदा भातं यत् तत्त्वं शिवशब्दितम् ।
तदेवाहञ्च तत्रैव मय्यन्तः प्रतिबिम्बितम् ।।२३०।।
विश्वं विमर्शशक्त्या मे भात्यभिन्नन्तु भिन्नवत् ।
एवं दृढ़ं विविञ्चानो लभते पारमेश्वरम् ।।२३१।।
शश्वदेव समावेशमुत्तमं निरुपायकम् ।
अनुपायस्य विद्वांसो ! भवन्तोऽस्याधिकारिणः ।।२३२।।

विमर्शमात्र से सिद्ध स्वात्ममहेश्वर का आमर्श

लोक (संसार) मात्र का प्रकाशक "संविद्" स्वभाव से ही समस्त संसार का विमर्शक है। अतः विमर्शमात्र से दर्शनीय "संविद्रूप" **महेश्वर** का विमर्श करना चाहिये।

इसलिये यह समस्त संसार चिन्मात्र ही है। यह देश से अपरिच्छिन्न तथा काल से अकलित है।

स्वात्म महेश्वर उपाधियों से मलिन नहीं है, आकृति-विशेष से नियन्त्रित नहीं है, शब्दों से प्रतिपाद्य नहीं है तथा प्रमाणों से प्रमाणित नहीं है।

स्वात्मा स्वेच्छा से देश-काल से लेकर प्रमाण पर्यन्त समस्त वस्तु का अवभासन करता है। एक अद्वैत आत्मा ही द्वैत के आश्रय रूप में स्थित है।

भावना ध्यान आदि के विना ही "सदा प्रकाशमान शिवतत्त्व मैं ही हूँ", "मुझ शिव में ही मेरी विमर्शशक्ति द्वारा प्रतिबिम्बित विश्व वस्तुतः अभिन्न होता हुआ भी भिन्नरूपेण भासित होता है।" इस प्रकार दृढ़ विवेचना करने वाला पुरुष सद्यः निरुपाय, सर्वोत्तम, पारमेश्वर "समावेश" प्राप्त करता है अर्थात् परमेश्वर स्वरूप हो जाता है। हे विज्ञ विद्वज्जन ! आप लोग ही इस अनुपाय शैव समावेश के अधिकारी हैं ॥ २२६–२३२ ॥

अविकल्पसमावेशमवाप्तस्य योगिनः स्वरूपम्

अविकल्पसमावेशसमवाप्तस्य योगिनः ।
विकल्पकलनाः सर्वा निर्विकल्पस्वभावकाः ।।२३३।।

मनागपि रसो येन प्राप्तोऽयं चिदनुग्रहात् ।
स्वप्नेऽपि तस्य नैवास्ति पूजाध्याननियन्त्रणा ।।२३४।।
नहि तस्यास्ति कर्तव्यं शिष्टं किञ्चित्तथापि सः ।
अनुग्राह्योपकाराय कुर्वन्निव विभाव्यते ।।२३५।।
ध्वस्ताखिलमिलो योगी विश्रान्तश्चिन्मयाम्बुधौ ।
महासिद्ध्या समाश्लिष्टोऽनुग्रहात्मा जयत्यसौ ।।२३६।।
इत्थमीश्वरमात्मानं जानन् कामेश्वरोऽपि सन् ।
कुर्वन् सर्वमिदं कर्माकुर्वन् रामेश्वरोऽस्ति सः ।।२३७।।

अविकल्प-समावेश को प्राप्त योगी के स्वरूप का अभिधान

अविकल्प समावेशापन्न योगी के समस्त विकल्पात्मक ज्ञान भी निर्विकल्प स्वभाव वाले ही होते हैं।

जिसने चिदात्मा के अनुग्रह से एक बार (थोड़ा) भी अविकल्प समावेश का रस प्राप्त कर लिया उसे स्वप्न में भी ध्यान-पूजन का नियन्त्रण (आवश्यकता) नहीं रह जाता।

ऐसे योगी का कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, फिर भी कृपापात्र के उपकार हेतु कर्म करता हुआ सा दीखता है।

अविकल्प समावेशापन्न योगी के समस्त मल ध्वस्त हो जाते हैं। यह चिन्मय सागर में विश्रान्ति पाता है। आत्मसिद्धि रूप महासिद्धि स्वयमेव इसका आलिङ्गन करती है। यह अनुग्रह स्वरूप योगी सर्वोत्कर्षेण विद्यमान है। इस प्रकार ईश्वर रूप स्वात्मा को जानता हुआ कामेश्वर रूप में सब कुछ करता हुआ भी, कुछ नहीं करने वाला रामेश्वर रूप शिव ही है ।। २३३–२३७ ।।

अविदित्वा तु यः प्रैति मिथ्याज्ञानविमोहितः ।
वैदुष्यं च मनुष्यत्वं सर्वं तस्यास्ति निष्फलम् ।।२३८।।

मिथ्याज्ञान से मोहग्रस्त जो पुरुष स्वरूप को जाने विना इस लोक से चला जाता है अर्थात् मर जाता है, उसकी विद्वत्ता तथा मनुष्यता—सब व्यर्थ ही है ।। २३८ ।।

सर्वस्य प्रकाशात्मत्वप्रदर्शनम्

ननु तावदिदम्भावः प्रकाशाद् भिन्न एव हि ।
भातीवेति कथं सर्वं प्रकाशात्मव्यस्थितम् ॥२३९॥
हन्तेदमोऽप्रकाशत्वमिष्टं यस्य तु तस्य ते ।
अश्वेतः श्वेतते तस्मादप्रकाशः प्रकाशताम् ॥२४०॥
यदि भावोऽप्रकाशात्मा प्रकाशीभावमागतः ।
तर्हि स्वरूपसंलोपान्न स भावः प्रकाशितः ॥२४१॥
तस्मात् प्रकाश एवायं गीतो यः परमः शिवः ।
स एवाचिन्त्यविभवःस्वातन्त्र्यरसनिर्भरः ॥२४२॥
तैस्तैः स्वभावभूतैस्तु भावैर्भाति तथा तथा ।
विश्वभावस्वरूपोऽपि तिष्ठत्येवाच्युतस्थितिः ॥२४३॥

समस्त वस्तु की प्रकाशात्मकता का उत्पादन

शङ्का—इदन्तया प्रतिभासमान पदार्थ प्रकाश तत्त्व से भिन्न-सा प्रतीत होता है, तो समस्त वस्तु की प्रकाशात्मकता कैसे उपपन्न होगी ?

समाधान—हन्त ! (खेद है) इदन्त्वेन प्रतिभासमान को अप्रकाश मानने वाले तुम्हारे मत में अश्वेत श्वेत जैसा प्रतीत होता है—इस कथन के सदृश अप्रकाश प्रकाशित होवे ।

यदि अप्रकाश रूप इदम्-वस्तु प्रकाशरूपता प्राप्त कर लेता है—ऐसा स्वीकार करें तब तो अप्रकाश के स्वरूप का नाश हो जाने से वह वस्तु प्रकाशित ही नहीं हुआ ।

इसीलिये "प्रकाश" ही "परमशिव" शब्द से शास्त्रों में कहा गया है । यह प्रकाश अचिन्त्य-वैभव-सम्पन्न" तथा स्वातन्त्र्य-रस से परिपूर्ण है ।

समस्त-भाव स्वरूप प्रकाश, विभिन्न स्वभाव वाले पदार्थ-सार्थ द्वारा विभिन्न रूप से भासित होता हुआ भी अपनी स्थिति से अच्युत ही रहता है ॥ २३९–२४३ ॥

अहं घटं विजानामि न च जानात्ययं पुनः ।
वेदिष्याम्यथवा पूर्वं ज्ञातवानहमादितः ॥२४४॥

सर्वं वेद्मि न वा किञ्चिज्जाने नैवास्ति कश्चन ।
अहमेवमिदं सर्वं किं सर्वमितरद् भवेत् ॥२४५॥
अयं जडश्चेतनोऽहमहं वेद्मि न वेत्त्ययम् ।
इत्यादिरेक एवायं प्रकाशः प्रविजृम्भते ॥२४६॥
अतः सर्वज्ञभावस्य सर्वत्रातिप्रसङ्गतः ।
शङ्कापि भेदभावस्य स्वयमेव निवर्तते ॥२४७॥
यतः प्रकाश एवैकश्चित्ररूपः प्रकाशते ।
वस्तुतश्च न चित्रोऽसौ नाचित्रो भेदवर्जनात् ॥२४८॥

मैं घट को जानता हूँ, यह घट को नहीं जानता। मैं जानूँगा, मैं पहले से ही जानता हूँ, मैं सब कुछ जानता हूँ, मैं कुछ भी नहीं जानता, कोई भी नहीं है, मैं ही यह सब हूँ, दूसरा अन्य क्या हो सकता, यह जड है, मैं चेतन हूँ, मैं समझता हूँ, यह नहीं समझता है—इत्यादि रूप से एक ही प्रकाश विजृम्भित हो रहा है।

इस सर्वत्र सर्वज्ञता का अति प्रसंग हो जायगा—ऐसी भेदभाव की शंका भी स्वयं ही निवृत्त हो जाती है।

क्योंकि एक प्रकाश ही विचित्र रूप से भासित हो रहा है। तत्त्वतः प्रकाश न तो चित्र है और न चित्र-वर्जित है, क्योंकि वह चित्राचित्रादि भेद से रहित है ॥ २४४–२४८ ॥

नन्वेकश्चित्प्रकाशश्चेदपरो न भवेत् तदा ।
नास्त्येव भासते यत् तत् सर्वं चिन्मयमद्वयम् ॥२४९॥
यः प्रकाशः स एवायं प्रतिभाति तथा तथा ।
न चैवान्यस्य नैवान्यः कश्चित् किञ्चित् प्रकाशतः ॥२५०॥

शङ्का—यदि एक ही चिद्रूप प्रकाशतत्त्व है, तब अन्य की सत्ता सिद्ध नहीं होगी?

समाधान—अन्य की सत्ता न होना इष्ट ही है। जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह सब अद्वय चिद्रूप ही है।

जो प्रकाश है वही तेन तेन रूपेण (सब रूप में) प्रकाशमान है। कुछ भी अन्य का नहीं है, न तो अन्य ही है, प्रत्युत प्रकाश ही सब कुछ है ॥ २४९–२५० ॥

जडस्य लक्षणं, बोधलक्षणं च

परिच्छिन्न प्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
जडाद् विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ॥२५१॥

जड तथा बोध के लक्षण का अभिधान

परिच्छिन्न प्रकाशरूपता अर्थात् "इत्थम् रूपता" जड का लक्षण है। जड से विलक्षण अपरिच्छिन्न प्रकाश स्वरूप "बोध" है। शिवस्वरूप बोध परिमित नहीं होता॥ २५१ ॥

परमाद्वैतत्वादत्र भेदाभेदयोरुभयोः स्थितिः

एतद्धि परमाद्वैतमत्र त्यागग्रहौ नहि ।
भेदस्य चाप्यभेदस्य स्थितिः सर्वत्र सर्वदा ॥२५२॥

परमाद्वैतवाद में भेद तथा अभेद दोनों की स्थिति सदैव रहती है

यह परमाद्वैत है। यहाँ न तो त्याग है न ग्रहण। भेद और अभेद की स्थिति सब जगह सदैव है।

संशयाधि निवर्तकानि पूर्वाचार्यस्य वाक्यानि स्वस्य च

गुरुभिश्चैष एवार्थस्तत्र तत्र निरूपितः ।
श्रवणेऽप्यागते यस्मिन् संशयाधिर्विनश्यति ॥२५३॥
"पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथाऽनुत्तरे
संज्ञा सत्किल केन कस्य विदधे को वा प्रवेशक्रमः" ।
मायेयं न चिदद्वयात् परतरा भिन्नाप्यहो राजते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः ॥२५४॥

२६३ वें श्लोक तक संशय रूप मानसिक व्यथा के निवर्तक पूर्वाचार्य तथा ग्रन्थकार के वाक्य हैं

इसी बात को गुरुजन तत्र-तत्र विशद रूप से बताये हैं, जिनके श्रवण-मात्र से संशय रूप "आधि" नष्ट हो जाती है ॥ २५३ ॥

अनुत्तर शिव में पूजा, पूजक तथा पूज्य के भेद की कौन सी कथा (चर्चा) हो सकती है? किसने किसे "सत्" संज्ञा (नाम) दी है? इसमें प्रवेश करने का क्रम भी क्या हो सकता है? यह माया भी अद्वैत

चेतन से भिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न रूप से भासित होती हैं। समस्त वस्तु स्वानुभव रूप ही है अत एव अत्यन्त स्वच्छ है। अतः व्यर्थ चिन्ता मत करो ॥ २५४ ॥

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहंकारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते ।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मना
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः ॥२५५॥

राग-द्वेष, सुख-दुःख, उदय-लय, अहंकार-दैन्य, प्रभृति भासित होने वाले पदार्थ विश्व में सर्वत्र होने से "विश्वविग्रह" कहलाते हैं। तुम में ही भासित होने से ये तुमसे भिन्न नहीं हैं। इनमें से जिस-जिस की अभिव्यक्ति तुम देखते हो उस-उस रूप से संविद् को देख कर तत् तत् पदार्थों की भावना से परिपूर्ण होकर रमण क्यों नहीं करते ॥ २५५ ॥

यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यद्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते ।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद्रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज ॥२५६॥

जो भी सत्य है, असत्य है, अल्प है, वहुत है, नित्य है, अनित्य है, माया से मलिन है, आत्मा से विमल है—वह सब "संविद्" दर्पण में ही विभासित होता है।

यह सब अपने विमर्श संविद् द्वारा ही उदित होकर रूपलाभ कर प्रकाशित होता है—यह समझ कर स्वानुभव पर आरूढ़ होकर विश्वेश्वरता अर्थात् शिवरूपता को स्वीकार करो ॥ २५६ ॥

यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम् ।
केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि ॥२५७॥

जैसे स्थित हो वैसे ही रहो। बाहर और भीतर की दौड़ मत लगाओ। केवल चिद्विलास के विकास द्वारा विकार-समूह का नाश करते रहो ॥ २५७ ॥

उपायो नापरः कश्चित् स्वसत्तावगमादृते ।
तामेवानुसरन् योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत् ।।२५८।।

अपनी सत्ता के ज्ञान के विना अन्य कोई भी उपाय नहीं है। उस स्वसत्ता का अनुसरण करता हुआ योगी स्वरूप में स्थिर रहकर नित्य सुखी रहता है ॥ २५८ ॥

इत्थं स संविद्धन एक एव
शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः ।
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ
ग्राह्यग्रहीतृप्रविभागभेदः ।।२५९।।

इस प्रकार एक संविद्धन शिव ही सारे विश्व का प्रकाशक है। विचित्रनाना शक्ति सम्पन्न शिव में ही ग्राह्य, ग्रहीता, ग्रहण प्रभृति विभाग भासित होता रहता है ॥ २५९ ॥

स ह्यखण्डितसद्भावं शिवतत्त्वं प्रपश्यति ।
यो ह्यखण्डितसद्भावमात्मतत्त्वं प्रपद्यते ।।२६०।।

जो अखण्ड सद्रूप आत्मा की शरण में जाना है, वह अखण्ड सद्रूप शिव तत्त्व को देखता है ॥ २६० ॥

यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेषि तदतत्त्वमेव हि ।
किन्त्वतत्त्वमथ तत्त्वमेव वा तत्त्वमेव ननु तत्त्वमीदृशम् ।।२६१।।

यदि अतत्त्व को छोड़कर तत्त्व को प्राप्त करते हो तो वह अतत्त्व ही है। किन्तु जो भी तत्त्व अथवा अतत्त्व है वह तुम ही हो—यह तत्त्व की वास्तविक व्याख्या है ॥ २६१ ॥

प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्त्तये ।
सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्तये ।।२६२।।

प्रपञ्च से उत्तीर्ण, विश्वरूप, सदानन्द प्रकाश अनन्त शक्ति सम्पन्न स्वात्मा को नमस्कार अर्पित हो ॥ २६२ ॥

अहमस्मि चिदाह्लादसामरस्यमयः शिवः ।
सदा यदा तदेत्यादिकालेनास्म्यकलङ्कितः ॥२६३॥

मैं ही चिद् और आनन्द की समरसता रूप शिव हूँ। मैं सदा, यदा, तदा-प्रभृति काल की कलनाओं से अकलङ्कित हूँ॥ २६३ ॥

शाम्भवसमावेशः

अखण्डमण्डलाकारे प्रकाशाख्ये शिवात्मनि ।
अनुपायतया प्रोक्ते प्रवेष्टुं यश्च नार्हति ॥२६४॥
शक्तिं पश्यन्नभिन्नां स्वां स्वातन्त्र्याख्यामिमां पराम् ।
निर्विकल्पं समावेशं शाम्भवं सोप्यवाप्नुयात् ॥२६५॥

२७२ वें श्लोक तक शाम्भव-समावेश के स्वरूप का निर्वचन—

अनुपाय रूप से कहे गये अखण्डमण्डलाकार, प्रकाशरूप शिवतत्त्व में प्रवेश करने में जो असमर्थ है वह भी स्वातन्त्र्यलक्षण, परारूप स्वाभिन्न अपनी शक्ति को देखता हुआ निर्विकल्पक "शाम्भव-समावेश" को प्राप्त करे।

प्राथमिकालोचनज्ञाने निर्विकल्पेऽहमात्मनि ।
स्फुरत्तामात्ररूपे यत् साक्षात्कारतया स्फुरेत् ॥२६६॥
अनुत्तरं परं तत्त्वं त्वरितं केवलेच्छया ।
इच्छाशक्तिविकासात्मानपेक्षो ह्येवमेव यः ॥२६७॥
मोक्षलक्ष्मीसमाश्लेषरसास्वादमयो ह्ययम् ।
अभेदाख्यः समाख्यातः शाम्भवोपाय उत्तमः ॥२६८॥

जो प्राथमिक आलोचना-स्वरूप ज्ञान है, निर्विकल्प है, अहमात्मक है, जिसमें स्फुरत्ता-मात्र ही सार है उसमें प्रत्यक्षरूप से स्फुरित, अनुत्तर-संज्ञक इच्छा मात्र से त्वरित प्रोद्भासित परम तत्त्व है, जो इच्छा शक्ति के विकासरूप होने से अन्य-निरपेक्ष है, जो स्वतः मोक्षलक्ष्मी के आलिङ्गन से रसास्वादमय है, वहीं अभेद संज्ञक उत्तम शाम्भव उपाय कहलाता है॥२६८॥

अनुसन्धि विना भाति यथा भावः स्फुरद्दृशः ।
तथा स्फुटं प्रबुद्धस्य स्वेच्छयैव शिवात्मता ॥२६९॥
"यस्य संविदि विश्वोऽयं शक्त्या स्वातन्त्र्यसंज्ञया ।
प्रतिबिम्बतया भाति सैष विश्वेश्वरो ह्यहम् ॥"२७०॥
एवं यस्य परामर्शो विकल्परहितः सदा ।
प्रविभाति स एवासौ शाम्भवोपायविज्जनः ॥२७१॥
उदेति मत्त एवेदं मय्येव प्रतिबिम्बते ।
मदात्मकमिदं सर्वमित्येवं शाम्भवस्त्रिधा ॥२७२॥

जिस प्रकार खुली आँख वाले पुरुष को सावधानी के बिना ही समस्त पदार्थ का ज्ञान होता रहता है उसी प्रकार प्रबुद्ध व्यक्ति को स्वेच्छा मात्र से शिवरूपता स्पष्टतया होती है ।

"जिसकी "संविद्" (ज्ञान) में अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्ब रूप से भासित होता है वह विश्वरूप महेश्वर मैं ही हूँ ।"—ऐसा विकल्प-रहित परामर्श जिसे होता है वह शाम्भव उपाय को जान लेता है ।

"यह समस्त विश्व मुझ से ही प्रकाशित होता है", "मुझ में ही प्रतिबिम्बित होता है" तथा "मद्रूप ही है"—इस प्रकार शाम्भव उपाय तीन प्रकार का है ॥२६९-२७२॥

शिवोऽहमानन्दघनो महेशः
स्वयंप्रकाशश्च परप्रकाशः ।
परं न स्वस्मादपि किञ्चिदन्यत्
स्वयं परं सर्वमिदं यतोऽहम् ॥२७३॥

आनन्दघन परमेश्वर शिव, मैं ही हूँ । मैं स्वयं प्रकाश हूँ तथा पर का भी प्रकाशक हूँ । किन्तु दूसरा भी स्व से भिन्न अन्य कुछ नहीं है, क्योंकि मैं ही स्वयं अन्य समस्तरूप से भी भासित होता हूँ ॥२७३॥

चिज्जडयोर्भेदाशङ्कासमाधी

शिवः स्वतन्त्रः स्वयमेव भाति
चितिप्रकाश्यो हि जडो न चेतनः ।
विभाति भेदेऽपि परेऽद्वयेऽस्मिन्
कथं स्वयं सर्वमिदं जगच्चित् ॥२७४॥

चेतन तथा जड में भेद की आशङ्का तथा उसका निराकरण

चेतन शिव स्वतन्त्र तथा स्वयं प्रकाशमान है। चेतन से प्रकाशित जड चेतन हो नहीं सकता। इस प्रकार स्पष्ट भेद भासित होने पर भी चेतन ही—समस्त विश्व है—यह कैसे कहा जा सकता ?॥२७४॥

प्रकाशसम्बन्धमुपेत्य भाति
जडः प्रकाशान्नहि भिन्न एव ।
विभासमानोऽपि न भाति स्वस्मै
परं परस्मै तु चिदात्मने सः ॥२७५॥

जड, प्रकाश से सम्बद्ध होकर ही भासित होता है, प्रकाश से भिन्न होकर भासित ही नहीं होता। भासित होता हुआ भी जड अपने लिये प्रकाशित नहीं होता प्रत्युत उत्कृष्ट चिदात्मा के लिये ही भासित होता है ॥२७५॥

चिन्मात्ररूपः शिव एव सर्वान्
प्रकाशयन् भात्यसतो जडानपि ।
प्रकाशयन् दृश्यत एव योगी
वस्तुस्वरूपं ननु वस्तुतोऽसत् ॥२७६॥

चिन्मात्ररूप शिव ही असत् और जड को भी प्रकाशित करता है भासमान है। जैसे योगी असद् वस्तु को भी वस्तुरूप से प्रकाशित करते है ॥२७६॥

अपेक्षते नैव हि तत्र किञ्चित्
सृजत्युपादानदरिद्र एव ।
यथा त्वमेव स्वयमेव स्वप्ने
स्वस्मात् पदार्थान् विविधान् करोषि ॥२७७॥

योगी उपादान कारण के विना ही किसी भी वस्तु की सृष्टि (प्रकाशन) करता है, उसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता। अथवा तुम ही स्वयं स्वप्न में अपने से अनेक विध पदार्थों की सृष्टि करते ही हो।

नास्तिकमतोपस्थापनम्

जडाद् विभिन्नं चैतन्यं दृष्टं नैव न दृश्यते।
चैतन्यविलये किन्तु जड एवावशिष्यते ॥२७८॥
अतो विभिन्नोऽपि जडः स कश्चिद्
यतः सदा भिन्नतया स भाति।
स एव वा सन् परमार्थभूतः
सत्येव तस्मिंस्तु विभाति चेतनः ॥२७९॥
जडाद्विभिन्नं चैतन्यं न कुत्रापि कदाचन।
दृश्यते, दृश्यते चैव जडः सर्वैरचेतनः ॥२८०॥
पञ्चभूतात्मके विश्वे यथा पञ्चगुणा इमे।
चित् तथा भूतसंयोगादुत्पद्योत्पद्य लीयते ॥२८१॥
न प्रमाणं न वा युक्तिर्दृश्यते न प्रयोजनम्।
पुनर्जन्मापि कस्य स्याद् मरणं मोक्ष एव हि ॥२८२॥

नास्तिक-मत का उपस्थापन

जडवादी की आशङ्का है—जड से भिन्न चेतन देखा नहीं जाता और न तो किसी ने आज तक देखा है प्रत्युत चैतन्य के लय होने पर जड ही अवशिष्ट रह जाता है।

अतः चेतन से भिन्न जड भी कुछ है, क्योंकि वह सदैव चेतन से भिन्न ही भासित होता है। अथवा जड ही परमार्थतः सत्य है क्योंकि जड के रहने पर ही चेतन भासित होता है।

जड से भिन्न चेतन कभी भी कहीं पर देखा नहीं गया। अचेतन जड को सब लोग देखते हैं।

पञ्चभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) से सृष्ट विश्व में जिस तरह पाँच गुण—(शब्द, स्पर्श रूप रस गन्ध) उत्पत्ति-विनाश-शील हैं

उसी प्रकार चेतन भी भूतों के संयोग से उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है। चेतन में न तो कोई प्रमाण है, न युक्ति है, न कोई प्रयोजन है। पुनर्जन्म भी किसका होगा ? मरना ही तो मोक्ष है ॥२७८-२८२॥

एवं विप्रतिपन्नानां मूढ़ानां मोहनाशनम् ।
न भवत्येव केषांचित् स्वतर्कमनुधावताम् ॥२८३॥

इस प्रकार विरुद्ध बुद्धि वाले, केवल अपने तर्क के पीछे दौड़ने वाले मूढ़ों का मोह कथमपि विनष्ट नहीं होता ॥२८३॥

आगमस्य सर्वतो बलवत्तरं प्रामाण्यम्

अतः श्री भारते वर्षे सर्वदेशशिरोमणौ ।
प्रामाण्यमागमस्यास्ति सर्वतो बलवत्तरम् ॥२८४॥

आगम में इतरप्रमाणापेक्षया बलवत्तर प्रामाण्य का अभिधान

इसीलिये समस्त देश के मुकुटमणि "**श्रीभारतवर्ष**" में "**आगम**" को सब से प्रधान प्रमाण माना जाता है ॥२८४॥

आगमगुरुवैविध्यस्य युक्तत्वोपपादनम्

शैवः शाक्तस्तथा वेदपाञ्चरात्रादिभेदतः ।
आगमो विविधो नित्य ईश्वरेणैव दर्शितः ॥२८५॥

आगमों तथा गुरुजन में विविधता का उपपादन

शैव, शाक्त, वेद, पाञ्चरात्र आदि भेद से आगम अनेकविध है, नित्य है तथा ईश्वर द्वारा ही वर्णित है ॥२८५॥

तत्रैव पूर्वपूर्वेषां ज्ञानिनां ज्ञानसङ्ग्रहः ।
अधिकारविभेदेन ज्ञातं येन यथा च यत् ॥२८६॥

तत्तथा तत्र तेनोक्तं स्वसादृश्यमुपेयुषे ।
न ह्यक्षरमविज्ञाय पदज्ञानं हि जायते ॥२८७॥

एवं वाक्यार्थविज्ञाने पदार्थज्ञानकारणम् ।
अतः क्रमात्तु केषांचित् तत्त्वज्ञानं हि जायते ॥२८८॥

आरुह्यते परा भूमिः सोपानक्रमलङ्घनात् ।
एकस्मिन्नेव वा तीर्थे लोका आयान्ति सर्वतः ॥२८९॥
अध ऊर्ध्वतया तिष्ठत्सोपाने बहुसंख्यके ।
व्यर्था यथा तथा शास्त्रेऽप्युत्तमाधमकल्पना ॥२९०॥

उन आगमों में प्राचीन, प्राचीनतर, प्राचीनतम ज्ञानियों के ज्ञान का संग्रह है। अधिकार-भेद से जिन्होंने जैसा तथा जिस प्रकार समझा उस तथ्य को उन्होंने उसी प्रकार से आगमों में बताया है। अक्षरज्ञान के बिना पद का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् पदज्ञान में अक्षरज्ञान कारण है। उसी प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान में पद तथा पदार्थज्ञान कारण होता है। अतः किसी किसी को क्रम से तत्त्व-ज्ञान होता है। सिद्धिरूप सोपान के क्रम का लङ्घन करने के पश्चात् ऊँची भूमिका पर स्थिति होती है।

अथवा एक ही जलाशय में चारों दिशाओं से लोग आते हैं—ऐसी स्थिति में ऊपर-नीचे रूप से स्थित बहुसंख्यक सीढ़ियों में—"उत्तम कौन है? यह पहली, यह दूसरी, यह अन्तिम—इत्यादि कल्पना व्यर्थ ही है। उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष शास्त्रों में भी उत्तम, अधम की कल्पना व्यर्थ ही है ॥२८९-२९०॥

अशेषदर्शनस्य आत्मदर्शनफलकत्वम्

यथैव जीवनोपाया फलभेदविवर्जिताः ।
दृश्यन्ते विविधा लोके विविधा आगमास्तथा ॥२९१॥
आयुर्वेदादिशास्त्राणि लौकिकान्यपराणिच ।
साधनान्यपि मन्त्राणि विविधान्यानि तान्यपि ॥२९२॥
पारम्पर्यागतान्येव दृश्यन्ते स्वार्थसाधने ।
सफलानि तथा सर्वदर्शनान्यात्मदर्शने ॥२९३॥

सभी दर्शनों का प्रयोजन "आत्मदर्शन" ही है

जिस प्रकार लोक में जीने के अनेक उपाय हैं, किन्तु उनका एक ही फल है—जीना। उसी प्रकार आगम अनेक हैं किन्तु उनका फल एक ही है—"आत्मदर्शन"।

आयुर्वेदादि शास्त्र, लौकिक साधन तथा विविध मन्त्र परम्परा से ही चले आ रहे हैं। जैसे ये सब अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि में सफल देखे जाते हैं, वैसे ही सफल दर्शन "आत्मदर्शन" में सफल हैं।

यथेदं लौकिकं सर्वं शोभनं वाप्यशोभनम्।
यथागतं प्रकुर्वाणाः प्राप्नुवन्त्येव तत्फलम् ॥२९४॥
तथाध्यात्मविचारे ये प्रवर्तन्ते मनीषिणः।
लभन्ते तत्फलं मोक्षं यल्लोकैरतिदुर्लभम् ॥२९५॥

जिस प्रकार अच्छे या बुरे लौकिक कर्म को करने वाले लोग उसके फल को अवश्यमेव प्राप्त करते हैं उसी प्रकार जो मनीषी लोग अध्यात्म विचार में प्रवृत्त होते हैं वे उसके परम फल मोक्ष को प्राप्त करते हैं, जो साधारण मनुष्य के लिये अत्यन्त दुर्लभ है ॥२९४-२९५॥

श्रद्धाया आवश्यकत्वम्

कृतकृत्योऽपि पूर्णोऽपि सर्वविच्चापि निष्क्रियः।
लोकैरालोक्यते लोके वर्तमानो महाँल्लघुः ॥२९६॥
लोकाचारसमायुक्तो दुःखी गर्वसमन्वितः।
तदज्ञाननिरासार्थं संशयापन्नचेतसाम् ॥२९७॥
विहिता शास्त्रगुर्वादौ श्रद्धा मातेव पालिका।
यया विना न कस्यापि कोऽप्यर्थः सिध्यति क्वचित्॥२९८॥

श्रद्धा की उपयोगिता

कृतकृत्य, पूर्ण, सर्वविद् तथा निष्क्रिय ज्ञानी को भी सामान्य जन— लोक में वर्तमान, अत्यन्त लघु, लोकाचार से युक्त, दुःखी तथा गर्वयुक्त समझते हैं। इस प्रकार सन्देह करने वालों के अज्ञान का विनाश करने हेतु शास्त्र, गुरु आदि में श्रद्धा का विधान किया गया है। श्रद्धा माता के समान रक्षिका है। इसके विना कहीं भी किसी भी व्यक्ति को लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता ॥२९६-२९८॥

श्रद्धायाः स्वरूपम्

तत्प्रतिपादितेऽर्थे या निश्चयात्मा दृढ़ा मतिः।
सा श्रद्धा निश्चयात्माऽन्यन्निघ्नन्ती हन्ति संशयम् ॥२९९॥

श्रद्धा के स्वरूप का अभिधान

शास्त्र तथा गुरु द्वारा बताये गये वस्तु में निश्चयात्मक दृढ़ मति ही श्रद्धा है। निश्चयात्मक ज्ञान रूप श्रद्धा विरोधी ज्ञान का विनाश करती हुई संशय को विनष्ट कर देती है।

जैसे—यह स्थाणु है या नहीं ? इस सन्देह की एक कोटि का निश्चय-"यह स्थाणु है" अपने विरोधी—"यह स्थाणु नहीं है"—का विनाश कर उक्त सन्देह को विनष्ट कर देता है।

न महाननुकर्तव्यः कर्मशुद्धिर्हि दुर्लभा।
महद्गीरनुसर्तव्या सर्वथा भूतिमिच्छता ॥३००॥

महापुरुष का अनुकरण कभी भी नहीं करना चाहिये क्योंकि कर्म की शुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है। अतः सर्वथा कल्याण चाहने वाले व्यक्ति महापुरुष की वाणी का अनुसरण करें ॥३००॥

लौकिकमपि ज्ञानं गुरुसापेक्षम्

अयं हि सकलो लोको यथा वेत्ति च पश्यति।
ज्ञानं तदेव चेज्ज्ञानं दर्शनं दर्शनं भवेत् ॥३०१॥
तदा शास्त्रस्य विदुषो नास्ति किञ्चित् प्रयोजनम्।
अतो लोकस्य तज्ज्ञानं लौकिकं न त्वलौकिकम् ॥३०२॥
यदि स्वस्मात् स्वयं नेदं ज्ञानं लोकस्य लौकिकम्।
अन्यस्माज्जायते वृद्धात् किन्तदा यदलौकिकम् ॥३०३॥
बालकस्यापि यज्ज्ञानं दृश्यस्य व्यवहारतः।
व्यवहर्तास्ति तत्रापि भिन्न एव पुरातनः ॥३०४॥

लौकिक ज्ञान में भी गुरुसापेक्षता

साधारण लोग जिस तरह समझते तथा देखते हैं, वहीं यदि वास्तविक ज्ञान तथा दर्शन हो तो शास्त्र एवं विद्वान् का कोई प्रयोजन (आवश्यकता) ही नहीं होगा। अतः लोगों का वह ज्ञान लौकिक ही है न कि अलौकिक।

जब लौकिक ज्ञान भी लोगों को स्वयं नहीं हो पाता प्रत्युत वृद्ध एवं अनुभवी लोगों द्वारा बताये जाने पर होता है, तो अलौकिक ज्ञान भला स्वयमेव कैसे हो सकता है ?

बालक को भी व्यवहार द्वारा जो दृश्य पदार्थों का ज्ञान होता है, उसमें भी व्यवहार करने वाले अन्य बूढ़े की अपेक्षा रहती ही है।
॥३०१-३०४॥

नारायणसखस्यापि धर्मानुजनरस्य चेत्।
सम्मोहो जायते कृत्ये का कथाऽन्यस्य जन्मिनः॥३०५॥

साक्षात् नारायण के मित्र और धर्मावतार युधिष्ठर के अनुज अर्जन को भी अपने कर्तव्य में मोह हो जाता है तो अन्य लोगों की क्या गणना ॥३०५॥

आगमेषु गुर्वादौ च भेदस्यैव युक्तत्वादि

अदृश्यविषयज्ञानी वृद्ध आप्तश्च यत्र यः।
स तत्र गुरुरित्युक्तो देशकालानुसारतः॥३०६॥

इत्यागमेषु गुरुषु दृश्यमाना भिदापि या।
सा गुणाय न दोषाय यथाज्ञजनकल्पनम्॥३०७॥

आगम तथा गुरुजन की विविधता की युक्तता

जो व्यक्ति जहाँ अदृश्य विषय का वेत्ता वृद्ध तथा आप्त हैं, वे ही वहाँ पर देश-काल के अनुसार गुरु कहलाते हैं।

अतः आगमों तथा गुरु-जन में जो अनेकता देखी जाती है, वह गुण ही है। अज्ञलोगों की कल्पना के अनुसार इसे दोष नहीं कहा जा सकता॥३०६-३०७॥

अत्रागमः

उक्तं श्री परमेशेन देवीं प्रत्यत एव हि।
चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने॥३०८॥

व्याधिभेदाद् यथा भेदो भेषजानां महौजसाम्।
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति॥३०९॥
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्॥३१०॥

उपर्युक्त विषयका आगमन द्वारा समर्थन

अतः एव आगम में महादेव ने देवी से कहा है—"विभिन्न चित्त वाले मनुष्यों के लिये शास्त्र भी विभिन्न प्रकार के हैं। अत्यन्त तेजस्वी औषधियों का भी तो भिन्न–२ रोगों में भिन्न–२ उपयोग ही होता है।

जैसे एक दवा को जानकर समस्त रोगों का निदान सम्भव नहीं वैसे ही एक हेतु (ज्ञान) के अवलम्बन से हरेक परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता है ॥३०८-३१०।१॥

अतोऽधिकारिणं भिन्नं भिन्नमुद्दिश्य वर्तते ॥३१०॥
शास्त्रं गुरुश्च विविधं स्वसंविदुपकारकम् ।
किन्तु शास्त्रं न मूढ़ाय द्विषते गुरुशास्त्रयोः ॥३११॥

अतः विभिन्न अधिकारियों के उद्देश्य कर स्वसंविद् के उपकारक विभिन्न शास्त्र तथा गुरु हैं। किन्तु गुरु तथा शास्त्र से द्वेष करनेवाले मूढ़ व्यक्ति के लिये हेतु शास्त्र सफल नहीं होता ॥३१०-३११।२

स्वसंवेदनस्यैव वस्तुतः शास्त्रत्वम् तद्धीना एव शङ्कन्ते

संवेदनं परं शास्त्रं स्वीयं संशयनाशकम् ।
तद्धीना एव शङ्कन्ते नराकारा अबुद्धयः ॥३१२॥

यदि किञ्चित् परं तत्त्वं तथ्यमेकं शिवात्मकम् ।
भवेत्तदा मुनिः सर्व एकमेव तथा वदेत् ॥३१३॥

यतो न किञ्चिदस्तीह तत्त्वमेकं व्यवस्थितम् ।
ततो वै मुनयः सर्वे भिन्नं भिन्नं व्यकल्पयन् ॥३१४॥

वस्तुतः स्वसंवेदना की शास्त्रता तथा संवेदन हीन व्यक्ति की संशयालुता का प्रतिपादन

स्व-संवेदन ही संशय का विनाश करने वाला उत्कृष्ट शास्त्र है। स्वसंवेदन से विहीन, बुद्धि विवेक-शून्य नराकार पशु ही शङ्का किया करते हैं—"यदि शिवस्वरूप कोई एक परमतत्त्व सत्य होता तो समस्त मुनि एक ही शिवात्मक तत्त्व कहते। यतः कोई एक व्यवस्थित तत्त्व नहीं है अतः एव समस्तमुनियो ने विभिन्न तत्त्वों की कल्पना की हैं।" ॥३१२-३१४॥

तच्छङ्कापनोदनार्थं भगवती स्तुतिः

इत्थं विकल्पयन्तो ये हतया स्वमनीषया ।
श्रद्धाविप्रुड्विरहिताः सन्ति पण्डितमानिनः ॥३१५॥

तानहं न समर्थोऽस्मि पशून् पाशेन पाशितान् ।
उपकर्तुमतः खिद्यन् याचे तां परमेश्वरीम् ॥३१६॥

यदनुग्रहमासाद्य विवेकोन्मुखतां पुनः ।
लभते सद्य एवासौ विपाशितपशुव्रजः ॥३१७॥

स्वसंवेदनहीन जनों के ऊपर शक्तिपातपुरःसर उनकी शङ्काओं के विनाश हेतु भगवती की स्तुति

उपरोक्त प्रकार से जो लोग अपनी मारी गई बुद्धि से विकल्प करने वाले, श्रद्धा-लव से विहीन, स्वयं को पण्डित समझने वाले हैं—अज्ञान रूप बन्धन में बँधे हुए उन पशुओं का उपकार (प्रत्यभिज्ञापन) करने में असमर्थ मैं खिन्न होकर शक्तिरूपा परमेश्वरी से याचना करता हूँ, जिनके अनुग्रह को प्राप्त कर पशु-समूह सद्यः (तत्काल) अज्ञानरूप बन्धन से रहित होकर विवेकोन्मुख होता है ॥३१५-३१७॥

तस्यै नमः कल्पितसृष्टिमुक्त्यै
नक्तं दिवं मोहविवेकधात्र्यै ।
सुखप्रदायै ह्यसुखप्रहर्त्र्यै
देव्यै च काल्यै कलनात्मिकायै ॥३१८॥

भगवत्याः स्वरूपादि

३२८ वे श्लोक तक भगवती के स्वरूप, स्तुति तथा फल का अभिधान

उस परम शक्ति को नमस्कार अर्पित हो, जिसने सृष्टि तथा मुक्ति दोनों की कल्पना की है, जो दिन-रात (सर्वदा) मोह और विवेक को धारण करने वाली है, सुखदायिनी तथा दुःखहारिणी है और जो अपनी ही कलना रूप काली है ॥३१८॥

कालि ! त्वदीयचरणौ विधृतौ मयेमौ
सर्वं शुभं मम विधास्यत एव नूनम् ।
यत्स्पर्शतस्तु शवतामपहाय तूर्णं
प्राप्ता हरेण शिवतापि महत्त्वपूर्णा ॥३१९॥

हे कालिके ! मेरे द्वारा पकड़े गये ये दोनों तुम्हारे चरणारविन्द निश्चय ही मेरे समस्त कल्याण का सम्पादन करेंगे । जिस चरण-कमल-द्वय के स्पर्श-मात्र से "हर" ने अतिशीघ्र शवरूपता का त्याग कर महत्त्वपूर्ण "शिवता" को प्राप्त किया ॥३१९॥

यावच्छरण्यं तव पादपङ्कजं
जनो न गृह्णाति विपत्तिवारकम् ।
तावद् भ्रमन् वै व्यथते भवाब्धौ
विकल्पनोर्म्येव विचाल्यमानः ॥३२०॥

जब तक मनुष्य तुम्हारे विपत्ति-निवारक, शरणागतरक्षक चरणकमल नहीं पकड़ता तब तक विकल्पनारूप तरङ्गों से विचलित किया जाता हुआ, संसार-सागर में भटकता हुआ व्यथित होता रहता है ॥३२०॥

याचे कथं त्वां परिहाय चान्यं
दातापि को वास्ति समस्तसम्पदः ।
शर्वोऽपि सर्वार्थविधानशक्तिं
त्वामेव नित्यं वनुतेऽन्नपूर्णे ! ॥३२१॥

तुमको छोड़कर अन्य से कैसे याचना करूँ ? समस्त सम्पत्ति का दाता और है भी कौन ? हे अन्नपूर्णे ! भगवान् शङ्कर भी सदा तुम से ही समस्त पदार्थ का विधान करने वाली शक्ति (क्षमता) की याचना करते हैं ॥३२१॥

स्मृतं त्वदीयं चरणाम्बुजन्म
निहन्ति चिन्तां हि समूलघातम् ।
कथं जनस्त्वच्चरणारविन्दं
चित्ते चिरं चिन्तयतीति चित्रम् ॥३२२॥

स्मरण किया गया तुम्हारा चरणारविन्द चिन्ता का जड-मूल से विनाश कर देता हैं। फिर भी मनुष्य तुम्हारे चरणारविन्द को चिर काल तक चित्त में कैसे चिन्तन करता रहता है ? यह तो परम आश्चर्य है ॥३२२॥

मातः स्तनन्धयसुतस्तु बुभुक्षितोऽपि
ब्रूते न किञ्चिदपि नैव विचेष्टतेऽपि ।
किन्तु त्वमेव कुरुषे ननु तस्य चिन्तां
चिन्ताविहीनमनसः स्मरणं कुतस्ते ॥३२३॥

हे मातः ! स्तन-पान करने वाला बच्चा भूख लगने पर भी न तो कुछ बोलता और न तो किसी प्रकार की चेष्टा ही करता है। किन्तु तुम ही उसकी चिन्ता रखते हो। चिन्ता से विहीन मन वाला तुम्हारी याद कैसे कर सकता है ? ॥३२३॥

त्वं याच्यमाना न ददासि कस्मै ?
धन्यो जनः कोपि स याचते त्वाम् ।
त्वां याचमानस्य तु याचकत्वं
निःशेषतामेति मयेत्यवाप्तम् ॥३२४॥

याचना की जाने पर तुम किसको क्या नहीं देती हो ? विरले ही धन्य हैं, जो तुमसे याचना करते हैं। मैं (ग्रन्थकार) ने तो यह स्पष्ट देखा कि तुमसे याचना करने वालों की याचकता ही समाप्त हो जाती है ॥३२४॥

ललितं तव पादपङ्कजं
कलितं येन जनेन सादरम् ।
समवापि तु तेन वैभवं
सकलं लौकिकमप्यलौकिकम् ॥३२५

जिसने तुम्हारे ललित चरणारविन्द का श्रद्धया आकलन (सेवन) किया, लौकिक तथा अलौकिक समस्त वैभव को प्राप्त कर लिया ॥३२५॥

अतः परं किन्नु भवेच्च भाग्यं
जनस्य कस्यापि च मादृशस्य ।
समस्तसम्पत्प्रविकासशालि–
स्मृतिर्यदेषा स्वरसा चकास्ति ॥३२६॥

मादृश लोगों का इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या होगा कि समस्त सम्पत्ति के सम्यग् विकास सुशोभित होने वाली यह स्मृति स्वरसतः देदीप्यमान हो रही है। अर्थात् अपना विश्वमय रूप दीख रहा है ॥३२६॥

नित्यं सुखं बत विहाय पदं जनन्या
भ्रान्त्या भ्रमन्त्यतितरां हि विकल्पजाले ।
आजन्मतो विविधकृच्छ्रत उद्धरन्त्याः
पश्यन्ति ये नहि कृपां जगदम्बिकायाः ॥३२७॥

वे लोग जननी के नित्यसुखधाम चरणारविन्द का त्याग कर भ्रान्ति के विकल्प-समूह में बुरी तरह भटकते रहते हैं, जो जन्म से ही अनेक प्रकार के कष्टों से उद्धार करती हुई जगदम्बा की कृपा को नहीं देखते ॥३२७॥

यस्याः शान्तौ शान्तिमभ्येति लोकः
क्षोभे क्षोभं क्षीणतां क्षीणतायाम् ।
विश्वाराध्यां स्वात्मसंवित्तिमेकां
वन्दे देवीं कामये विश्वसिद्धिम् ॥३२८॥

समस्त लोक जिसकी शान्ति होने पर शान्ति प्राप्त करता है, क्षोभ होने पर क्षोभ प्राप्त करता है।

क्षीण होने पर क्षीण होता है तथा जो सब के आराध्य हैं, उस स्वात्मसंविद एक मात्र देवी की मैं वन्दना करता हूँ और सब लोगों की सिद्धि की कामना करता हूँ ॥३२८॥

दुस्तर्कपथप्रवृत्तिं निषिध्य शास्त्रस्य सत्पथत्वोपसंहरणम्

निषिध्य दुस्तर्कपथे प्रवृत्तिं
प्रदर्श्य शास्त्रस्य च सत्पथत्वम् ।
अथोच्यते शक्तिविलोकनाय
परम्पराप्राप्तगुरूपदेशः ॥३२९॥

दुस्तर्कमार्ग का निषेध कर शास्त्र का सत्पथत्व प्रदर्शन

दुस्तर्क मार्ग में प्रवृत्ति का निषेध कर तथा शास्त्रीय सन्मार्ग को दिखाकर सम्प्रति अपनी शक्ति विलोकन हेतु परम्परया प्राप्त गुरु के उपदेश को बताता हूँ ॥३२९॥

प्रतिबिम्बोपपादनम्

भावजातमिदं सर्वं चिद्व्योम्नि प्रतिबिम्बितम् ।
केवलं स्वीयशक्त्यैव बिम्बाभावेऽपि दृश्यते ॥३३०॥

३६१ वें श्लोक तक बिम्बाभाव में भी चिदाकाश में वस्तुमात्र की प्रतिबिम्बरूपता का अभिधान

ज्ञायमान पदार्थ मात्र चिदाकाश में प्रतिबिम्बित हैं। बिम्ब के बिना ही स्वशक्ति द्वारा इनका प्रतिबिम्ब होता है।

तत्र शङ्का

प्रतिबिम्बस्य बिम्बन्तु कारणं, तदभावतः ।
किमुच्यते प्रतिबिम्बं बुद्ध्यते न तवाशयः ॥३३१॥

सत्त्वमिष्टं तु कार्यस्य किमसत्यपि कारणे ! ।
असत्त्वे कारणस्यापि सत्त्वं कार्यस्य नो मतम् ॥३३२॥

बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब की अनुपपत्ति की आशङ्का

प्रतिबिम्ब का कारण है—बिम्ब उसके अभाव में प्रतिबिम्ब होता है—यह क्या कहते हो। तुम्हारा आशय समझ में नहीं आता। क्या कारण के अभाव में भी कार्य की सत्ता तुम्हें अभिलषित है ? ॥३३१-३३२/१॥

तत्समासाधनम्

प्रतिबिम्बस्य बिम्बन्तु कारणं समवायि न ।
निमित्तकारणं तच्च नियतं नैव कुत्र चित् ॥३३३॥

अत एव बिना दण्डं हस्तेनैव भ्रमिर्यथा ।
स्मृतिशक्त्या तथा क्वापि दृश्यते दयिताकृतिः ॥३३४॥

पूर्वोक्त शङ्का का समाधान

कारण के अभाव में कार्य की सत्ता हमें इष्ट नहीं है। किन्तु बिम्ब, प्रतिबिम्ब का समवायिकारण नहीं अपि तु निमित्तकारण है। और निमित्तकारण किसी कार्य के प्रति नियत (स्थिर) नहीं होता। इसी लिए तो घड़ा की उत्पत्ति में अपेक्षित चक्रभ्रमि (चाक का घुमाना) दण्ड के बिना हाथ से भी देखी जाती है और स्मृति शक्ति द्वारा ही कामी अथवा कामिनी अपने प्रिय को देख लेते हैं ॥३३२/२-३३४॥

लक्षणसमन्वयः

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं किमुच्यते ?
किं कुर्मो घटते यस्मात् प्रतिबिम्बस्य लक्षणम् ॥३३५॥

लक्षण समन्वय पुरःसर बिम्ब के बिना भी प्रतिबिम्ब का उपपादन

"बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब है—"यह क्या कहते हो। क्या करूँ, प्रतिबिम्ब का लक्षण समन्वित हो रहा है।

स्वतन्त्रमन्यामिश्रं सद् भासते स्वयमेव यत्।
बिम्बं तदुच्यते लोके प्रतिबिम्बमतोऽन्यथा ॥३३६॥
अन्यव्यामिश्रितत्वेन भासते न स्वतः स्वयम्।
नच नैवास्ति दृश्यत्वाज्जगच्चेदं तथैव हि ॥३३७॥
बोधव्यामिश्रितं विश्वं बोधाद्भिन्नं न भासते।
भासते बोधसंलग्नं प्रतिबिम्बमतो भवेत् ॥३३८॥

जो स्वतन्त्र है, अन्य में मिश्रित (मिला) न हो तथा स्वयं प्रकाशमान हो, उसे बिम्ब कहा जाता है। इसके विपरीत प्रतिबिम्ब कहलाता है। वह अन्य से मिला हुआ है तथा स्वयमेव भासित नहीं होता है। दृश्य होने से अत्यन्त अभाव स्वरूप प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। यह संसार भी प्रतिबिम्ब ही है। क्योंकि यह ज्ञान से व्यामिश्रित है, ज्ञान से भिन्न भासित नहीं होता प्रत्युत ज्ञान से संलग्न होकर ही भासित होता है अतः "प्रतिबिम्ब" है। ३३६-३३८॥

एकत्र विरुद्धानेकप्रतिबिम्बावस्थानम्

भावा भान्ति यथादर्शे निर्मलेऽपि विरोधिनः।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्वसंचयाः ॥३३९॥

स्वतन्त्रः परिपूर्णोऽयं भगवान् भैरवो विभुः।
तन्नास्ति यन्न विमले भासयेत् स्वात्मदर्पणे ॥३४०॥

एक ही आश्रय में परस्पर विरोधी प्रतिबिम्बों के अवस्थान का अभिधान

जैसे दर्पण में अग्नि-जल आदि विरोधी पदार्थ मिश्रित हुए बिना ही भासित होते हैं, उसी प्रकार स्वच्छतम चेतन में समस्त पदार्थ पृथक्तया भासित हो रहे हैं।

स्वतन्त्र, परिपूर्ण, ऐश्वर्यादि सम्पन्न व्यापक भगवान् भैरव, ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे स्वात्मदर्पण में भासित न करता हो ॥३३९-३४०॥

निमित्तप्रदर्शनम्

जडे जडस्य भिन्नस्य भानं बिम्बमपेक्षते।
चैतन्ये तदभिन्नस्य भानं स्वातन्त्र्यशक्तितः ॥३४१॥

जडे जडस्य भाने तु निमित्तं बिम्बमेव हि।
अजडस्याजडे भाने निमित्तं शक्तिरेव हि ॥३४२॥

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में निमित्त भेद प्रदर्शन

जड दर्पणादि में अपर मुखादि जड के (प्रतिबिम्बतया) भान में बिम्ब की अपेक्षा होती है। चेतन में चेतनाभिन्न पदार्थ का ज्ञान चेतन की स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा (बिम्ब के विना ही) होता है।

जड में अपर जड के भान में "बिम्ब" निमित्तकारण है तथा चेतन में चेतनाभिन्न समस्त (भाव-जात) के भान में "स्वातन्त्र्यशक्ति" ही कारण है ॥३४१-३४२॥

नहि प्रकाशाद् भिन्नः सन्नप्रकाशः प्रकाशते।
संविल्लग्नः प्रकाशात्मा विमर्शेन विभेदितः ॥३४३॥

अतो विमर्शशक्त्यैव स्वस्मिन्नेव स्वयं प्रभुः ।
भासयत्यखिलं विश्वं पृथग्भूतमिवापृथक् ॥३४४॥
प्रकाशमान आत्मायं सर्वरूपेण भासते ।
यद् यत् प्रकाशते किञ्चित् तत् तत् स्वातन्त्र्य-
जृम्भितम् ॥३४५॥

प्रकाश से भिन्न होकर "अप्रकाश" भी प्रकाशित नहीं होता किन्तु संविद् में संलग्न प्रकाश रूप पदार्थ विमर्श द्वारा विच्छिन्न (भेदित) होता है।

अतः स्वात्मदेव स्वयं अपने में ही स्वविमर्श शक्ति द्वारा अपृथग्भूत समस्त विश्व को पृथक् सा भासित करता है।

प्रकाशमान स्वात्मा ही विश्वरूप से भासित होता है। जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है वह सब स्वस्वातन्त्र्य का ही तरंग है।

स्वातन्त्र्यशक्तेः महत्त्वम्

अभिन्नं भिन्नयन्तीयमेकयन्ती बहून् पुनः ।
जडयन्ती चिदात्मानं शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा ॥३४६॥
अनया परया शक्त्या वाच्यवाचकरूपया ।
अकारादिक्षकारान्तवर्णविग्रहरूपया ॥३४७॥
शिवाद्यपि धराद्यन्तं धराद्यपि शिवान्तकम् ।
स्थूलं सूक्ष्मं परं रूपं वर्णमन्त्रपदात्मकम् ॥३४८॥
पुरतत्त्वकलारूपं कालदेशाध्वसंज्ञकम् ।
भासयन् सप्तमात्रात्मा भवन् भाति महेश्वरः ॥३४९॥

स्वातन्त्र्य-शक्ति का महत्त्व

अभिन्न को भिन्न बनाती हुई, पुनश्च बहुतों को एक बनाती हुई तथा चिदात्मा को जड बनाती हुई स्वातन्त्र्य-शक्ति विराजमान है।

"अ"कार से लेकर "क्ष"कार पर्यन्त ५० वर्ण रूप शरीर वाली वाच्य-वाचक-रूपा इसी परा शक्ति द्वारा शिवतत्त्व से धरातत्व पर्यन्त

को तथा धरातत्त्व से शिवतत्व पर्यन्त को, स्थूल-सूक्ष्म-पर रूप वर्ण मन्त्र-पद को और पुर-तत्त्व-कला रूप कालाध्वा-देशाध्वा को भासित करता हुआ सप्त प्रमातृतापन्न महेश्वर स्वयं भासमान हो रहा है। ।।३४६-३४९।।

यथा निर्मलरूपे हि रूपस्य प्रतिबिम्बनम् ।
तथैव निर्मलस्पर्शे स्पर्शस्य प्रतिबिम्बनम् ।।३५०।।

दन्तोदके रसस्यापि स्पर्शस्यानन्दधामनि ।
घ्राणे गन्धगुणस्यापि प्रतिबिम्बं कदाचन ।।३५१।।

इत्थमेव च कूपादौ प्रतिश्रुत्कादिरूपतः ।
प्रतिबिम्बतया दृष्टं शब्दस्याप्यवभासनम् ।।३५२।।

दर्पणे रूपसंस्थानं केवलं प्रतिबिम्बते ।
न तु स्पर्शगुरुत्वादि तच्च तत्रास्त्यनिर्मलम् ।।३५३।।

दर्पणं सुन्दरं दृष्ट्वा कान्तेन प्रतिबिम्बितम् ।
स्पृशन्ती कुचकुम्भाभ्यां न तृप्येत् कापि कामिनी ।।३५४।।

जैसे निर्मलरूप वाले दर्पणादि में ही रूप का प्रतिबिम्बन होता है, वैसे ही निर्मल स्पर्श वाले आनन्दधाम जननेन्द्रिय में ही स्पर्श का प्रतिबिम्बन होता है। एवं दन्त-जल में रस-प्रतिबिम्बन तथा घ्राण में गन्ध-प्रतिबिम्बन होता है। इसी प्रकार कदाचित् कूप आदि में प्रतिबिम्ब रूप से शब्द का अवभास होता है जिसे प्रतिध्वनि कहा जाता है।

दर्पण में केवल रूप ही प्रतिबिम्बित होता है न कि स्पर्श, गुरुत्व आदि। क्यों कि दर्पण में केवल निर्मल रुप ही है, स्पर्श आदि नहीं। अत एव अपने स्वामी से प्रतिबिम्बित दर्पण को देखकर कोई कामिनी अपने कुचकलशों से दर्पण का स्पर्श कर तृप्ति (स्पर्श सुख) नही पा सकती ।।३५०-३५४।।

नैर्मल्यं यस्य यत्रास्ति तच्च तत्रावभासते ।
सर्वनैर्मल्यसम्पन्ने चिद्रूपे सर्वमेव हि ।।३५५।।

बोधः स्वीयविमर्शेन भासितं स्वात्मनात्मनि ।
परामृशति वैचित्र्यं न पुनर्मुकुरो जडः ।।३५६।।

जिस शब्दादि का नैर्मल्य जहाँ होता है वहीं उसका प्रतिबिम्ब होता है। अत एव सर्वनैर्मल्य सम्पन्न चिद्रूप दर्पण में सब वस्तु प्रतिबिम्बतया भासित होती है।

बोध स्व में स्वयं स्वविमर्श द्वारा प्रतिभासित वैचित्र्य का परामर्श (अनुभव) करता है किन्तु जड दर्पण विमर्श-रहित होने से परामर्श नहीं कर पाता ।।३५५-३५६।।

वेद्यतायास्तारतम्यं भजते स्फुटता यथा ।
आयाति क्रमशस्तत्र स्वच्छत्वस्यापि मन्दता ।।३५७।।
पृथिव्यां सर्ववेद्यायां वेद्यतातिस्फुटा यथा ।
अनुमानैकसंसिद्धे खे तथा न परिस्फुटा ।।३५८।।

जैसे-जैसे वेद्यता की स्फुटता का तारतम्य होता है वैसे-वैसे पदार्थ में स्वच्छता मन्द पड़ने लगती है। सर्ववेद्य पृथिवी में जैसी स्फुट वेद्यता है, अनुमानमात्र गम्य आकाश में वैसी स्फुट वेद्यता नहीं है ।।३५७-३५८।।

गुणशब्देन वाच्यायास्तन्मात्राया यथा यथा ।
क्रमेण वृद्धिर्ह्रासो वा स्फुटताऽस्फुटता च सा ।।३५९।।

गुण संज्ञक तन्मात्रा की क्रमशः जैसे-२ वृद्धि होती है तथा ह्रास होता है वैसे-२ ही क्रमशः स्फुटता तथा अस्फुटता होती है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश में पूर्व-पूर्व में तन्मात्रा की क्रमिक वृद्धि होने से वेद्यता अस्फुट हो जाती है ।।३५९।।

परामृतरसं रूपं स्थितमप्यपरामृशन् ।
सद्योऽस्वतन्त्रतामेति स्वातन्त्र्यं च परामृशन् ।।३६०।।

शब्दराशिसमुत्थेन प्रत्ययेन प्रतारितः ।
मायाविलुप्तविभवः शम्भुरेव पशुः स्मृतः ।।३६१।।

सर्वदा स्थित परामृतरस स्वस्वरूप का परामर्शन नहीं करता हुआ तत्क्षण अस्वतन्त्र (पराधीन) हो जाता है तथा उसका परामर्शन करता हुआ स्वतन्त्र हो जाता है।

शब्दराशि से उत्पन्न ज्ञान से प्रतारित होकर माया द्वारा स्ववैभव के खोने पर शम्भु ही पशु (जीव) कहलाता है ॥३६०-३६१॥

गोप्यं च गूढ़गहनं प्रतिबिम्बतत्त्वं
स्पष्टं विधाय सुलभं सुधियाऽधिगम्यम्।
इत्थं यया ततमिदं सकलं विचित्रं
तां नौम्यहं प्रकटयन्नहमात्मशक्तिम् ॥३६२॥

गोपनीय, गूढ़ातिगूढ़, विद्वन्मात्रगम्य, प्रतिबिम्ब-रहस्य को सुलभ एवं स्पष्टतया कह कर अहमात्मक शक्ति को प्रकट करता हुआ उसे प्रणाम करता हूँ, जिस शक्ति द्वारा यह विचित्र संसार विस्तृत होता है ॥३६२॥

चेतनस्याहमात्मकविमर्शशक्त्यवियुक्तत्वनिरूपणम्

अहं चापि त्वमेवासि चेतनोऽहंविमर्शकः ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं भासयन्नप्यभेदकः ॥३६३॥

विमर्शरहितः कश्चिच्चेतनो न भवेत् क्वचित् ।
अपि सर्वः स्वमात्मानं विमृशन्नेव चेतनः ॥३६४॥

सुषुप्तौ वा समाधौ वा तुर्यातीतेऽपि चेतनः ।
स्वानन्दामर्शरहितजडो न भवितुं क्षमः ॥३६५॥

चेतन की अहमात्मक विमर्शशक्ति से अवियोग का अभिधान

अहं रूप शक्ति और अहमात्मक विमर्श करने वाला चेतन तुम ही शक्ति तथा शक्तिमान् में भेद-भासन करने पर भी इन दोनों का अभेदक हो।

कहीं भी कोई भी चेतन विमर्श-रहित नहीं होता, अपि तु "मैं हूँ" ऐसा विमर्श करता हुआ ही चेतन स्थित है।

सुषुप्ति, समाधि, तुर्य अथवा तुर्यातीत में भी चेतन स्वानन्द विमर्श से शून्य जडरूप नहीं हो सकता ॥३६३-३६५॥

तत्र विमर्शशून्यब्रह्मवादिमत निराकरणम्

स्वात्मावमर्शशून्या चित् सम्मता ब्रह्मवादिनाम् ।
विमर्शविरही नास्ति प्रकाशो विश्ववादिनाम् ।।३६६।।

अशक्तं निष्क्रियं शान्तं शुद्धं सन्मात्रमद्वयम् ।
अवाच्यं निर्गुणं लक्ष्यं ब्रह्मोक्तं शून्यसोदरम् ।।३६७।।

पुनः काचिदनिर्वाच्या सदसद्भ्यां विलक्षणा ।
तुच्छाऽपि विद्यया नाश्याऽविद्याऽध्यासप्रयोजिका ।।३६८।।

स्वीकृताऽनादिरज्ञानं जीवेश्वरविभागकृत् ।
आश्रयो विषयोऽप्यस्य चित् ततो जीव ईश्वरः ।।३६९।।

":विमर्श-शून्य-ब्रह्म" वादी के मत का उपस्थापन पुरःसर खण्डन

ब्रह्मवादी = वेदान्ती का "चेतन" स्वपरामर्शरहित सम्मत है इसके विपरीत विश्ववादी = शैव का प्रकाशाख्य चेतन विमर्श रहित नहीं है।

वेदान्ती लोग शक्तिहीन, क्रियाहीन, शान्त, शुद्ध, सन्मात्र, अद्वैत, अवाच्य तथा निर्गुण "ब्रह्म" मानते हैं, जो शून्यकल्प ही है। पुनश्च अनिर्वचनीय,- सद् और असद् से विलक्षण यत्किञ्चिद् "अविद्या" की कल्पना करते हैं। यह अविद्या तुच्छ है, विद्या द्वारा निवर्त्य है तथा अध्यास कराने वाली है। यह अविद्या ही जीव और ईश्वर का विभाजक अनादि अज्ञान है। इसका आश्रय तथा विषय चेतन ही है, उसी से जीव तथा ईश्वर दोनों का विभाजन होता है ।।३६६-३६९।।

किन्तु प्रकाशाद् भिन्नस्य तुच्छस्याप्यप्रकाशिनः ।
कथं सिद्धिः कृता विद्भिर्भेदाभेदासहिष्णुनः ।।३७०।।

सन्मात्रं चिन्मयं ब्रह्म सावमृष्टं हि विद्यते ।
यतः सन्मात्रताऽप्यस्य विनामर्शं न सिद्ध्यति ।।३७१।।

स्फटिकादिर्जडो दृष्टस्तत्तदर्थावभासकः ।
निर्विमर्शः प्रकाशोऽपि जड एव न चिद् भवेत् ।।३७२।।

परन्तु प्रकाश से भिन्न अप्रकाशवाली तुच्छ अविद्या की सिद्धि विद्वान् वेदान्तियों ने कैसे कर ली? जो न तो प्रकाश से भिन्न है और न तो अभिन्न ही। सन्मात्र चिन्मय ब्रह्म विमर्श से युक्त ही है, क्योंकि विमर्श के विना उसकी सन्मात्रता भी सिद्ध नहीं हो सकती। अर्थात् सन्मात्रता भी सिद्ध नहीं हो सकती। अर्थात् सन्मात्रता के अनुभव बिना "ब्रह्म सन्मात्र है" यह कैसे कहा जा सकता?

पदार्थो का प्रतिबिम्बरूपेण अवभासन करने वाला स्फटिक, दर्पण आदि विमर्शशून्य होने से जड़ है। पदार्थों का अवभासक प्रकाशाख्य शिव भी निर्विमर्श होगा तो तुल्य-युक्ति से जड़ होगा, चेतन नहीं। ॥३७०-३७२॥

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
सा स्फुरत्ता तथोन्मेषः स्पन्दोऽहमिति चोच्यते ॥३७३॥

स्वरसतः उदित चेतन ही प्रत्यवमर्श रूप परावाणी है, वही "स्फुरता" "उन्मेष" "स्पन्द" तथा "अहम्" कहलाती है ॥३७३॥

परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-स्वरूपम्

चिद्घनानन्दरूपस्य पूर्णस्योर्मिरिवाम्बुधेः।
सा पराहंचमत्कारपरामर्शमयी स्थितिः ॥३७४॥
परा सूक्ष्मा तथा स्थूला त्रिविधैका प्रकीर्तिता।
तथा परा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी स्मृता ॥३७५॥

३९६ वें श्लोक तक परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के स्वरूप का अभिधान

पूर्ण सागर के कल्लोल के समान पूर्ण आनन्द-धन चेतन का कल्लोल ही पराहं चमत्कार का परामर्श करने वाली वह स्थिति है। एक ही विमर्श-शक्ति, त्रिविध-पर सूक्ष्म, स्थूल तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में प्रगट होती है ॥३७४-३७५॥

उल्लिलसिषयाऽयुक्ता परायां त्रिपुराभिधा।
सन्निविष्टा परा शान्ताऽपीच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥३७६॥

अनुत्तरस्वरूपैव निराकाङ्क्षा तु या परा।
ज्ञानशक्त्युन्मुखा सैव पश्यन्ती परिभण्यते ॥३७७॥

स्थितौ तस्याः क्रियाशक्त्यौन्मुख्ये सैवास्ति मध्यमा।
पुनस्तत्रैव तस्या या स्थितिः सैवास्ति वैखरी ॥३७८॥

अघोरशक्तिः पश्यन्ती घोराघोरा तु मध्यमा।
वैखरी घोरशक्तिः स्यादिच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥३७९॥

परा त्रिपुरा भैरवी परावस्था में उल्लास की इच्छा से विनिर्मुक्त है तथा शान्त रूप से स्थित है। फिर भी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप है।

अनुत्तर स्वरूप आकांक्षा-वर्जित परा भगवती ही ज्ञान-शक्ति के उन्मुख होने पर "पश्यन्ती" कहलाती है। पश्यन्ती की स्थिति में ही "क्रियाशक्ति" उन्मुख हो जाने पर वही "माध्यमा" कहलाती है। ज्ञान-शक्ति की स्थिति के साथ क्रियाशक्ति की स्थिति ही "वैखरी कहलाती है।

पश्यन्ती "अघोरशक्ति" मध्यमा "घोराघोरा शक्ति" तथा वैखरी घोरशक्ति" कहलाती है।

इन्हीं तीन की क्रमशः तीन संज्ञायें हैं—इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया।
॥३७६-३७९॥

धरण्यन्तमविकल्पसंविन्मात्रतया यया।
राजते परमेशोऽपि बिभ्रत् पश्यन् विभासयन् ॥३८०॥

सा परा परमेशस्य शक्तिः स्वात्माविभेदिनी।
भैरवाख्यस्य कालस्य भासनात् कालकर्षिणी ॥३८१॥

परमेश्वर जिस शक्ति द्वारा शिव से लेकर पृथिवी-पर्यन्त को अवि-कल्पसंविन्मात्र रूप से धारण-पोषण, दर्शन तथा प्रकाशन करते हुए विराजमान हैं, वह परमेश्वर की स्वरूपभूता "परा" शक्ति है। भैरव संज्ञक काल का भासन करने से यह "कालकर्षिणी" कहलाती है ॥३८०-३८१॥

यया तु भेदाभेदाभ्यां दर्पणे नगरादिवत्।
राजते शिवशक्त्यात्मा सोच्यतेऽस्य परापरा ॥३८२॥

जैसे दर्पण में नगर आदि अविविक्त तथा भिन्न रूप से भासित होता है वैसे ही परमेश्वर जिस शक्ति द्वारा भेदाभेद रूप से विश्वरूपेण विराजमान होता है, वह परमेश्वर की शिव-शक्ति रूप "परापरा" शक्ति है ॥३८२॥

अपरा सा स्मृता शक्तिर्भेदेनैव यया प्रभुः ।
परस्परं विविक्तं तत् सर्वं बिभर्ति पश्यति ॥३८३॥

परमेश्वर जिस शक्ति द्वारा भिन्न रूप से ही परस्पर भिन्नरूप पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सारे पदार्थ को देखता और धारण करता है, वह परमेश्वर की "अपरा" शक्ति है ॥३८३॥

ग्रसते त्रितयं चैतदनुसन्धानरूपया ।
यया प्रभुः पुनः सापि परैव कालकर्षिणी ॥३८४॥

अनुसन्धानरूप जिस शक्ति द्वारा परमेश्वर उपर्युक्त तीनों शक्तियों को ग्रसित (गर्भस्थ) कर लेता है वह भी प्रभु की कालकर्षिणी परा शक्ति कहलाती है ॥३८४॥

परा, परापराऽपरा-शक्तित्रयमयः प्रभुः ।
एक एव त्रिधा भाति दृष्टिस्मृतिविकल्पवान् ॥३८५॥
परा दृष्टिः समाख्याता स्मृतिश्चापि परापरा ।
विकल्पनाऽपरा ज्ञेयाप्येकैका त्रितयात्मिका ॥३८६॥

परा, परापरा तथा अपरा—शक्तित्रयमय परमेश्वर हैं। दृष्टि (ज्ञान) स्मृति तथा विकल्प से युक्त एक ही प्रभु तीन प्रकार से भासित होता है। दृष्टि पराशक्ति, स्मृति परापराशक्ति तथा विकल्पना अपराशक्ति कहलाती है। प्रत्येक शक्ति भी त्रितय स्वरूपा है ॥३८५-३८६॥

अहमात्मा परामर्शः परा वागुच्यते बुधैः ।
तस्याः परतरं रूपं पश्यन्त्यास्तु परं पुनः ॥३८७॥

अन्तारूपं त्यजन्तीव जिघृक्षन्तीव बाह्यताम् ।
परोल्लिलसिषायुक्ता पश्यन्ती प्रोच्यते बुधैः ॥३८८॥

तत्रोल्लिलसिषावत्यां वाच्यवाचकयोः क्रमः ।
नोदितो न च भेदस्य स्फुटतैव विभासिता ।।३८९।।

किन्तु चिज्ज्योतिषस्तत्र प्राधान्याद् द्रष्टृरूपता ।
इत्यन्वर्थतयैवेयं पश्यन्ती परिभण्यते ।।३९०।।

आचार्य अभिनव गुप्त प्रभृति विद्वज्जन "अहम्" (मैं) स्वरूप परामर्श को "परा वाक्" कहते हैं। इसका स्वरूप परामर्श को "परा वाक्" कहते हैं। इसका स्वरूप "परतर" तथा पश्यन्ती का "पर" होता है। अन्तर्मुखता का त्याग करती हुई बहिर्मुखता के ग्रहण की इच्छा से युक्त, उल्लसित होने की इच्छा वाली परा वाणी को ही आचार्यों ने "पश्यन्ती" शब्द से कहा है।

उल्लास की इच्छा से युक्त "पश्यन्ती" में न तो वाच्य तथा वाचक का क्रम उदित होता है और न तो भेद की स्फुटता ही भासित होती है। अपि तु चेतन स्वरूप ज्योति के प्राधान्य होने से यह द्रष्टृ स्वरूपा है। इस प्रकार "पश्यन्ती" यह यौगिक अनुरूप संज्ञा है। ।।३८७-३९०।।

यत्रासूत्रितविभागो वाच्यवाचकयोः क्रमः ।
स्फुटास्फुटात्मरूपत्वाद्—गृह्यते बुद्धिमात्रतः ।।३९१।।

दर्शनस्यैव प्राधान्याद् मध्यभूर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
"मध्यान्म" इत्यनुसृत्य मध्यमा सा बुधैः स्मृता ।।३९२।।

सूक्ष्मं तस्याः स्वरूपं तु वैखर्याः स्थूलमस्त्यतः ।

जिसमें वाच्य-वाचक का क्रम ईषन्मात्र विभासित होता है तथा "स्फुटास्फुट" स्वरूप उस क्रम का ग्रहण बुद्धि-मात्र से होता है। अपि च जो वाणी दर्शन की प्रधानता के कारण द्रष्टा और दृश्य की मध्य-भूमि है, उसे विद्वान् लोग महर्षि पाणिनी के "मध्यान्मः" इस सूत्र से भवार्थक "म" प्रत्यय द्वारा निष्पन्न "मध्यमा" वाणी कहते हैं। ।।३९१-३९२।।

सैव वाक् स्थानकरणप्रयत्नादिबलात् पुनः ।।३९३।।

गृहीतवर्णरूपेयं विभागस्य स्फुटत्वतः ।
प्रधानत्वाच्च दृश्यस्य ग्राह्यत्वादिन्द्रियेण च ॥३९४॥
विखराख्ये शरीरे च भवत्वाद् वैखरी मता ॥३९५/१

मध्यमा का स्वरूप सूक्ष्म है किन्तु वैखरी का स्वरूप स्थूल है। अतः मध्यमा वाक् ही स्थान, करण, प्रयत्न आदि के बल से वर्णरूपता को धारण करने वाली "वैखरी" कहलाती है। विभाग की स्फुटता, दृश्य की प्रधानता इन्द्रियग्राह्यता और "विखर" संज्ञक शरीर में व्यक्त होने के कारण इसे "वैखरी" कहा जाता है ॥३९३-३९५।१॥

ज्ञाताज्ञातपरादिशक्तेः फलम्

अविज्ञाता त्वियं शक्तिर्बन्धिकैव पशोः सदा ॥३९५।२
स्वभावत्वेन विज्ञाता भोगमोक्षोभयप्रदा ।
योगिनो जायते सद्य इति स्पन्दे निरूपितम् ॥३९६॥
अतः परादितत्त्वज्ञो योगी चक्रेश्वरो भवन् ।
पूर्णाहन्तात्मनि स्पन्दतत्त्वे रूढिमवाप्नुयात् ॥३९७॥

ज्ञात और अज्ञात परादिशक्ति के फल

जीव को अपनी ही परादिशक्ति अज्ञात रहने से सदा बन्धन का कारण बनती है तथा अपने स्वभाव रूप से ज्ञात हो जाने पर यहीं योगिजन को तत्क्षण भोग और मोक्ष दोनों का प्रदान करती है। स्पन्दशास्त्र में इसे विशदतया बताया गया है।

अतः परादितत्त्ववेत्ता योगी परादिचक्रेश्वरता-प्राप्ति पुरःसर पूर्णाहन्ता स्वरूप स्पन्दतत्त्व में स्थैर्य (स्थिति) प्राप्त करते हैं ॥३९५।२-३९७॥

पराहम्परामर्शः

व्यापकस्वस्वरूपेऽस्मिन् परिच्छेदविवर्जिते ।
अनुत्तरविसर्गात्म-शिवशक्त्यद्वयात्मके ॥३९८॥
असम्भावितान्यापोह्ये शुद्धे स्वात्ममहेश्वरे ।
स्वात्ममात्रस्फुरत्तात्मा निर्विकल्पः स्वभावतः ॥३९९॥

नित्योऽसाङ्केतिकः स्वच्छः परामर्शोऽहमित्ययम् ।
तं पराहम्परामर्शं जानन् योगी सदा सुखी ॥४००॥

पराहम्-परामर्श का स्वरूप

अपना स्वरूप व्यापक, परिच्छेद-रहित, अनुत्तर तथा विसर्ग रूप एवं शिव-शक्ति-समष्टि स्वरूप है। स्वरूप में अन्य अपोह्य (त्याज्य) असम्भावित है। स्वात्म-महेश्वर शुद्ध स्वरूप में "अहम्" इत्याकारक पराहम्-परामर्श होता है, जो स्वात्म-मात्र की स्फुरत्ता, निर्विकल्प, स्वभावतः स्फुरित, नित्य, संकेतवर्जित एवं स्वच्छ है। उस पराहम्परामर्श को जानता हुआ योगी सदा सुखी रहता है। ३९८-४००॥

अजानन् सकलो लोको मुह्यन् स्वस्यैव शक्तितः ।
परिच्छिन्ने विभिन्नेऽपि विकल्पेऽपोह्यसत्त्वतः ॥४०१॥
इदमात्मनि शून्यादौ प्राणे बुद्धिप्रमातरि ।
देहे पुत्रे कलत्रे वाऽहं कुर्वन्नेति मूढताम् ॥४०२॥

पराहन्ता को नहीं जानने वाले योगी से भिन्न सकल जन अपनी ही शक्ति से मोहित होता हुआ परिच्छिन्न अत एव विभिन्न विकल्पनाओं में अपोह्य की सत्ता रहने से इदम्-रूप शून्यप्रमाता, प्राणप्रमाता, बुद्धिप्रमाता, देह, पुत्र अथवा कलत्र (स्त्री) में अहंभाव प्राप्त कर मूढ़ता को प्राप्त होता है।

अध्येतृणामधिकारित्वप्रत्यभिज्ञापनम्

त्वं तु प्राज्ञः स्वतन्त्रोऽसि गुरुभक्तश्च जन्मतः ।
शास्त्रसेवी विवेकी सन् को मुह्येन् मूढवत् सुधीः ॥४०३॥

पाठकों को अधिकारिता की प्रत्यभिज्ञा

तुम (पाठक) तो बुद्धिमान्, स्वतन्त्र, जन्म से ही गुरुभक्त शास्त्र-सेवी तथा विवेक-सम्पन्न हो तब भला सुधी होकर मूढ़ के समान क्यों मोहित होते हो ॥४०३॥

पराहम्परामर्शज्ञो योगी महेश्वराभिन्नः सर्वत्र प्रभवति
परप्रमातृतापन्नो विहर त्वं यथासुखम् ।
यदि चाप्यसि भोगार्थी भोगं भुङ्क्ष्व स्वशक्तिभिः ॥४०४॥

पर "अहम्परामर्श" का ज्ञाता योगी महेश्वर रूप ही है, वह सर्वत्र सामर्थ्ययुक्त ही है।

परप्रमातृता को प्राप्त तुम सुखपूर्वक विहार करो। यदि भोग की अभिलाषा है तो अपने शक्ति-चक्र द्वारा नानाविध भोग्यों का उपभोग करो ॥४०४॥

इच्छाशक्तिं महेशानीं सर्वसम्पत्प्रदायिनीम् ।
अनुरक्तां सतीं हित्वा नोपैत्यन्यां महेश्वरः ॥४०५॥

सकल सम्पदा को देनेवाली, अनुरागपूर्ण, सती इच्छाशक्ति स्वरूप महेश्वरी को छोड़कर भगवान् महेश्वर अन्य के समीप नहीं जाते हैं ॥४०५॥

शिवो नैवोपकुरुते न चैवापकरोति सः ।
उपकारापकारौ च कुर्वन्नेव विराजते ॥४०६॥

शिव अपनी ओर से किसी का न तो उपकार करता है और अपकार ही। फिर भी अहर्निश उपकार तथा अपकार करता हुआ ही विराजमान है।

इदमित्थं परिच्छिन्नं रूपं विश्वाकृतेर्नहि ।
विश्वरूपः सदासि त्वं किमन्यत् परिकाङ्क्षसि ॥४०७॥

सम्पूर्ण विश्व है आकार जिसका, ऐसे शिव का "यह ऐसा है"—यह परिच्छिन्न रूप नहीं है। तुम सदा ही विश्व रूप हो, फिर और क्या चाहते हो ॥४०७॥

शक्ति सदाशिवादिविमर्शस्य स्वरूपं तज्ज्ञस्य च तत्तदात्मता प्राप्तिफलं च

परिमितप्रमातृत्वं त्यक्त्वा शुद्धाध्वसंश्रितः ।
अहमहमिदमिदमहमहमिदं चेति ॥४०८॥

शक्तिसदाशिवेश्वर विद्यातत्त्वस्वरूपज्ञः ।
शक्तिसदाशिवेश्वरविद्येश्वरत्वमागच्छ ॥४०९॥

सर्वाकारवियोगित्वं सर्वरूपत्वमेव च ।
पूर्णत्वमात्मनः सिद्धं स्वत एव सनातनम् ॥४१०॥

तद्विस्मृत्य पुनः किञ्चित् पूर्णत्वं परिकल्प्य च ।
यततेऽहर्निशं प्राप्त्यै कीदृशीयं विडम्बना ॥४११॥

शक्ति, सदाशिव, ईश्वर आदि के विमर्श का स्वरूप एवं उनके ज्ञाता को तदात्मता प्राप्ति रूप फल का अभिधान

परिच्छिन्न प्रमातृता को छोड़ कर तथा शुद्धाध्वा के आश्रयण से "अहम्" "अहमिदम्" "इदमहम्" तथा "अहमिदञ्च" ऐसे विमर्श वाले क्रमशः शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा विद्या तत्त्व हैं। इनके स्वरूप को जानकर शक्तिरूपता, सदाशिवरूपता, ईश्वररूपता तथा विद्येश्वर-रूपता को प्राप्त करो।

सब आकार से रहित, सर्वरूपता और अपनी पूर्णता स्वतः सिद्ध है अत एव नित्य है। अपनी पूर्णता को भूलकर पुनश्च किसी पूर्णता को परि-कल्पना कर मनुष्य उसकी प्राप्तिहेतु अहर्निश प्रयत्नशील रहता है। अहो ! यह कैसी विडम्बना है ?

स्वस्मिन् रतिः सर्वगुणाय कल्पते
सा चापि स्वस्य स्मृतिरेव केवलम् ।
स्मृतौ स्वतन्त्रोऽस्ति समस्तलोक-
स्तथापि दुःखीति महद्विचित्रम् ॥४१२॥

स्वरूप में रति समस्तगुण की सम्पादिका है। अपनी स्मृति ही "स्वरूप-रति" कहलाती है। अपनी स्मृति में सब लोग स्वतन्त्र हैं, फिर भी दुःखी रहते हैं—यह महान् आश्चर्य है ॥४१२॥

शिवान्तेभ्यो धरादिभ्यः शुद्धाशुद्धाध्वरूपतः ।
परिच्छिन्नस्वभावेभ्यस्तत्त्वेभ्यः सर्वतो हि यत् ॥४१३॥

उत्तीर्णमपरिच्छिन्नसंविन्मात्रस्वरूपकम् ।
अनुत्तरं परं तत्त्वं परमार्थस्तदेव हि ॥४१४॥

वस्तुव्यवस्थास्थानं तद् विश्वस्यौजस्तदेव हि ।
विश्वं प्राणिति तेनैव तदेवाहमसंशयम् ।।४१५।।
अतोऽस्मि विश्वोत्तीर्णोऽहं विश्वात्माप्यहमेव च ।
इति सम्यग्विकल्पोऽयमुदितो हन्ति तत्क्षणात् ।।४१६।।
संसार-हेतुभूतांस्तान् विकल्पान् प्रत्ययोद्भवान् ।
तन्मात्रगोचरान् सद्यो विषमेव विषं यथा ।।४१७।।

शुद्धाध्वा तथा अशुद्धाध्वा स्वरूप शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व परिच्छिन्न स्वभाव वाले हैं। इनसे परे अपरिच्छिन्न, संविद् मात्र रूप अनुत्तर परम तत्त्व है, वही परमार्थ है। वहीं सारी वस्तुओं की व्यवस्था का स्थान है, वही सम्पूर्ण विश्व का ओज है, सम्पूर्ण विश्व उसी से अनुप्राणित हो रहा है, निःसन्देह वह अनुत्तर शिव मैं हूँ।

अतः मैं विश्व से परे हूँ और विश्वरूप भी हूँ, ऐसा शाम्भव विकल्प उदित होकर संसार के हेतु, तन्मात्रविषयक, प्रत्ययोद्भव विकल्पों को तत्क्षण नष्ट कर देता है। जिस प्रकार विष ही विष का विनाशक होता है उसी प्रकार शाम्भव विकल्प ही सांसारिक विकल्पों का विनाशक है।

।।४१३-४१७।।

मूले एकद्वयादि विकल्प्य शक्तिसम्भिन्नशिवतत्त्वव्यवस्थापनोपक्रमः

एक एवास्ति वा मूले द्वौ स्त इति विचिन्त्यते ।
अथवैकमपि नास्त्येव शून्यमेव विजृम्भते ।।४१८।।

जगत् के मूल में एक है, दो हैं अथवा शून्य है ? इस तरह के विकल्पों का उपस्थापन कर शक्ति से अभिन्न शिव तत्त्व के व्यवस्थापन का प्रयास

अब यह विचार किया जाता है कि मूल में एक तत्त्व है अथवा दो हैं ? या एक भी नहीं, प्रत्युत शून्य ही विजृम्भित हो रहा है ४१८।।

सम्भवेतां तु द्वावेव सम्भवो नैकशून्ययोः ।
न हि शून्यादथैकस्मादुत्पत्ति र्दृश्यते क्वचित् ।।४१९।।

द्वाभ्यामेव समुत्पत्तिर्लोके सर्वस्य वस्तुनः ।
तथा सांख्येऽपि योगेऽपि द्वयोः सत्त्वं सदा मतम् ।।४२०।।

प्रकृतिः पुरुषोऽप्यस्ति जडश्चेतन एव च ।
स्त्री पुमान् दिनं रात्रिः सूर्यश्चापि कलाधरः ।।४२१।।

सत्यं, किन्तु विचारस्य प्रयोजनं हि ।
यद्यथा दृश्यते लोके तत्तथैवान्यथास्ति वा ।।४२२।।

मूल में दो की ही सम्भावना है। एक और शून्य सम्भव नहीं क्यों कि कहीं भी शून्य अथवा एक से उत्पत्ति देखी नहीं जाती।

लोक में सब वस्तु की उत्पत्ति में दो की कारणता देखी जाती है। सांख्य और योग दर्शन में भी दो की ही सत्ता मानी गई है। यथा-प्रकृति-पुरुष, जड़चेतन, स्त्री-पुरुष, दिन-रात तथा सूर्य-चन्द्र।

बात तो सच है किन्तु विचार का तो यही प्रयोजन है कि लोक में जो वस्तु जैसी देखी जाती है वह वैसी ही है? अथवा उससे भिन्न है? ।।४१९-४२२।।

विचाररहितो मूढः सदा शोकसमन्वितः ।
विचारवान् यथार्थज्ञो भवेच्छोकविवर्जितः ।।४२३।।

अतो विचार्य निर्धार्यं तत्त्वं यच्चापि यादृशम् ।
यतोऽभिन्नेऽपि भेदोऽयं शक्तिशक्तिमतोरिव ।।४२४।।

विचार-शून्य मूढ़ सदा ही शोक मग्न रहता है। विचारवान् व्यक्ति यथार्थ को जानता है अत एव शोक-मुक्त होता है। विचार द्वारा वास्तविकता का निर्धारण करना चाहिए। क्योंकि अभेद में ही यह भेदमय विश्व उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार अत्यन्त अभिन्न शक्ति तथा शक्तिमान् में भेद भासित होता है ।।४२३-४२४।।

निर्द्वन्द्वं तत्त्वमेकं यदशक्तमथ निष्क्रियम् ।
सत्यं तज्जगतो नैव कारणं भवितुं क्षमम् ।।४२५।।

किन्तु द्वाभ्यामशक्ताभ्यामपि नैव जनिर्भवेत् ।
भवेद् द्वयोश्च शक्तत्वे शक्तिरेव गरीयसी ।।४२६।।

न चैकस्याप्यशक्तत्वे द्वयोर्यत्रास्ति हेतुता ।
तत्रैकेन भवेत् कार्यं स्त्रैणे षण्ढोऽफलो यतः ।।४२७।।

इति द्वित्वं न वैकत्वं साधकं किन्तु साधिका ।
शक्तिरेका वर्तमाना ह्येकस्मिन् वा द्वयोस्त्रिषु ।।४२८।।

द्वन्द्वरहित, शक्तिहीन, निष्क्रिय एक तत्त्व सचमुच जगत् का कारण होने में सक्षम नहीं है। परन्तु अशक्त दो से भी उत्पत्ति नहीं होती प्रत्युत दो के शक्त होने पर ही उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति ही प्रधान है ।।४२५-४२६।।

जिस कार्य में दो वस्तु को कारणता है, वहाँ एक के भी अशक्त होने पर एक से कार्य नहीं होता है। क्योंकि स्त्री समुदाय में भी नपुंसक व्यक्ति प्रजोत्पत्ति कार्य नहीं कर पाता। अतः द्वित्व अथवा एकत्व संख्या कार्य का साधक (कारण) नहीं है अपि तु एक, दो अथवा तीन में रहने वाली शक्ति ही मुख्यतया कारण (कार्य साधक) है ।।४२७-४२८।।

व्यज्यते शक्तिरेकेन क्वचिद् द्वाभ्यां त्रिभिः क्वचित् ।
क्वचिदेको न कुरुते द्वावप्येवं क्वचिन्नहि ।।४२९।।

एकेनैव तु बीजेन शक्तेन बहु व्यज्यते ।
बहुभिश्चाप्यशक्तैर्न जन्यते किञ्चिदण्वपि ।।४३०।।

एकस्यैवासहायस्य दृष्टा दिनमणेर्दिने ।
हेतुता न हि चन्द्रस्य भचक्रसहितस्य च ।।४३१।।

कहीं एक से, कहीं दो से और कहीं पर तीन से शक्ति की अभि-व्यक्ति होती है। कहीं एक कार्य साधक नहीं होता तो कहीं दो भी साधक नहीं हो पाते।

एक ही शक्ति सम्पन्न बीज से बहुत पौधे उत्पन्न होते हैं किन्तु शक्तिहीन बीज समुदाय से भी अणु भी उत्पन्न नहीं होता। असहाय

निरपेक्ष एक ही सूर्य दिन का प्रवर्तक होता है न कि तारागण युक्त से चन्द्रमा ॥४२९-४३१॥

आकाशोऽप्यवकाशार्थमाश्रयार्थं च भूरपि ।
जलमप्यङ्कुराद्यर्थं बीजस्य सहकारि चेत् ॥४३२॥
द्वयोरप्यवकाशार्थमाश्रयार्थं तथात्मनोः ।
अस्त्यपेक्षा तृतीयस्य कार्यं तत्रापि सम्भवेत् ॥४३३॥

अवकाश के लिये आकाश; आश्रय के लिये धरती तथा अंकुर के लिये जल भी बीज का सहकारी कारण है तो फिर एक शक्त बीज कारण है-यह कथन कैसे उपपन्न होगा ? समान युक्ति से दो को कारण मानने पर भी यही दोष होगा । क्योंकि दोनों के अवकाश तथा आश्रय हेतु तृतीय की अपेक्षा होती है—जहाँ कार्य उत्पन्न होता है ॥४३२-४३३॥

यत्र स्थित्वा च सम्मिल्य जनयेतामिमौ जनिम् ।
तादृशस्य तृतीयस्यासत्त्वे द्वौ न प्रसिद्ध्यतः ॥४३४॥

जहाँ पर दोनों स्थितिपूर्वक मिलकर कार्य उत्पन्न करेंगे उस तृतीय के नहीं रहने पर निराश्रित दो की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ॥४३४॥

जनको जननी जन्यो भिन्न एव भवेद् यदि ।
तदा पुर्नविभिन्नस्य स्यादपेक्षाश्रयस्य च ॥४३५॥
जन्यस्य जनकौ यत्र व्यापकेऽव्यापिनावुभौ ।
तिष्ठतस्तत्र तिष्ठेच्चेद् द्वावप्येवं न सिद्ध्यतः ॥४३६॥
व्यापकं यमधिष्ठाय शक्तिमन्तमुभाविमौ ।
तिष्ठतः सृजतश्चापि सैकः स्रष्टोभयोरपि ॥४३७॥

जनक, जननी तथा जन्य यदि भिन्न-भिन्न ही हैं तो इनके भिन्न-भिन्न आश्रय की अपेक्षा होगी ही । जिस व्यापक आश्रय में अव्यापक दोनों जनक रहते हैं वहीं जन्य भी रहेगा—तब भी दो की सिद्धि नहीं हो पावेगी । क्योंकि जिस शक्तिमान् व्यापक आश्रय पर रहकर ये दोनों कार्य उत्पन्न करते हैं वही एक शक्तिमान् दोनों का स्रष्टा है ॥४३५-४३७॥

निराश्रयौ पदार्थौ द्वाविति चेन्नहि सिध्यतः ।
गम्यमानौ दृश्यमानौ यौ पदार्थौ व्यवस्थितौ ॥४३८॥

तयोरप्याश्रयः कश्चिद् भिन्नयोरप्यभेदकः ।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम्नि दृश्येते न निराश्रयौ ॥४३९॥

कार्य साधक दो पदार्थ निराश्रित होकर ही कार्य उत्पन्न करते हैं— ऐसी बात भी उपपन्न नहीं होती। क्योंकि गम्यमान तथा दृश्यमान परस्पर निम्न दोनों पदार्थो का अभेद-सम्पादन करनेवाला कोई आश्रय होता ही है। सूर्य और चन्द्रमा भो आकाश में देखे जाते हैं न कि निराश्रित हैं।

शून्यमेव समाश्रित्य द्वावेव—कुरुतो यदि ।
एक एव न किं कुर्यात् स्वस्मिन्नेव स्वशक्तितः ॥४४०॥

यदि दो कारण शून्य में आश्रित होकर कार्य उत्पन्न कर लेते हैं तो एक ही अपनी शक्ति से अपने में ही क्यों नहीं कार्य उत्पन्न कर लेगा ?

किञ्च शून्यमसद्रूपं तुच्छं तत्तु––कथं भवेत् ।
आधारः कारको धर्ता जगतो बीजयोर्द्वयोः ॥४४१॥

शून्य असत् है, शशश्रृङ्गादि के समान तुच्छ है। अतः जगत् के बीजरूप दो का आधार, कारक अथवा धारण करनेवाला नहीं हो सकता ॥४४१॥

द्वावपीमौ च कुर्वाणौ सम्मिल्यैकत्वमागतौ ।
एकमेवैकसदृशं कुर्वाते न पृथक् पृथक् ॥४४२॥

यदि स्यातां पृथग् भिन्नाविमौ द्वावपि तत्त्वतः ।
कुर्यातां पृथगेवेमौ स्वतन्त्रौ स्वीयशक्तितः ॥४४३॥

सृष्टि करनेवाले दोनों जनक मिलकर एकता को प्राप्त कर एक ही पुत्र अथवा पुत्री को उत्पन्न करते हैं न कि पृथक् होकर अलग-अलग सृष्टि करते हैं। यदि दोनों वस्तुतः परस्पर भिन्न ही होते तो स्वतन्त्रतया स्वशक्तिद्वारा अलग-अलग ही उत्पन्न करते ॥४४२-४४३॥

एक एव द्विरूपेण भासेऽहं द्वावतो नहि ।
इति सन्दर्शनायैव द्वावेकोऽपि पुनः पुनः ॥४४४॥

एक ही मैं (शिव) दो रूप (शिव-शक्ति) से भासित हो रहा हूँ। वस्तुतः दो हैं ही नहीं। इस बात को समझाने हेतु ये दो पुनः एकीकृत होकर ही सृष्टि करते हैं ॥४४४॥

एकस्मिन्नेव बीजे तु मूलमध्याग्रभासिका ।
अस्ति शक्तिर्भासयन्ती पत्रपुष्पफलान्यपि ॥४४५॥

एक ही बीज में मूल, मध्य तथा अन्त का भासन करने वाली शक्ति पत्र, पुष्प एवं फल का अवभासन करती हुई विद्यमान रहती है ॥४४५॥

एकस्मिन्नपि बीजे द्वे तत्त्वे चेत् समवस्थिते ।
सत्यं बीजं न शून्यं स्यात् स्याद् बीजं त्वादिकारणम् ॥४४६॥

एक ही बीज में सूक्ष्मेक्षिकया दो तत्त्व मिलते हैं, तथापि बीज शून्य नहीं है, अपि तु आदिकारण है ॥४४६॥

अनुत्तरं परं बीजं शिवशक्तिसमन्वितम् ।
एकमेवाद्वयं, बिन्दुविसर्गाविव संस्थितम् ॥४४७॥
उभे एव समुद्रस्य स्वस्वरूपे स्वभावतः ।
परस्पराश्रिते चेमे सोर्मिताशान्तते किल ॥४४८॥

शिव और शक्ति से समन्वित अनुत्तर ही परम बीज है। एक ही अद्वैत बिन्दु और विसर्गरूप से स्थित है। जैसे तरङ्गिता और शान्तता दोनों ही, सागर के अन्योन्याश्रित स्वरूप ही हैं वैसे ही बिन्दु विसर्गात्मक "शिव-शक्ति" अनुत्तर के स्वरूप ही हैं।

तत्र बीजयोन्योर्बीजस्य प्राधान्यम्

बीजेन व्यज्यते योनिः स्वतन्त्रा नैव विद्यते ।
बीजसंलग्नतैवास्या योनित्वं परिभण्यते ॥४४९॥
नहि बीजं बिना योनिर्बीजं योनित्वमागतम् ।
यतो योनिरभिव्यक्ता बीजस्यैव परं वपुः ॥४५०॥

प्रसरन्ती पुनः सापि बीजप्रसवकारिणी ।
तथापि योनिर्बीजस्य बीजं भवितुमक्षमा ।।४५१।।
योनौ बीजं नवीभूय पुनरुद्गच्छतीत्यपि ।
सदेव योनौ प्रच्छन्नं स्वरूपमनुगच्छति ।।४५२।।
योनिर्बीजात् पृथग्भूता स्वतन्त्रा नैव दृश्यते ।
आविर्भूतं पुनर्योनौ बीजं तस्याः पृथक् स्थितम् ।।४५३।।

बीज और योनि में बीज की प्रधानता का निरूपण

योनि अर्थात् वृक्ष बीज से अभिव्यक्त होता है। वह स्वतन्त्र नहीं है। बीज से संलग्नता ही योनि का योनित्व अर्थात् वृक्षत्व है।

बीज के बिना वृक्ष हो नहीं सकता। बीज ही वृक्ष हो जाता है, क्योंकि वृक्ष बीज का ही अभिव्यक्त शरीर है। यद्यपि योनि (वृक्ष) विकसित होकर बीज-प्रसव करती है तथापि वह बीज का बीज (कारण) नहीं हो सकती।

योनि (वृक्ष) में बीज नवीन होकर पुनः उत्पन्न होता है। वृक्ष में प्रच्छन्नतया मौजूद ही बीज स्वरूप ग्रहण करता है। वृक्ष बीज से पृथक् नहीं देखा जाता अतः वृक्ष स्वतन्त्र नहीं है।

बीज तो स्वतन्त्र है अत एव वृक्ष में अभिव्यक्त होने पर बीज पुनः वृक्ष से पृथक् स्थित रहता है। अतः वृक्ष की अपेक्षा बीज ही प्रधान है ।।४४९-४५३।।

बीजाङ्कुरादिषु तत्त्वतोऽन्योन्याश्रयत्वाभावः

अन्योन्याश्रयताऽनादिर्यापि बीजाङ्कुरादिषु ।
स्वीकृता विदुषा क्वापि सापि नास्त्येव तत्त्वतः ।।४५४।।
क्षेत्रादुत्पाटयते बाल्ये क्षेत्रोत्पन्नं तृणादिकम् ।
तथापि बीजनित्यत्वात् क्षेत्रेऽद्यापि तृणादिकम् ।।४५५।।
यद्यङ्कुरं विना न स्याद् बीजसत्त्वं तदा पुनः ।
लतागुल्मादिके नष्टेऽपुष्पितेऽफलिते सति ।।४५५।।
न प्ररोहेत् पुनः क्षेत्रे लतागुल्मादिकं ननु ।४५७।१।।

बीज-अंकुर आदि में वस्तुतः अन्योन्याश्रयता के अभाव का अभिधान

विद्वान् दार्शनिक श्री वाचस्पति मिश्र जी ने बीज-अंकुर आदि में जो अनादि अन्योन्याश्रयता को स्वीकार किया है वह सूक्ष्म विचार करने पर सिद्ध नहीं होता, क्योंकि खेत में उत्पन्न घास को अपरिपक्वावस्था में ही खेत से उखाड़-फेंक दिये जाने पर भी बीज के नित्य होने से खेत में पौनः पुन्येन घास उगता ही है। यदि अंकुर के विना बीज की सत्ता नहीं होती तो पुष्पोद्गम एवं फलोद्गम के पूर्व घास-फूस के उखाड़-फेकने के पश्चात् पुनः खेत में घास-फूस नहीं उगते ॥४५४-४५७।१॥

आपृथ्व्याश्वासदात्मनो विश्वस्य शक्तिशक्तिमत्त्वस्फोरणम्

अतो बीजमयी पृथ्वी शक्तिर्बीजस्य वारिणः ॥४५७॥

अस्तीति प्रतिपत्तव्यं तस्या बीजाङ्कुरादिकम्।
यथा पृथ्व्याः समुत्पन्नं सर्वं वस्तु मृदात्मकम् ॥४५८॥

तथा शक्तिमतो जातं सर्वं शक्त्यात्मकं जगत्।
अतः पृथ्वी जलस्यैवं जलं वह्नेर्विभावसुः ॥४५९॥

वायोः स नभसः शक्तिर्नभश्चापि क्रमात् पुनः।
शक्तिः सदात्मनो ज्ञेया शक्तिमान् स शिवः परः ॥४६०॥

पृथ्वी से सदाशिव पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व शक्ति और शक्तिमान् रूप हैं

अतः स्पष्ट है कि पृथ्वी बीजमयी है। बीजरूप जल की शक्ति पृथ्वी है। पृथ्वी से बीज, अंकुर आदि बनते रहते हैं।

जैसे पृथ्वी से उत्पन्न समस्त वस्तु मृत्तिका रूप ही है, वैसे ही शक्तिमान् सेउत्पन्न सम्पूर्ण संसार शक्तिस्वरूप ही है। अतः क्रमशः पृथ्वी जल की जल वह्नि की, वह्नि वायु की, वायु, आकाश की तथा आकाश सदाशिव की शक्ति है। शक्तिमान् परम शिव विराजमान है ॥४५७।२-४६०॥

चिद्रूपाह्लादसरसोऽनन्तशक्तिसुनिर्भरः।
शक्त्या स्वस्मिन् स्वयं देवः क्रमादक्रमतोऽपि सः ॥४६१॥
योगीव निरुपादानं विश्वमाभासयत्यपि ।४६२।१॥

शिव चिद्रूप, आह्लाद-रस से परिपूर्ण तथा अनन्त-शक्ति समन्वित है। वह क्रम तथा अक्रम से स्वयं अपने में स्वशक्ति द्वारा योगी की तरह उपादान (कारण) के बिना ही सम्पूर्ण विश्व का प्रकाशन करता है ॥४६१-४६२।१॥

प्रमातर्येव वस्तूनां सत्ता नाऽन्यत्र भासते ॥४६२॥

इदम्मे प्रतिभातीत्थमतो वस्त्विदमीदृशम् ।
एवं हि मन्यते सर्वस्तस्मात् सर्वस्य वस्तुनः ॥४६३॥

आधारः प्रथमः सिद्धस्त्वमहं संविदाश्रयः ।
अस्त्वेषाऽत्र समावेशकथा प्रकृतमुच्यते ॥४६४॥

वस्तु की सत्ता प्रमाता में ही है, अन्यत्र नहीं। "यह वस्तु मुझे इस प्रकार से भासित होती है अतः यह ऐसी ही है"—ऐसा सब लोग मानते हैं। अतः समस्त वस्तु का प्रथम आधार संविद्रूप तुमसे अभिन्न मैं ही हूँ। यह तो समावेश की बात है, अब प्रकृत वस्तु का निरूपण करता हूँ।

अतो बीजस्य जननेऽपेक्षते स्वं जलात्मकम् ।
बीजं पृथ्वी, तदुत्पन्नबीजं वार्यङ्कुरस्य च ॥४६५॥

यदा ग्रीष्मे स्वबीजेन तेजसाऽऽकृष्यते जलम् ।
तदा सृष्ट्यात्मिका शक्तिः पृथ्वीस्थापि निवर्तते ॥४६६॥

इत्युन्मेषनिमेषात्मशक्तिमाञ्छिव एककः ।
प्रकाशात्मा विमर्शात्मा भैरवो भैरवीयुतः ॥४६७॥

कलया कलयन्नेवं याति विश्वात्मतां प्रभुः ।
स्वस्वभावममुं वेत्ति सिक्तो यस्तु कृपामृतैः ॥४६८॥

अतः पृथ्वी बीज की उत्पत्ति में अपने बीज जल की अपेक्षा करती है तथा पृथ्वी में उत्पन्न बीज अङ्कुरित होने में जल की अपेक्षा करता है। जब ग्रीष्म ऋतु में अपने बीज "तेज" द्वारा जलरूप पृथ्वी-बीज कर्षित हो जाता है तब पृथिवी में रहने वाली सृष्टि-रूपा शक्ति भी निवृत्त हो जाती है।

अतः उन्मेष और निमेष रूप शक्ति से युक्त प्रकाशरूप तथा विमर्श स्वरूप शिव है। भैरवी से युक्त भैरव रूप एक ही शिव कला द्वारा आकलन करता हुआ "विश्वरूपता" को प्राप्त करता है। यह अपना ही स्वभाव है। किन्तु अपने इस स्वभाव को वही समझपाता जो गुरु की अमृतमयी कृपा से सिक्त होता है ॥४६५-४६८॥

बीजात्मार्थप्रकाशोऽयं विमर्शात्मास्ति वागियम् ।

अज्ञातशक्तिः पश्वात्मा शक्तिं जानन् स्वयं प्रभुः ॥४६९॥

भवतीति विनिश्चित्य शक्तिं स्वां पश्य सर्वतः ॥४७०।१॥

अर्थ प्रकाशरूप बीज तथा विमर्शात्मक वाग्रूप शक्ति को जो नहीं जानता वह पशु है। जो अपनी शक्ति को समझ लेता है वह तत्क्षण पशुपति हो जाता है। अतः इस बात का निश्चय कर चारों तरफ अपनी शक्ति का विलोकन करो ॥४६९-४७०।१॥

वायौ विलीनतां याते दीपोऽग्निर्याति लीनताम् ॥४७०॥

प्रलये प्रलयाग्निश्च देवोऽयं भास्करस्तथा ।

प्राणे प्रलीनतां प्राप्ते देहेऽग्निर्नैव तिष्ठति ॥४७१॥

वह्निनामा प्रमातापि लीयते किं न दृश्यते ।४७२।१॥

वायु के बिलीन हो जाने पर दीपरूप अग्नि भी लीन हो जाती है। प्रलय-काल में प्रलयाग्नि तथा भगवान् भास्कर भी बिलीन हो जाते हैं। प्राण लीन हो जाने पर देह में अग्नि नहीं रह पाती। देखते क्यों नहीं— वह्निसंज्ञक प्रमाता भी तो लीन हो जाता है ॥४७०-४७२।१॥

प्रलयानल ! नास्त्येव दाह्यं किञ्चित्तवाधुना ॥४७२॥

स्वात्मसाच्च कृतं विश्वं शान्तिं स्वान्तेऽनुभूयताम् ।

समावेशकथैवेयं वारितापि पुनः पुनः ॥४७३॥

मुख्यत्वात् पुनरायाता प्रकृतं वच्मि साम्प्रतम् ।

अथवा प्रकृतैवैषा मुख्यार्थाभ्यासशालिनः ॥४७४॥

हे प्रलयानल ! अब तुम्हारा दाह्य कुछ भी नहीं बचा। तुमने सम्पूर्ण-विश्व को आत्मसात् कर लिया है। अब अपने हृदय में अथवा अपना अन्त हो जाने पर शान्ति का अनुभव करो।

बार-बार निवारित किये जाने पर भी मुख्य होने से पुनः समावेश की चर्चा आ ही पड़ी। अब प्रकृत विषय का वर्णन करता हूँ। अथवा मुख्य वस्तु का लभ्य।स करने वालों को समावेश-कथा ही प्रकृत वस्तु है ॥४७२।२-४७४॥

शिव-बीज-स्वतन्त्रादिशब्दाः शक्तियोनिस्वातन्त्र्यादयश्च पर्यायाः

स्वतन्त्रो बीजमित्युक्तं स्वातन्त्र्यं योनिरुच्यते।
शक्तिर्योनिः समाख्याता शिवो बीजपदाभिधः ॥४७५॥

शिव, बीज, स्वतन्त्र प्रभृति शब्दों तथा शक्ति, योनि, स्वातन्त्र्य प्रभृति शब्दों की प्रर्यायरूपता का अभिधान

स्वतन्त्र को बीज तथा स्वातन्त्र्य को योनि कहा जाता है। शक्ति ही योनि कहलाती है तथा शिव ही बीज कहलाता है ॥४७५॥

शक्त्यसंबलितस्य शिवबिन्दोरभिव्यक्त्यभावः

न हि बिन्दुः शिवो देवोऽप्राप्य शक्त्यादिरूपताम्।
स्वतन्त्रः शक्तिविकल उच्चार्येतापि केनचित् ॥४७६॥

शक्तिरहित शिवरूपबिन्दु की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं—

शिवस्वरूप बिन्दु अकारादि शक्तिरूपता की प्राप्ति के बिना किसी व्यक्ति द्वारा शक्तिरहित स्वतन्त्रतया उच्चरित नहीं हो सकता ॥४७६॥

अत एव कुलेश्वर्या सहितो हि कुलेश्वरः।
शक्त्या प्रकाश्यमानोऽयम् अं अ इत्यत्र दृश्यते ॥४७७॥

इसीलिये शक्ति द्वारा प्रकाशित होता हुआ कुलेश्वरी सहित कुलेश्वर (बिन्दु) "अं" तथा "अः" रूप में अभिव्यक्ति होता है ॥४७७॥

हकालार्धविसर्गस्यापि तथाभूतता

बिन्दुबीजात् प्रसरतो हकारार्धार्धरूपिणः।
विसर्गस्याप्यभिव्यक्तिः केवलस्य न जायते ॥४७८॥

बिन्दु की तरह विसर्ग की अभिव्यक्ति भी शक्ति-बिना सम्भव नहीं है

बिन्दुरूप बीज से बाह्य उल्लास की इच्छा द्वारा फैलने वाले विसर्ग की अभिव्यक्ति भी अकारादि वर्णरूप शक्ति विना नहीं होती है ॥४७८॥

स्वरस्य बीजयौन्युभयात्मकत्वम्, व्यञ्जनस्यातथात्मकत्वं च

अव्यक्ताच्च महाबिन्दोर्जातस्यास्य स्वरस्य वै ।
शक्त्यात्मकार्णवर्गस्य बीजात्मत्वमपि स्थितम् ॥४७९॥

बिन्द्वात्मकात्समुद्भूत—बीजरूपस्वरस्य वै ।
अकारादेरभिव्यक्तिः स्वतन्त्रस्यैव दृश्यते ॥४८०॥

बीजं स्वरः स्वतन्त्रोऽयं कादिर्योनिस्तथा न हि ।
नाचं विना व्यञ्जनस्योच्चारणमपि सम्भवेत् ॥४८१॥

भवत्युच्चारणं किन्तु केवलाचो हलं विना ॥४८२।१॥

स्वर वर्णा की बीज-योनि उभयरूपता तथा व्यञ्जन वर्णो की बीजहीनता का अभिधान

अव्यक्त महाबिन्दु से उत्पन्न शक्तिरूप अकारादि स्वरवर्णों की बीजरूपता भी है। अत एव बिन्दु से उत्पन्न अकारादि स्वर वर्ण की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देखी जाती है।

बीजरूप स्वर वर्ण स्वतन्त्र हैं किन्तु योनिरूप क ख ग घ इत्यादि व्यञ्जन वर्ण स्वतन्त्र नहीं हैं अत एव अच् अर्थात् स्वर के बिना व्यञ्जन का उच्चारण नहीं होता तथा हल् अर्थात् व्यञ्जन के बिना भी स्वर का उच्चारण होता है ॥४७९-४८२।१॥

निरपेक्षं स्वातन्त्र्यं संविद एव केवलम्

स्वातन्त्र्यं निरपेक्षं तु संविदः केवलं परम् ॥४८२॥

आपेक्षिकं स्वरादौ तत् स्यादन्यत्रापि मायिके ।
मध्यस्थाः सर्व एवातो बीजयोन्यात्मका मताः ॥४८३॥

केवल "संविद्" में ही निरपेक्ष स्वातन्त्र्य है

केवल "संविद्" का ही निरपेक्ष अत एव उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य है। अन्यत्र मायिक स्वरादि वर्ण में आपेक्षिक स्वातंत्र्य है। अत एव मध्यस्थ (अकारादि-विसर्गान्त) वर्ण बीज-योनि उभयरूप हैं ॥४८२-४८३॥

अकारादिः ककारादेर्बीजं तेन विना न हि ।
ककारादिरतः सत्तां लभते काममपि स्वकाम् ॥४८४॥

तथैवायमकारादिर्वेत्तृबिन्दुं विना न हि ।
तत्समाविष्ट एवातो लभते स्वप्रकाशनम् ॥४८५॥

अकारादिविसर्गान्ते शक्तित्वमत एव हि ।
परापरस्वरूपत्वं बीजत्वमपि युज्यते ॥४८६॥

"अ" कार, "इ" कार आदि स्वरवर्ण "क" "ख" आदि व्यञ्जन वर्णों के बीज है अत एव स्वर के बिना व्यञ्जन अपनी सत्ता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उपर्युक्त प्रकार से अकार आदि स्वर वर्ण भी वेत्तारूप "बिन्दु" के बिना अपनी सत्ता को प्राप्त नहीं करते प्रत्युत बिन्दुरूप वेत्ता में समाविष्ट होकर ही अपना प्रकाशन कर पाते हैं। अतः "अ" से "विसर्ग" तक समस्त स्वर वर्ण "बिन्दु" की शक्ति हैं तथा वर्णों का बीज हैं। अत एव इन्हें "परापर" रूप बीज माना जाता है ॥४८४-४८६॥

संविद एव क्षोभ्य-क्षोभकोभयात्मकत्वम्

अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन विद्यते विसिसृक्षुता ।
सा पुनर्बहिरौन्मुख्याद् याति क्षोभाद् विसर्गताम् ॥४८७॥

स्वयमेव स्वयं संवित् क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि ।
क्षोभश्च क्षोभणा चैव द्वयं संविदि वर्तते ॥४८८॥

यथेच्छन् क्षोभयँल्लोकः स्वाभिन्नां स्वात्मनि स्थिताम् ।
विद्यां विभिन्नविषयां स्वीयां कामकलामिव ॥४८९॥

द्राक् प्रवक्ता कविर्वापि गायको लोकमोहकः ।
दर्शको नर्तको भोगी कामी चापि भवत्यसौ ॥४९०॥

तथा क्षुभ्यच्छिवः स्वस्मिन् शक्तिं स्वां क्षोभयत्यपि ।
अक्षुब्धः क्षुब्धतामेति स्वाभिन्नां भेदयन्निव ॥४९१॥

"संविद्" की "क्षोभ्य-क्षोभक" उभयरूपता का अभिधान

प्रमाता से अभेद होने के कारण विसर्ग (सृष्टि) की इच्छा आभ्यन्तर में विद्यमान रहती है। वही इच्छा बाह्यरूप से उन्मुख होने पर क्षोभ-पुरःसर विसर्गरूपता अर्थात् सृष्टिरूपता को प्राप्त करती है। "संविद्" स्वयं क्षुब्ध होती है तथा क्षोभित भी करती ! क्षोभ तथा क्षोभणा अर्थात् क्षोभप्रयोजकता-ये दोनों ही "संविद्" में रहते हैं।

जिस प्रकार कलाविद् व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने में स्थित कामकला तथा विभिन्न प्रकार की विद्या को क्षोभित करता है। फल-स्वरूप तत्क्षण प्रवक्ता, कवि, गायक, जनमोहक, दर्शक, नर्तक, भोगी तथा कामी हो जाता है। उसी प्रकार क्षुब्ध होता हुआ शिव अपने में ही अपनी विभिन्न शक्ति को क्षोभित करता है। शिव स्वयं अक्षुब्ध है किन्तु अपने से अभिन्न क्षुब्धता को भिन्न रूप से भासित करता हुआ क्षुब्धरूपता को प्राप्त होता है ॥४८७-४९१॥

इह क्षोभः समाख्यातः संविन्निष्ठेव ज्ञेयता ।
क्षोभणापि च सैवास्ति ततो येयं बहिष्कृतिः ॥४९२॥

अन्तः स्थितस्य विश्वस्य बीजांशस्य सिसृक्षुता ।
क्षोभोऽनिच्छे यदिच्छाया भासनं क्षोभणा च तत् ॥४९३॥

येनेदन्ताविमृश्येन प्राणदेहादिवस्तुना ।
ह्लादिनैकात्म्यमासाद्य कृतिनीच्छा भवत्यपि ॥४९४॥

स क्षोभाधार इत्युक्तो मायेदन्ताविभासिका ।
शक्तिः सा शिवजा तत्त्वाच्छिवजाया प्रकीर्त्तिता ॥४९५॥

इस शास्त्र में "संविद्" में रहनेवाली ज्ञेयता को "क्षोभ" कहा जाता है तथा "संविद्" से बाहर निकल जाने पर वही ज्ञेयता "क्षोभणा" कहलाती है। अपने अन्दर बीजरूप से स्थित विश्व के सर्जन की इच्छा "क्षोभ" कहलाती है और अनिच्छा में इच्छा का भासन "क्षोभणा" कहलाता है। इदन्तारूप से विमृश्यमान प्राण, दहे, बुद्धि आदि आह्लादक वस्तु के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर "इच्छा" कृतिनी अर्थात् अभीष्ट

फल को प्रदान करने वाली होती है। वही प्राण देहादि के क्षोभ का आधार कहा गया है। इदन्ता का अवभासन करने वाली माया शक्ति है। शिव से उत्पन्न होने के कारण यह शक्ति "शिवजाया" कहलाती है ॥४९२-४९५॥

इच्छात्मिकायाः स्वातन्त्र्यशक्तेरेवोन्मेषनिमेष सृष्टिप्रलयादिरूपता

शिवादिक्षितिपर्यन्तनिमेषोन्मेषशालिनी ।
अच्छैवेच्छा भगवतो विश्ववैभवशालिनी ॥४९६॥
संहर्तृत्वात्तु याऽवस्था प्राक्सृष्टस्य निमेषभूः ।
उन्मेषभूः स्रष्टृरूपा सैवेयं तु भविष्यतः ॥४९७॥
चिद्घनोन्मेषसारा या प्रभोर्विश्वनिमेषभूः ।
विश्वोन्मेषस्वरूपा सा चिद्घनत्वनिमेषभूः ॥४९८॥
प्रलयोऽभ्युदयो यस्या उदयः प्रलयस्तथा ।
निमेषोन्मेषवाच्येयमेकैवास्त्युभयात्मिका ॥४९९॥
विश्वरूपनिमेषात्मकार्योन्मेषविधायिनी ।
चिद्रूपोन्मेषरूपैव बाह्यताप्रतिरोधिनी ॥५००॥
सृष्टिं प्रलयरूपां च प्रलयं सृष्टिरूपिणम् ।
एकयैवानया शक्त्या निमेषोन्मेषसंज्ञया ॥५०१॥
अकुर्वन्नपि कुर्वाणः शक्त्या स्वातन्त्र्यसंज्ञया ।
नित्यं विराजते स्वच्छो नर्तको नटराजराट् ॥५०२॥
सदाशिवादिभूम्यन्त-विश्वरूपप्रकाशने ।
परप्रमातृविश्रान्तिरूपसंहारकर्मणि ॥५०३॥
परा शक्तिर्भगवती प्रसरन्ती स्वरूपतः ।
चितिश्चेत्यात्मिका हेतुः स्वतन्त्राऽनुत्तरात्मिका ॥५०४॥

इच्छात्मक स्वातन्त्र्य शक्ति से ही उन्मेष-निमेष सृष्टि-प्रलय आदि की सत्ता का अभिधान

यह शक्ति शिव से पृथिवी पर्यन्त में निमेष तथा उन्मेष करने वाली है। यह भगवान् की स्वच्छ इच्छा है अत एव विश्व-वैभव से परिपूर्ण है।

प्रथमतः सृष्ट वस्तुओं की संहारावस्था जो "निमेषभूमि" कहलाती है वही भावी वस्तु की सृष्टिरूपावस्था "उन्मेषभूमि" कहलाती है।

प्रभु की विश्वनिमेषस्थिति ही चिद्घन-उन्मेष रूप सार-तत्त्व वाली है तथा विश्वोन्मेषरूप चिद्घनावस्था ही निमेषभूमि है। इस प्रकार प्रलय ही जिसका अभ्युदय है और अभ्युदय ही प्रलय है वह एक शक्ति निमेष और उन्मेष शब्दवाच्य है और उभयरूप है। विश्वरूप निमेष कार्य को उन्मिषित करने वाली एवं चिद्घन का उन्मेष करने वाली एक ही शक्ति बाह्यता का प्रतिरोध करती है।

प्रलयरूप सृष्टि तथा सृष्टिस्वरूप प्रलय को निमेष तथा उन्मेष पदवाच्य एक ही शक्ति द्वारा सम्पादित करता हुआ भी कुछ भी नहीं करने वाला, नृत्तशील अकलङ्कित नटराजराट् भगवान् शिव सदैव विराजमान हैं।

सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशन में और परप्रमाता में विश्रान्तिरूप विश्व संहार कार्य में अनुत्तर शिव से अभिन्न, चेत्यरूप, स्वतन्त्र, परा चिति शक्ति ही स्वरूपतः प्रसृत होती हुई हेतु बनती है ॥४९६-५०४॥

संविद एव कालदेशाध्वभासकता

क्रियामूर्त्तिविहीनायाः क्रियावैचित्र्यभासनात्।
संविदोऽस्त्येव कालाध्वा वर्णमन्त्रपदात्मकः ॥५०५॥

भाति देशक्रमो मूर्त्तिवैचित्र्याभासतः पुनः।
देशाध्वा प्रोच्यते सोऽत्र कलातत्त्वपुरान्वितः ॥५०६॥

संविद् ही कालाध्वा तथा देशाध्वा का अवभासन करती है

क्रिया और मूर्ति से विहीन "संविद्" में क्रिया-वैचित्र्य के अवभासन होने से वर्ण, मन्त्र तथा पद रूप "कालाध्वा" भासित होता है और मूर्त्ति-वैचित्र्य के अवभासन से देशक्रम भासित होता है जिसे कला, तत्त्व तथा भुवन स्वरूप "देशाध्वा" कहा जाता है ॥५०५-५०६॥

आभाससत्त्वासत्त्वप्राणितः क्रम एव कालः

आभाससत्त्वासत्त्वाभ्यां प्राणितः क्रम एव हि।
काल इत्युच्यते लोके देशो मूर्त्तिविभेदतः ॥५०७॥

संवित्स्वभाव आत्मायं कालशक्तिसमन्वितः ।
यत आभासवैचित्र्यनिर्माणेऽयं स्वयं प्रभुः ॥५०८॥
स्वप्नसंकल्पसृष्टयादौ शक्तिः संविदितात्मनः ।
स्वेनैवास्तीत्यतः स्वात्मा शक्त्या भाति तथा तथा ॥५०९॥

आभास के सत्त्वासत्त्व से अनुप्राणित क्रम ही काल कहलाता है

आभास के होने और नहीं होने से अनुप्राणित होने वाला क्रम ही काल कहलाता है। वही क्रम मूर्त्ति-वैचित्र्य से देश कहलाता है।

संवित्-स्वभाववाला आत्मदेव कालशक्ति से युक्त है, क्योंकि आभास-वैचित्र्य के निर्माण में यह स्वयं समर्थ है। स्वप्न एवं मनोराज्य के सृष्टि-स्थिति-ध्वंस में आत्मदेव की शक्ति सर्वलोक विदित है; स्वात्मा स्वशक्ति द्वारा स्वयमेव विभिन्नरूप से विद्यमान रहता है। अतः यह निर्विवाद है कि आत्मदेव स्वशक्ति द्वारा तत्तद्रूप से भासित हो रहा है ॥५०७-५०९॥

शिवशक्त्योरभेदः

शक्तिः शिवस्वभावैव न तु वस्त्वन्तरात्मिका ।
शिवो वा कथ्यतां शक्तिर्भेदो नास्त्येव वस्तुतः ॥५१०॥

शिव तथा शक्ति में अभेद का अभिधान

शिव का स्वभाव शक्ति कहलाता है। शक्ति अन्य वस्तु नहीं है। शिव कहें या शक्ति; वस्तुतः इनमें भेद नहीं है ॥५१०॥

शक्तिरेव सृष्टिसंहारानाख्यादिव्यपदेशवती

शक्तिः स्पन्दनशीलैव या बहिर्विषयोन्मुखा ।
व्यापिनीभावमापन्ना सा सृष्टिव्यपदेशभाक् ॥५११॥
सैवं गाढ़ान्तराविष्टा समनारूपतां गता ।
स्थितिः स्थिरतया भाति सृष्टयङ्कुरितवस्तुनः ॥५१२॥
आत्मसात्कृतभावत्वात् प्रत्यावृत्य पराङ्मुखी ।
सैवोन्मनायमाना तु संहारो व्यपदिश्यते ॥५१३॥

अनुपाधिर्भजमाना विश्रामं धाम्नि शाम्भवे ।
पुनराद्यैव सा शक्तिरनाख्येत्यभिधीयते ।।५१४।।

शक्ति ही सृष्टि, संहार, अनाख्या प्रभृति शब्दों से व्यपदिष्ट होती है

शक्ति सदैव स्पन्दनशील है अत एव वह बाह्यविषयोन्मुख रहती है। व्यापकता को प्राप्त कर वही सृष्टि-शब्द से व्यपदिष्ट होती है। वही शक्ति गाढ़ अन्तराविष्ट होने पर समनारूपता को प्राप्त कर स्थितिरूप से प्रकाशित होती है। यही सृष्टि में अङ्कुरित वस्तुओं की स्थिति है। समस्त पदार्थों को आत्मसात् कर लेने पर विकल्प से पराङ्मुख होकर "उन्मना" रूपता को प्राप्त करने वाली वही शक्ति "संहार" शब्द से कही जाती है। पुनश्च वही आद्या शक्ति उपाधि-रहित होकर शाम्भव-धाम में विश्रान्त होने पर "अनाख्या" कहलाती है ।।५११-५१४।।

मितात्मनः पूर्णात्मनश्च यथा देशादि भाति तथाभिधानम्

भान्ति विच्छिद्य विच्छद्य शून्यप्राणादयो यथा ।
देशकालक्रमौ भातस्तथा तेषां मितात्मनाम् ।।५१५।।
किन्त्वाप्तपूर्णभावस्य सकृद्भातामितस्य च ।
भावा अपि सदा भान्ति पूर्णाः स्वात्मेव स्वात्मनि ।।५१६।।

मितात्मा तथा पूर्णात्मा के देशकालादि-भान में अन्तर का अभिधान

मितप्रमाता अर्थात् देह में अहंभाव करने वालों को शून्य, प्राण, बुद्धि, देह आदि जिस प्रकार विच्छिन्न (पृथक्) होकर भासित होते हैं; उसी प्रकार देश और काल भी अलग-अलग ही भासित होते है। पूर्णाहम्भाव को प्राप्त, एक बार प्रकाशमान, अमितात्मा, योगी को तो स्वात्मा की तरह समस्त पदार्थ सदैव पूर्णतया ही भासित होते हैं ।।५१५-५१६।।

इच्छैव भगवतो निर्माणशक्त्यादयः

किञ्च विज्ञातृविज्ञेयभेदभानमिदं प्रभोः ।
निर्माणशक्तिरिच्छेयं ज्ञातृता कर्त्तृता तथा ।।५१७।।

प्रभु की इच्छा ही निर्माणशक्ति, कर्तृता आदि कहलाती है

ज्ञाता और ज्ञेय में भेद-भासन होना प्रभु की इच्छा ही है। यही इच्छा "निर्माणशक्ति" "ज्ञातृता" तथा "कर्तृता" कहलाती है ॥५१७॥

स्वयं मेयतामुपगत एव माता भवति

सृष्टिर्यथा प्रमेयस्य न प्रमातारमन्तरा।
तथैव न प्रमातुः सा स्यात् प्रमेयं विना क्वचित् ॥५१८॥

भेदद्रष्टा प्रमाताऽयं लभतां मेयमन्तरा।
कथं स्वीयस्वरूपं तद् भेददृष्टयेकजीवितम् ॥५१९॥

देशकालपरिच्छिन्नो भवन्नेव स्वयं पुरा।
अहमीदृश इत्येवं जानञ्जानाति चापरम् ॥५२०॥

मेयतां स्वस्य स्वेनैव स्वयं देव उपागतः।
मिमीतेऽप्यपरं किञ्चिन्नामेयो मातृतां वहेत् ॥५२१॥

परिच्छिन्नं परिच्छिन्दन् परिच्छेत्ता भवन् पशुः।
कालातीतोऽपि कालेन ग्रस्तं स्वमनुमोदते ॥५२२॥

शून्ये प्राणेऽथवा बुद्धौ देहे वाऽहमिति स्फुरन्।
परप्रमातृतां त्यक्त्वा परिच्छिन्नप्रमातृताम् ॥५२३॥

गृह्णञ्छून्यप्रमातेव प्राणमाता भवन्नपि।
बुद्धिप्रमातृतापन्नो देह मातापि जायते ॥५२४॥

प्रभु स्वयं प्रमेय बनकर ही प्रमाता बनता है

जैसे प्रमेय की सृष्टि प्रमाता के विना नहीं होती वैसे ही प्रमेय बिना प्रमाता की भी सृष्टि नहीं हो सकती।

भेद देखने वाला प्रमाता, प्रमेय के बिना भेददृष्टि से अनुप्राणित स्वस्वरूप को कैसे प्राप्त कर सकता है?

प्रभु प्रथमतः स्वयमेव देश तथा काल से परिच्छिन्न होकर "मैं ऐसा हूँ" ऐसा समझने के पश्चात् ही अन्य वस्तु को समझता है।

प्रभु स्वयमेव मेयरूप बनता है उसके पश्चात् अन्य कुछ समझता है। क्योंकि जो स्वयम् अमेय है वह प्रमाता नहीं बन सकता।

देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु का परिच्छेदन करता हुआ प्रमाता पशु बन जाता है। अत एव वस्तुतः कालातीत होने पर भी स्वयं को काल से ग्रस्त समझ बैठता है।

फिर तो शून्य, प्राण, बुद्धि अथवा देह में अहम्भाव कर लेता है; फलतः पूर्णाहम्भाव का त्याग कर परिच्छिन्नप्रमाता बनता हुआ क्रमशः शून्यप्रमाता बुद्धिप्रमाता तथा देहप्रमाता बन जाता है ॥५१८-५२४॥

त्रिविधं शरीरम्

महाभूतात्मकं स्थूलं सूक्ष्मं पुर्यष्टकात्मकम्।
समनान्तं परं प्रोक्तं शरीरं त्रिविधं बुधैः ॥५२५॥

तीन प्रकार के शरीर का अभिधान

पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर है, पुर्यष्टक सूक्ष्म शरीर है तथा समनापर्यन्त पर शरीर है। इस प्रकार आचार्यों ने शरीर के तीन भेद बताये हैं ॥५२५॥

तत्त्वकलादीनां लयप्रकारः

पृथिव्यादिशिवान्ता याः तत्त्वरूपाः कलाः स्थिताः।
लयभावनया तासां लयः स्वे स्वेच कारणे ॥५२६॥

अथवा स्वापसव्यस्य पादस्याङ्गुष्ठतः स्फुरन्।
कालाग्नी रुद्ररूपोऽयं देहं भस्मीकरोत्यदः ॥५२७॥

चिन्तनं प्रोच्यते ध्वंसो महासृष्टिफलप्रदः।
लयो दाहोऽथवा ध्वंसः शास्त्रेऽभिन्नार्थवाचकः ॥५२८॥

निर्दिष्टोऽस्ति तथैवात्र मन्त्रोऽग्निध्वंसको मतः।
तत्तद्वर्णात्मकत्विड्भिर्विमर्शोत्थैर्दहत्ययम् ॥५२९॥

दाहो मन्त्राग्निना चापि देहे पुर्यष्टकेपि वा।
देहपुर्यष्टकाहन्ताविध्वंसादेव जायते ॥५३०॥

देहसत्त्वेऽपि देहो नाऽहन्ता तत्र नचेद् भवेत् ।
अहन्तानास्पदत्वाच्च देहो दग्ध इति स्मृतः ।।५३१।।
देहसंस्कारभस्मापि पुनरुत्सृज्य सत्वरम् ।
निस्तरङ्गे ध्रुवे धाम्नि तिष्ठेच्छुद्धचिदात्मनि ।।५३२।।

तत्त्व-कला आदि के लय प्रकार का अभिधान

पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त जो तत्त्वरूप कलायें हैं, इनके लय की भावना करने से ये अपने-अपने करणों में लीन हो जाते हैं ।

अथवा "अपने अपसव्य (दाहिने) पैर के अङ्गुष्ठ से स्फुरित होता हुआ रुद्ररूप कालाग्नि देह को भस्मसात् कर देता है"—ऐसा चिन्तन ही "ध्वंस" कहलाता है । यह चिन्तन "महासृष्टि" रूप फल को देता है । शास्त्र में लय, दाह तथा ध्वंस पर्याय माने गये हैं । वैसे ही मन्त्र को अग्नि तथा ध्वंसक माना जाता है । मन्त्राग्नि विमर्श से उत्थित, तत्तद्वर्णरूप रश्मियों के द्वारा समस्त तत्त्वों को दग्ध कर देता है । मन्त्ररूप अग्नि से देह अथवा पुर्यष्टक में अहन्ता का विनाश होता है इसी को उपचार से कहा जाता है कि मन्त्राग्नि द्वारा देह अथवा पुर्यष्टक का दाह होता है ।

देह रहने पर भी देह नहीं रहता यदि उसमें अहन्ता न हो । अहन्ता के अनास्पद होने के कारण "देह दग्ध हो गया" ऐसा कहा जाता है ।

पुनश्च देह संस्कार रूप भस्म का भी शीघ्र त्याग कर तरङ्गवर्जित ध्रुव धाम शुद्धचिदात्मा में स्थित रहना चाहिये ।।५२६-५३२।।

सृष्टिधर्मत्वात् संविदः पुनस्तरङ्गिताऽस्त्येव

संविदः सृष्टिधर्मत्वात् पुनरस्ति तरङ्गिता ।
या मूर्तिर्भैरवोच्छ्रायो वाऽहमित्यपि कथ्यते ।।५३३।।

सृष्टि धर्मता के कारण "संविद् का तरंग अवश्यम्भावी है

सृष्टि "संविद्" का धर्म है अतः पुनः संविद् में तरङ्ग होता ही रहता है, जिसे "मूर्त्ति", "भैरवोच्छ्राय" तथा "अहम्" शब्दों से भी कहा जाता है ।।५३३।।

मालिनीविजये प्रोक्ता धारणानेकधा यतः ।
अतः साप्युच्यते काचित् कामदा मितयोगिनाम् ॥५३४॥
वायवी धारणाङ्गुष्ठे तैजसी नाभिमध्यगा ।
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रिता ॥५३५॥
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिफला स्मृता ।
प्रथमं पार्थिवीं कण्ठे धारणां सम्प्रधार्य च ॥५३६॥
उद्घातपञ्चकेनैव हृदयादुत्थितेन च ।
भिन्द्यात् पञ्चगुणं तत्त्वं भूरूपं प्रथमं ततः ॥५३७॥
क्रमेणानेन हृदयादेवोद्घातैश्चतुर्विधैः ।
एकद्वित्रिचतुःसंख्यैर्भिन्द्यात् तत्त्वं गुणानुगैः ॥५३८॥
चतुर्गुणान्विताप्तत्वं घन्टिकास्थं विभेदयेत् ।
अग्नितत्त्वं स्थितं नाभौ भिन्द्याद् गुणत्रयान्वितम् ॥५३९॥
पादाङ्गुष्ठगतं वायुं शब्दस्पर्शगुणान्वितम् ।
भित्त्वा पुनः स्थिरप्रज्ञो व्योमग्रन्थि विभेदयेत् ॥५४०॥
संकोचयुक्तिविद् योगी व्योमग्रन्थिविभित्तये ।
अङ्गुष्ठादूर्ध्वमुद्बोध्य प्राणशक्तिमसंशयः ॥५४१॥
भिन्द्यादेकगुणं व्योम ब्रह्मरन्ध्रव्यवस्थितम् ।
अत्रापि हृदयादेवोद्घातेनैकेन सिद्धिभाक् ॥५४२॥
रोधितः प्राण आगत्य तत्तत्स्थानं निवर्तते ।
स उद्घात इति ज्ञेयो योगिभिर्वायुमाश्रितः ॥५४३॥

"मालिनी-विजय" में अनेक प्रकार की धारणा बतायी गई है। मित-योगी-जन को अभीष्ट-प्राप्ति हेतु धारणाओं का निरूपण करता हूँ।

पादाङ्गुष्ठ में वायवी, नाभि में तैजसी, कण्ठ में माहेयी (पार्थिवी), घण्टिका में वारुणी तथा मूर्धा में आकाश की धारणा करनी चाहिये। यह विविध धारणा समस्त सिद्धि प्रदान करती है।

प्रथमतः कण्ठ में पार्थिवी धारणा करनी चाहिये। हृदय से उत्थित प.च उद्घातों द्वारा गन्धादि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी तत्त्व का भेदन करना चाहिये।

तदनन्तर हृदय से उत्थित चतुर्विध (एक, दो तीन तथा चार) उद्घातों द्वारा क्रमशः एक, दो, तीन, तथा चार गुणों से युक्त आकाशादि तत्त्वों का भेदन करना चाहिये। शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस-इन चार गुणों से युक्त घण्टिका-स्थित जलतत्त्व का भेदन करना चाहिये। तत्पश्चात् शब्द, स्पर्श तथा रूप इन तीन गुणों से युक्त अग्नितत्त्व का भेदन करना चाहिए।

पुनश्च पादाङ्गुष्ठ में शब्द तथा स्पर्श इन दो गुणों से युक्त वायु तत्त्व का भेदन करने के पश्चात् स्थिरप्रज्ञ पुरुष "व्योम-ग्रन्थि" का भेदन करे।

संकोच-युक्ति का वेत्ता योगी व्योम-ग्रन्थि के भेदन के लिए संदेह-रहित होकर अङ्गुष्ठ से ऊर्ध्व प्राण-शक्ति को उद्बुद्ध कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शब्दमात्र गुण वाले "व्योम" तत्त्व का भेदन करे। इस भेदन में हृदय से उत्थित एक उद्घात से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है।

रोका हुआ प्राण तत् तत् स्थान में आकर निवृत्त होता है जो योगि-जन द्वारा वायु में आश्रित होता है; उसे "उद्घात" कहते हैं ॥५३४-५४३॥

धारणायाः कश्चित् प्रकारविशेषः

केवलानुभवेनैव तत्तत्स्थानानुसारिणा।
वायुना सहितो वापि द्विधोद्घातो भवेदयम् ॥५४४॥

धारणा के प्रकार-विशेष का अभिधान

केवल अनुभव द्वारा तथा तत्तत्स्थानानुसारी वायु के सहित होने से यह "उद्घात" दो प्रकार का होता है ॥५४४॥

बिन्द्वादिसतत्त्वम्

षड्विधं यच्छिवस्योक्तं रूपं बिन्द्वादिना पुरा।
योगिनामुपकाराय तत् किञ्चिद् व्यज्यतेऽधुना ॥५४५॥

अष्टौ बिन्द्वादतो बिन्दुं विना तत्सहिता नव ।
मन्त्रशास्त्रे समाख्याता नादनाम्नैव योगिभिः ॥५४६॥

बिन्दु आदि के तत्त्व का निरूपण

पहले ५०वें श्लोक में शिव की बिन्दु, नादप्रभृति षड्विधरूपता सामान्यरूप से बतायी गई है। सम्प्रति योगिजन के उपकार हेतु उसे विशेषरूप से अभिव्यक्त किया जा रहा है।

बिन्दु के बिना बिन्दु-प्रभृति आठ अथवा बिन्दु-सहित नौ को मन्त्रशास्त्र में योगिजन द्वारा नाद-शब्द का प्रयोग किया गया है ॥५४५-५४६॥

बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्तशक्तयः ।
व्यापिकासमनोन्मन्य इति नादपदाभिधाः ॥५४७॥

बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना तथा उन्मना ये बिन्दु-प्रभृति नौ "नाद" कहलाते हैं ॥५४७॥

सूक्ष्मैः, सूक्ष्मतरैः, सूक्ष्मतमैः कालैरुपलक्षिताः ।
ध्वनयो वर्णविशेषा वानुस्वारविसर्गवत् ॥५४८॥

ये नाद सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम काल से उपलक्षित ध्वनि-विशेष हैं अथवा अनुस्वार एवं विसर्ग के समान वर्ण-विशेष हैं ॥५४८॥

अमात्रमुन्मना शक्तिः कालस्तत्र न विद्यते ।
समनायां पुनः काल एकाणुर्लव संज्ञकः ॥५४९॥
व्यापिकायामपि लवौ शक्तौ चत्वार एव च ।
नादान्तेऽष्टौ लवा, नादे षोडशैव लवाः पुनः ॥५५०॥
द्वात्रिंशदेव रोधिन्यां चन्द्रे तद्द्विगुणा लवाः ।
बिन्दौ लवाः शतं ज्ञेया अष्टाविंशतिसंयुतम् ॥५५१॥
नलिनीदलसंहत्याः सूक्ष्मसूच्याभिवेधने ।
दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञितः ॥५५२॥

"उन्मना"-शक्ति अमात्रिक हैं। इसमें काल नहीं रहता। "समना" में "लव"-संज्ञक एक अणुस्वरूप काल रहता है।

"व्यापिका" में दो लव, "शक्ति" में चार लव, "नादान्त" में आठ लव तथा ':नाद" में सोलह लव होते हैं।

"रोधिनी" में बत्तीस लव, "अर्धचन्द्र" में रोधिनी-लव से द्विगुणित अर्थात् चौंसठ लव तथा "विन्दु" में एक सौ अट्ठाइस लव होते हैं।

कमलिनी-पत्रों के संघात् में सूक्ष्म-सूची द्वारा वेधन करने में प्रत्येक दल-वेधन में जितना समय लगता है, उसे "लव" संज्ञा दी गई है।

॥५४९-५५२॥

अर्धमात्रस्तु भ्रूमध्येऽनुस्वारोच्चारसन्निभः।
बिन्दुरुच्चार्यते तत्रावस्था सौषुप्तसन्निभा ॥५५३॥
अर्धचन्द्रात्तु नादान्ते तुर्यावस्था विभाव्यते।
नादान्तादुन्मनीव्याप्ता तुर्यातीता व्यवस्थिा ॥५५४॥
अर्धचन्द्रात्तु नादान्ते तुर्याभिव्यक्तिकारिका।
नादस्य विद्यते वित्तिर्नादान्तादूर्ध्वमागते ॥५५५॥
आनन्दैकघनावस्था तुर्यातीतपदाभिधा।
महाबिन्दुं समाश्रित्यावस्था कापि न सम्भवेत् ॥५५६॥

भ्रूमध्य में अनुस्वार के उच्चारण-सदृश अर्ध-मात्रिक बिन्दु उच्चारित होता है उस समय सुषुप्ति के सदृश अवस्था होती है।

"अर्धचन्द्र" से लेकर "नादान्त" तक "तुर्यावस्था" भासित होती है तथा "नादान्त" से "उन्मनी" तक "तुर्यातीत" अवस्था का भान होता है।

अर्धचन्द्र से लेकर नादान्त तक तुर्यावस्था की अभिव्यञ्जिका नाद की वित्ति (ज्ञान) विद्यमान रहती है। नादान्त के उपर आनन्दैकघन तुर्यावस्था रहती है। महाबिन्दु रूप चित्स्वरूप को प्राप्तकर किसी प्रकार की अवस्था सम्भव नहीं है ॥५५३-५५६॥

हृदयाधिपतिर्ब्रह्मा कण्ठस्वामी खगेश्वरः।
रुद्रस्तु ताल्वधिपतिर्भ्रूमध्येश्वर ईश्वरः ॥५५७॥

सदाशिवो ललाटस्य ब्रह्मरन्ध्रेश्वरः शिवः ।
विजित्य देवयाषट्कं तत्तत्स्थानं जयेद् बुधः ।।५५८।।

हृदय के स्वामी ब्रह्मा, कण्ठ के स्वामी विष्णु तालु के स्वामी रुद्र तथा भ्रूमध्य के स्वामी ईश्वर हैं। ललाट के स्वामी सदाशिव तथा ब्रह्मरन्ध्र के स्वामी शिव हैं। बुधजन इन छः देवताओं को जीतकर उन-उन स्थानों पर विजय प्राप्त करते हैं ।।५५७-५५८।।

मन्त्ररहस्यम्

विभेदिताखिलग्रन्थेर्योगिनो विषयोऽस्ति यत् ।
अथवा यस्य विज्ञानाद् भवेद् द्राग् योग्ययोग्यपि ।।५५९।।

तत्तत्त्वं च रहस्यं च मन्त्रयाम्यधुना मनोः ।
कलयन्तु भवन्तोऽपि स्वसंवित्परिभासितम् ।।५६०।।

मन्त्रों के रहस्य का प्रकाशन

जिसने समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर दिया है—ऐसे योगि का जो विषय है, अथवा जिसके विज्ञान से अयोगी भी सद्यः योगी हो जाता है; ऐसे मन्त्र-तन्त्र का रहस्य अब बताऊगाँ। आप लोग भी अपनी संवित् द्वारा परिभासित कर उसे समझें ।।५५९-५६०।।

वाचको यः परामर्शसारः शब्दविशेषकः ।
अमायीयोऽस्ति मायीयवर्णानुप्राणकृत् परः ।।५६१।।

तदात्मभावमापन्ना मन्त्राः शब्दशरीरकाः ।
अतः सङ्कुचिता वेद्यवर्गादन्योन्यतश्च ते ।।५६२।।

परामर्श का सारतत्त्व, वाचक शब्द विशेष है, वह अमायीय है तथा मायीय वर्णो को अनुप्राणित करता है। अतः वह "पर" शब्द है।

उसके साथ तादात्म्यापन्न मन्त्र शब्दशरीर वाले हैं। अत एव प्रमाता लोग वेद्य वर्ग तथा एक दूसरे से संकुचित होते हैं ।।५६१-५६२।।

प्रकाशं प्रति शब्दस्य यतोऽत्यन्तं न विद्यते ।
घनावरणरूपत्वमतः सर्वज्ञतायुजः ।।५६३।।

नित्यं विमर्शरूपेण हृदयाकाशसंस्थितः ।
मन्त्रोऽयं शब्दनाकारः स्वयं विपरिवर्तते ॥५६४॥

अतोऽनाहतशब्दस्य वाच्यत्वेन व्यवस्थितः ।
मन्त्रो नित्योदितः शुद्धः कथित आगमेष्वपि ॥५६५॥

ये मन्त्र सर्वज्ञता से युक्त हैं क्योंकि यहाँ शब्द—प्रकाश में अत्यन्त सघन आवरण नहीं है। मन्त्र हृदयाकाश में सदा विमर्शरूप से स्थित है। शब्द का मूलभूत "शब्दन" ही इसका आकार है। यह स्वयमेव परिवर्तित होता है। इसलिए अनाहत शब्द के वाच्य रूप से मन्त्र अवस्थित है। आगमों में भी मंत्र को नित्य-उदित" तथा "शुद्ध" कहा गया है ॥५६३-५६५॥

स्वावमर्शपरैवेयं संविन्नादस्वरूपताम् ।
विमृशन्ती स्पृशन्तीव याति वर्णादिरूपताम् ॥५६६॥

तत्र स्पन्दोऽस्ति सर्वत्र स्फुरणात्मा व्यवस्थितः ।
सा शक्तिः परवागात्मा विद्या मन्त्रपदाभिधा ॥५६७॥

स्वविमर्शशीला संविद् नादरूपता का विमर्श और ईषत् स्पर्श करती हुई वर्णादिरूपता को प्राप्त होती है।

स्पन्द स्फुरणरूप से सर्वत्र व्यवस्थित है। वह स्पन्द ही परावाक् विद्याशक्ति तथा मन्त्र पदवाच्य है ॥५६६-५६७॥

एकादशपदा प्रोक्ता वर्णबिन्द्वादिरूपिणी ।
ओंकारस्त्रिपदो ज्ञेयो बिन्दुश्चन्द्रो निरोधिनी ॥५६८॥

नादो नादान्तशक्ती च व्यापिनी समना तथा ।
प्राणनापरपर्यायो जीवः प्राणश्च यो मतः ॥५६९॥

सोऽप्येष नाद एवास्ति स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः ।
यत आगमसिद्धान्त ईदृशोत्र व्यवस्थितः ॥५७०॥

वर्ण-बिन्दु आदि स्वरूप वाली यह विद्या शक्ति एकादशपदा (ग्यारह पद वाली) कही गयी है। ओंकार में "अ" "उ" तथा "म्" ये तीन पद

हैं। बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी तथा समना ये आठ पद हैं। ये पद ही प्राणना कहलाते हैं। यही प्राण और जीव कहलाता है। यह प्राण भी नादरूप ही है जो स्वयं प्रवृत्त हलाकृति है। इस विषय में आगम का सिद्धान्त इसी प्रकार का है ॥५६८-५७०॥

पारमेशी च बोधाख्या शक्तिर्गर्भीकृताखिला ।
परा कुण्डलिकाभिख्या स्फुरन्त्याप्नोति सत्वरम् ॥५७१॥
विमर्शनेन नादात्मवर्णकुण्डलिकात्मताम् ।
निमज्जितैतद्रूपैति प्राणकुण्डलिकात्मताम् ॥५७२॥
अतो हलाकृतिशब्देन प्रसुप्तभुजगाकृतिः ।
कुण्डलिन्याकृतिर्ज्ञेया ध्येया शक्तिः सुयोगिभिः ॥५७३॥

सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर रखने वाली बोधाख्य पारमेश्वरी शक्ति "परा कुण्डलिनी" कहलाती है। यह शक्ति स्फुरित होती हुई विमर्शन द्वारा शीघ्र ही नादात्मक वर्ण कुण्डलिनीरूप बन जाती है। पुनश्च इस रूप का त्याग कर यही शक्ति प्राणकुण्डलिनी बन जाती है। अतः "हलाकृति" शब्द से "प्रसुप्त-भुजगाकृति" अर्थात् "सोयी सर्पिणी की आकृति" के समान कुण्डलिनी की आकृति समझनी चाहिये। योगि-जन इसी शक्ति का ध्यान करें ॥५७१-५७३॥

अत ऊर्ध्वमधश्चापि स्वरसेन वहन् सदा ।
प्राणो हानसमादानधर्मा हंसविमर्शकः ॥५७४॥
त्यागोपादानधर्मत्वात् प्रोक्तं स्वच्छन्दशासने ।
आत्मा प्राणः शिवः सूर्यो हंस इत्यभिधीयते ॥५७५॥

उपर तथा नीचे स्वरसतः प्रवाहित होता हुआ हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) करने वाला प्राण "हंसः" का विमर्श करता है।

"स्वच्छन्द तन्त्र" में त्याग तथा ग्रहण धर्म वाले हंस का अर्थ आत्मा, प्राण, शिव तथा सूर्य कहा गया है ॥५७५-५७६॥

नित्यप्रवृत्तो हंसस्योच्चारो नादात्मनो हि यः ।
स एव वर्णरूपोऽयं स्फुटोंकारस्वरूपवान् ॥५७६॥

अत्रानच्कहकारात्माकारो यः स शिरः स्मृतः ।
उकारः संचरन्मध्ये चरणात्मा विभाव्यते ।।५७७।।
बिन्द्वाद्यासूत्रणात्मायं मस्त्यनुस्वारसन्निभः ।
वेत्रनुभवतामाप्तं त्रयं बिन्दुरिदं भवेत् ।।५७८।।

नादात्मक "हंस" का नित्य प्रवृत्त उच्चारण ही वर्णरूप होने पर स्पष्ट ओंकारस्वरूप हो जाता है। इस ओंकार में अनच्क हकारस्वरूप अकार शिर है मध्य में संचरण करने वाला उकार चरण है और बिन्दु का प्रारम्भ करने वाला अनुस्वार सदृश मकार है। वेत्ता के अनुभव में आने पर ये ही तीन वर्ण (अ, उ तथा म्) "बिन्दु" कहलाते हैं ।।५७६-५७८।।

पदन्तु यावदूर्ध्वोर्ध्वं मन्त्रोच्चारोऽधिगच्छति ।
वाच्यवाचकयोस्तावत् स्थूलता विनिवर्तते ।।५७९।।
सूक्ष्मसूक्ष्मतराद्यात्मव्याप्तिर्मान्त्री प्रवर्तते ।
पर्यन्ते परतत्त्वात्मोन्मनायां शान्तिमेत्यपि ।।५८०।।

एकादश पदात्मक मन्त्र का उच्चारण जैसे-जैसे उपर की ओर जाता है वैसे-वैसे वाच्य और वाचक की स्थूलता निवृत्त होती जाती है। मन्त्र की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम व्याप्ति प्रवृत्त होती है। यह अन्ततो गत्वा पर तत्त्व रूप "उन्मना" में शान्त होती है ।।५७९-५८०।।

हृदयादीरितः शब्दस्तालुस्थः पुनरीर्यते ।
भ्रूमध्यमागतः पश्चाल्ललाटे सम्प्रवर्तते ।।५८१।।
तत्र सूक्ष्मस्वरूपत्वं हित्वाऽनुभवरूपताम् ।
सम्प्राप्तो ज्ञानतामेति विधिरुच्चारणे त्वयम् ।।५८२।।

शब्द पहले हृदय से उच्चरित होता है, तदनन्तर तालु में, फिर भ्रूमध्य में तत्पश्चात् ललाट में प्रवृत्त होता है। ललाट में आने पर शब्द अपने सूक्ष्म रूप का भी त्याग कर अनुभव रूप ज्ञान बन जाता है। अब उच्चारण की विधि बतायी जा रही है ।।५८१-५८२।।

अविकल्पपरामर्शैक्याच्चाभिन्नेन रूपतः ।
तथा मन्त्रकलाव्याप्त्या भिन्नेनापि स्वरूपतः ।।५८३।।

आन्तरोच्चारवन्मन्त्रं पश्यन्त्यात्मकमुच्चरेत् ।
अवस्थात्रयसृष्ट्यादित्रयाधिष्ठात्रधिष्ठिताः ॥५८४॥
उच्चार्यन्ते त्रयो वर्णा ब्रह्मविष्णुहरार्थकाः ।
किन्तूच्चारस्य बिन्दौ हि व्याप्तिर्नास्तीत्यतः पुनः ॥५८५॥
बिन्दावमीषां तादात्म्याध्यास उच्चार उच्यते ॥५८६।१॥

अविकल्प परामर्श के साथ एकता होने से अभिन्न रूप से तथा मन्त्रकला की व्याप्ति होने से भिन्नरूप से आन्तर उच्चारण के सदृश पश्यन्ती रूप मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये ।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रूप अवस्थात्रय में और सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूप सृष्ट्यादित्रय में अधिष्ठातृ-देवों से अधिष्ठित ब्रह्मा, विष्णु और हर अर्थ वाले अ, उ तथा म्—ये तीन वर्ण उच्चारित होते हैं ।

किन्तु बिन्दु का उच्चारण हो नहीं सकता । अतः बिन्दु में इन तीनों का तादात्म्य होना ही उच्चारण कहलाता है ॥५८३-५८६॥

मन्त्रोच्चारः कृतो ह्येष योगिभिस्तत्क्षणादिव ॥५८६॥
अकारादिकृतो भेदो यश्चमात्राकृतोऽभवत् ।
सर्वः संपिण्डितः सोऽत्रैकत्वमाप्तोऽधुना यतः ॥५८७॥
अतः सामान्यवेद्यस्य वेदको वेदनात्मकः ।
बिन्दुर्भवन् स एवायं भ्रूमध्यमधितिष्ठति ॥५८८॥

योगिजन द्वारा किये गये मन्त्रोच्चारण में अकारदि वर्णकृत तथा मात्राकृत समस्त भेद संपिण्डित होकर (मिलकर) एक हो जाते हैं । अतएव सामान्य वेद्य का वेदक जो वेदनरूप ही है वह बिन्दु रूप होकर "भ्रूमध्य" में रहता है ॥५८६-५८८॥

प्रशाम्यद्वेद्यमुख्यत्वो ललाटं समुपागतः ।
अर्धचन्द्रो भवन् सोऽपि शान्तवेद्यत्वमागतः ॥५८९॥
रोधकत्वाच्च वेद्यानां योगिनामप्ययोगिनाम् ।
स्पष्टरेखाकृतौ स्वस्यां प्रवेशप्रतिरोधनात् ॥५९०॥

रोधिका कर्मनामभ्यां भूत्वा प्राप्नोति नादताम् ॥५९१।१॥

वेद्य की प्रमुखता के शान्त्युन्मुख होने पर ललाट-प्रदेश में पहुँचने पर मन्त्र "अर्धचन्द्र" रूपता को प्राप्त होता है तथा वेद्य के पूर्णतया शान्त हो जाने पर "रोधिनी" रूपता को प्राप्त होता है। योगिजन के वेद्य-वस्तु का रोधक होने से तथा अयोगि-जन के स्पष्ट रेखाकार स्व (रोधिनी) में प्रवेश के रोकने से वही मन्त्र-शक्ति कर्मणा और नाम्ना "रोधिका" कहलाती है। तदनन्तर वही "नाद" रूपता को प्राप्त होती है।

॥५८९-५९१॥

प्राधान्यादवभासस्य वेद्यं संवेदनात्मकम् ॥५९१॥
संविदाभासितं भाति स्थूलसूक्ष्मपरात्मकम् ।
तत्र सूक्ष्मपराकाष्ठा भूमिरस्त्यर्धचन्द्रगा ॥५९२॥
अवभासस्य तत्रैव प्राधान्यं परिहाय च ।
विमर्शनं पुरस्कृत्य विश्रान्ति याति शब्दने ॥५९३॥
सूक्ष्मप्राणपथेनैति नादनादान्तरूपताम् ।
ततः क्षीणे प्रवाहात्मवायौ द्राक् संवेदनं पुनः ॥५९४॥
संकोचं विजहच्छीघ्रमेति शक्तिस्वरूपताम् ।
व्यापिनीरूपतामेति समनात्मोन्मनात्मताम् ॥५९५॥

प्रकाश की प्रधानता होने से संविद् से प्रकाशित् संवेदनरूप वेद्य, स्थूल, सूक्ष्म तथा पर रूप से भासित होता है। अर्धचन्द्र ही सूक्ष्म वेद्य की पराकाष्ठा है अर्थात् पदार्थों की अन्तिम अवस्था अर्धचन्द्र में ही होना है।

अर्धचन्द्र में ही प्रकाश की प्रधानता का त्याग कर तथा विमर्श को पुरस्कृत कर वेद्य "शब्दन" में विश्रान्त होता है और सूक्ष्म प्राण-मार्ग द्वारा "नाद" रूपता तथा "नादान्त" रूपता को प्राप्त होता है। तदनन्तर प्रवाह वायु के क्षीण हो जाने पर "संवेदन" संकोच का त्याग करता हुआ शीघ्र "शक्ति" रूपता को प्राप्त कर क्रमशः "व्यापिनी" रूपता, "समना-रूपता तथा "उन्मना" रूपता को प्राप्त होता है ॥५९१।२-५९५॥

हृदयात् सम्प्रवृत्तस्याकारस्यैका कला मता।
तत्रानच्कहकारस्याप्यन्तर्भावो हि विद्यते ॥५९६॥
परशक्तिविमर्शात्मा योऽकारो हकलापि वा।
शाम्भवस्य स्वरूपस्य सदा विमर्शनात्मिका ॥५९७॥
नैतयोर्भासते भेदः स्थितयोर्ध्वनिवायुवत् ॥५९८।१॥

हृदय में प्रारम्भ होने वाले अकार की एक कला होती है। उस अकार में अनच्क हकार का भी अन्तर्भाव है। विमर्शात्मक परा शक्ति स्वरूप अकार अथवा हकार की कला सदैव शाम्भव स्वरूप का विमर्शन करने वाली है।

इस अकार या हकार कला में शिव-शक्ति का भेद भासित नहीं होता, जिस तरह साथ ही स्थित ध्वनि और वायु में भेद भासित नहीं होता ॥ ५९६-५९८।१॥

उकारश्चोच्चरेत् कण्ठे द्विमात्रस्तालुमध्यगः ॥५९८॥
मकारोऽपि त्रिमात्रावान् बिन्दुर्भ्रुव्यर्धमात्रकः।
ललाटाग्रे तदन्ते च चन्द्रार्धो रोधिनी तथा ॥५९९॥
पादमात्रस्तदर्धा च, नादः षोडशकांशकः।
मूर्द्धान्ते पल्लवप्रायो नादान्तो नात्र भिद्यते ॥६००॥
शक्तिर्द्वात्रिंशदंशापि रन्ध्रान्ते, व्यापिनी पुनः।
चतुःषष्ठ्यंशमात्रैवः, त्वक्छेषे समना तथा ॥६०१॥
चतुःषठ्यंशमात्रैव, केशदेशेऽनुभूयते।
समनान्तस्य बिन्द्वादेर्मात्रांशानां च मेलने ॥६०२॥
एका मात्रा, तथा पूर्वत्रयाणां ताश्च षट्ततः।
सप्तमात्राः परित्यज्य विशेत् पदममात्रकम् ॥६०३॥

"कण्ठ" में द्विमात्रिक उकार का "तालुमध्य" में त्रिमात्रिक मकार का और "भ्रूमध्य" में अर्धमात्रिक बिन्दु का उच्चारण करना चाहिये।

ललाट के अग्रभाग में १/४ मात्रिक "अर्धचन्द्र" और ललाट के अन्त में १/८ मात्रिक "रोधिनी" का उच्चारण किया जाता है।

"मूर्द्धा" के अन्त में १/१६ मात्रा वाले "नाद" तथा इसी का पल्लवनरूप "नादान्द" का उच्चारण होता है। नाद और नादान्द की मात्रा में भेद नहीं होता है।

"ब्रह्मरन्ध्र" के अन्त में १/३२ अंश की "शक्ति", त्वचा के अन्त में १/६४ मात्रिक "व्यापिनी" और केश-प्रदेश में १/६४ मात्रिक "समना" का अनुभव होता है।

"बिन्दु" से लेकर "समना" पर्यन्त मात्रांशों के योग से १ मात्रा होती है तथा अ, उ, म्—इन तीनों की छः मात्रायें होती हैं। इस प्रकार सात मात्रायें होती हैं। इन सप्त मात्राओं का परित्याग कर अमात्रिक "पद" में प्रवेश करना चाहिये ॥५९८।२-६०३॥

उत्तरोत्तररूपत्वं पूर्वपूर्वस्य वस्तुनः ।
सृष्टौ, लयेऽधराणां च क्रमादूर्ध्वोर्ध्वरूपता ॥६०४॥

सृष्टिर्भावात्मिकानन्दरूपौन्मुख्यात् प्रजायते ।
अभावात्मा निवृत्तेश्च संहारो बीजरूपता ॥६०५॥

परं सूक्ष्मं तथा स्थूलं रूपं सर्वस्य संस्थितम् ।
अत एकं त्रिधा भूत्वा भासते नामरूपतः ॥६०६॥

सृष्टि-क्रम में पूर्व-पूर्व वस्तुओं की उत्तरोत्तररूपता होती है तथा प्रलय-क्रम में इसके विपरीत उत्तरोत्तर वस्तुओं की पूर्व-पूर्वरूपता होती है।

आनन्द की उन्मुखता से भावात्मक सृष्टि होती है। तथा निवृत्ति से अभावात्मक संहार अर्थात् बीजरूपता होती है।

समस्त वस्तु के तीन रूप होते हैं—पर, सूक्ष्म तथा स्थूल। अतः एक ही वस्तु तीन प्रकार विभाजित होकर नाम रूप द्वारा भासित होता है ॥६०४-६०६॥

प्रारम्भो यत आरभ्य सृष्टौ यस्यास्ति वस्तुनः ।
नश्यतस्तस्य तत्रैव नाशपूर्तिश्च जायते ॥६०७॥

यथारम्भोऽवभासस्य रोधिन्यामेव जायते ।
तथा रोधोऽपि रोधिन्यां क्रमात् सृष्टौ च संहृतौ ।।६०८।।

सृष्टि-क्रम में जिस वस्तु का प्रारम्भ जहाँ से होता है विनाश-क्रम में उस वस्तु की वहीं विनाश पूर्ति भी होती है। जैसे सृष्टि-क्रम में अवभास का प्रारम्भ रोधिनी में होता है और संहार-क्रम में अवभास का पूर्णतया विनाश भी रोधिनी में ही होता है ।।६०७-६०८।।

सूक्ष्मप्रकाशरूपो हि वेद्यो बिन्दुः स्फुरत्यसौ ।
तस्यातिसूक्ष्मरूपत्वे सोऽर्धचन्द्रो विभाव्यते ।।६०९।।

लये तस्य तमःकल्पा रोधिनी परिभाव्यते ।
निरोध्यनुभवान्तं च बिन्दुव्याप्तिः प्रवर्तते ।।६१०।।

निरोध्यन्तं क्रियाशक्तेर्ज्ञप्तेर्नादान्ततः पुरा ।
अथवा तमभिव्याप्य व्याप्तिरस्या निवर्तते ।।६११।।

इच्छाशक्तेरतश्चोर्ध्वं व्याप्तिर्बोध्योन्मनान्तगा ।
अकाराच्च मकारान्तमात्मतत्त्वं विभावयेत् ।।६१२।।

बिन्दोरारभ्य नादान्तं शक्तितत्त्वं श्रियात् पुनः ।
आव्याप्तेरुन्मनान्तं च शिवः साक्षाद् व्यवस्थितः ।।६१३।।

सूक्ष्मप्रकाशरूप वेद्य बिन्दुरूप से स्फुरित होता है। अतिसूक्ष्मरूपता होने पर वह वेद्य अर्धचन्द्र रूप से भासित होता है। प्रलय में वही वेद्य तमः कल्प (अन्धकार-सदृश) "रोधिनी" रूप से भासित होता है। "रोधिनी" के अनुभव पर्यन्त ही "बिन्दु" की व्याप्ति समझनी चाहिये अर्थात् बिन्दु और अर्धचन्द्र ये दोनों रोधिनी के रूप हैं।

"रोधिनी" पर्यन्त क्रियाशक्ति, "नादान्त" से पूर्व अथवा "नादान्त" तक ज्ञानशक्ति और तत्पश्चात् "उन्मना" पर्यन्त इच्छाशक्ति की व्याप्ति रहती है। अ से लेकर म् तक (अ, उ, म्) आत्म तत्त्व, "विन्दु" से लेकर "नादान्त" तक शक्तितत्त्व तथा "व्याप्ति" से "उन्मना" तक साक्षाद् व्यवस्थित शिवतत्त्व की भावना करनी चाहिये ।।६०९-६१३।।

अहन्तैकरसाभिन्ना स्वावमर्शमयी सदा ।
स्वप्रकाशस्फुरत्तैवानवच्छिन्नोन्मना हि या ॥६१४॥

सानाश्रितपदाभिन्नसर्वभावोन्मुखात्मिका ।
स्फूरन्ती सर्वभावानां समनाऽऽसूत्रणात्मिका ॥६१५॥

अहन्तारूप एक रसमय, सदा स्व का परामर्श करने वाली, स्वप्रकाश स्फुरत्ता अनवच्छिन्न है। वहीं उन्मना है। वह उन्मना अनाश्रित शिव स्वरूपा है। सर्वभावोन्मुख "उन्मना" स्फुरित होती हुई सब वस्तु का ईषत् सूत्रण करने वाली समना बन जाती है ॥६१४-६१५॥

उन्मनाव्योमतो जातं समनाव्योम सुस्फुटम् ।
तज्जातं व्यापिनीव्योम विश्वभावावभासकम् ॥६१६॥

ततः स्पर्शात्मिका शक्तिः प्रसुप्तभुजगाकृतिः ।
इत्थं शक्तिः परसूक्ष्मस्थूलरूपतयाऽभवत् ॥६१७॥

समना व्यापिनी शक्तिर्मेयाऽऽसूत्रणभासिनी ।
स्पर्शाच्छक्त्यात्मनस्तस्मान्नादोऽव्यक्तोऽभवच्च यः ॥६१८॥

वाच्यवाचकसामान्यध्वनिरूपतया पुरा ।
स्पन्दते, यत्र नो भाति वाचकोऽपि विशेषतः ॥६१९॥

वाचकाभिन्नवाच्यस्य कथा तत्र तदा कथम् ।
शब्दग्रामः स्फुटत्यस्मादतः स्फोटोऽप्ययं मतः ॥६२०॥

उन्मनारूप अस्फुट व्योम से समनारूप स्फुट व्योम उदित होता है तथा समनाव्योम से व्यापिनीरूप व्योम उत्पन्न होता है। यह समस्त पदार्थों का अवभासक है। तदनन्तर व्यापिनीव्योम से समस्त पदार्थो का स्पर्श करने वाली प्रसुप्त भुजगाकृति शक्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार एक ही शक्ति पर सूक्ष्म तथा स्थूल के भेद से समना, व्यापिनी तथा शक्ति रूप से पदार्थो का प्रारम्भ एवं भासन करती है। स्पर्शात्मक शक्ति तत्त्व से अव्यक्त नाद उत्पन्न होता है। वह पहले वाच्य-वाचक के सामान्य-ध्वनि रूप से स्पन्दित होता है। उस अव्यक्त नाद

में वाचक भी विशेषरूप से भासित नहीं होता, फिर तो वाचकाभिन्न वाच्य की कौन सी कथा। इस नाद से शब्द-समूह स्फुटित होता है अतः "स्फुटित शब्दग्रामः अस्मात्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार वैयाकरण इस ध्वनि को "स्फोट" शब्द से कहते हैं ॥६१६-६२०॥

सोऽयं सदाशिवो व्यक्तो देवो यो दृक्क्रियात्मकः ।
नादाद्बिन्दुः समुद्भूतः क्रियाशक्त्यात्मकः प्रभुः ॥६२१॥
अविभक्तस्वरूपं यो वेद्यवर्गस्य भाविनः ।
ईश्वरो बहिरुन्मेषः क्षेपो बिन्दुरयं स्मृतः ॥६२२॥
बहिरुल्लसितस्यापि अन्तराक्रमणं पुनः ।
आक्रान्तिर्नाद इत्यादि प्रोक्तं त्रैशिरसे मते ॥६२३॥

वही नादात्मक ध्वनि अभिव्यक्त सदाशिव है, जो ज्ञानक्रियारूप देव है। नाद से प्रभुरूप क्रिया शक्त्यात्मक बिन्दु उत्पन्न होता है। यही भावी वेद्य-समूह का अविभक्त रूप है। बाह्य-उन्मेषरूप ईश्वर तथा क्षेपात्मक "बिन्दु" माना जाता है। बाहर उन्मिषित पदार्थों का पुनः आन्तर विलयन ही "त्रिशिरस्" आगम में "आक्रान्ति" और "नाद" शब्द से कहा गया है ॥६२१-६२३॥

निमज्जनादिदन्ताया अहन्तोन्मज्जनात्मनि ।
नादान्ते मातृरूपायाः संविदो बोध एव यः ॥६२४॥
चिद्बुद्बोधः स कथितो बुद्धायाः संविदः पुनः ।
उद्रेको दीपनं शक्तौ व्यापिन्यां स्थापनं तथा ॥६२५॥
संवित्तिः समनायां स्यादुन्मनायां तदात्मता ।
अतः सृष्टि प्रकुर्वन्ती यथेयं समनोच्यते ॥६२६॥
तथा स्वस्यां जगत् सर्वं समना संहरन्त्यपि ।
शून्याभासतयाभास्य सम्पूर्णं जगदात्मनि ॥६२७॥
करोति जगतो नित्यं स्वाभेदात्मनिमज्जनम् ।
इति गर्भीकृतानन्त विश्वसृष्टिविनाशभूः ॥६२८॥

विद्यते भ्राजते चापि महासृष्टयात्मशक्तिभूः ।
उन्मना परतत्त्वात्माभिन्नाऽभिन्नापि गम्यते ।।६२९।।
इत्थं विमर्शितो मन्त्रो योगिनां योगसिद्धिदः ।
अहम्मन्त्रविदां शीघ्रं भवेद् भक्तिमतामपि ।।६३०।।

इदन्ता का लय तथा अहन्ता का उत्थान होने से "नादान्त" में प्रमाता रूप संविद् मात्र का बोध होता है। इसे "चिदुद्बोध" कहा गया है। उद्बुद्ध संविद् का "शक्ति" में उद्रेक अर्थात् दीपन होता है और "व्यापिनी" में स्थापन होता है। "समना" में उसका ज्ञान तथा "उन्मना" में स्वरूपमयता अर्थात् शिवमयता हो जाती है।

अतः जैसे सृष्टि करने वाली यह "समना" कहलाती है वैसे ही सम्पूर्ण जगत को अपने में विलीन करती हुई यह "समना" कहलाती है। यह सम्पूर्ण जगत् को शून्याभासरूप से आभासित कर उसे स्वाभेदरूप प्रदान करती है। अतः अपने अन्दर में स्थित अनन्त विश्व की सृष्टि तथा विनाश की भूमि "समना" है जो स्वात्मरूप महासृष्टि की शक्ति का भी स्थान है। परतत्त्व से अभिन्न "उन्मना" शक्ति यहीं पर भिन्न और अभिन्न दोनों रूप से प्रकाशित होती है। इस प्रकार विमर्श किया गया मन्त्र योगिजन को "योग-सिद्धि" प्रदान करता है तथा "अहम्-मन्त्र" जानने वाले भक्तिमान् को अतिशीघ्र सिद्धि प्रदान करता है ।।६२४-६३०।।

।। इति प्रथमो विमर्शः ।।

पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा

प्रक्रिया-विमर्शनम्

श्रीगुरुस्मरणम्

यस्यां च सत्यामहमेव भामि
सर्वात्मना सर्वविकल्पहीनः ।
यत्नैरलभ्यामतिदुर्लभां तां
श्रीसद्गुरोर्नौमि दयार्द्रदृष्टिम् ॥१॥

श्रीगुरुतत्त्व का स्मरण

प्रयत्नों द्वारा अलभ्य अत एव अत्यन्त दुर्लभ श्रीसद्गुरु की उस अद्भुत कृपा-दृष्टि को प्रणाम करता हूँ, जिसके होने से समस्त विकल्पों से रहित, मैं ही सभी रूपों में भासित हो रहा हूँ ॥१॥

स्वानन्दरसकल्लोलैरुल्लसन्नस्म्यहर्निशम् ।
यद्दृष्टिपरिपूतोऽहमाश्रये तत्पदद्वयम् ॥२॥

जिनकी कृपा-दृष्टि से परिपूत होकर स्वानन्दरूप रसमयता से तरङ्गायित और अनवरत उल्लसित हो रहा हूँ; मैं उन गुरुचरणों का स्मरण करता हूँ ॥२॥

स्वात्मावमर्शसंलग्ना परासहितवैखरी ।
कृता येन गुरोस्तस्य वाचा कुर्यां स्तुतिं कया ॥३॥

जिन्होंने "परा" से 'वैखरी" पर्यन्त वाणी को स्वात्मावमर्श में निर्देशित किया है, उन गुरु की स्तुति मैं किस वाणी से करुँ ? ॥३॥

गुरुस्तुतिपरैवेयं परासहितवैखरी ।
इत्येवं जानतो मे वाक् का न स्तौति गुरुं कदा ॥४॥

"परा" से लेकर "वैखरी" पर्यन्त यह वाणी गुरु-स्तुति में ही तत्पर है—यह जानते हुए मेरी कौन-सी वाणी कब किस क्षण गुरु की स्तुति नहीं कर रही है ? ॥४॥

नमः श्रीमहसे तस्मै स्वात्मसाम्राज्यदायिने ।
भवबन्धच्छिदे दृष्ट्या नररूपत्रिशूलिने ॥५॥

मैं स्वात्म-साम्राज्य को देनेवाले, दृष्टिमात्र से संसाररूप बन्धन का विनाश करने वाले, मनुष्यरूप में शंकर से अभिन्न उस श्रील तेज को नमस्कार करता हूँ ॥५॥

प्रक्रियाज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभिमर्शनम्

प्रक्रियातः परं ज्ञानं नेति शैवागमे क्वचित् ।
शक्तिपातस्य वैचित्र्यान्मन्यन्ते परयोगिनः ॥६॥

प्रक्रिया-ज्ञान की सर्वोच्चता का प्रतिपादन

शैवागम में कहीं-कहीं कहा गया है कि प्रक्रिया से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है, शक्तिपात के वैचित्र्य से ही उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होता है—ऐसा पर अथवा अपर योगीजन मानते हैं। ॥६॥

ऋते सृष्ट्यादितत्त्वज्ञानान्मुक्तमोचकत्वाभावः

सृष्ट्यादितत्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो न च मोचयेत् ।
इत्युक्तं गुरुणा गुप्तपादेनालोकषष्ठके ॥७॥
उत्पत्तिस्थिति संहारान् ये न जानन्ति योगिनः ।
न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः ॥८॥

सृष्टि-प्रभृति के ज्ञान बिना मुक्त होना तथा मुक्त करना सम्भव नहीं

तन्त्रालोक के षष्ठ आह्निक में गुरुवर अभिवनगुप्तपाद ने कहा है कि सृष्टि, स्थिति तथा ध्वंस के तत्त्व को जाने बिना प्राणी न तो मुक्त हो सकता और न तो मुक्त कर सकता है। तथाहि—जो योगी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय को सही रूप में नहीं जानते; वे मुक्त नहीं हो पाते। वे उत्पत्त्यादि के अज्ञान-रूप बन्धन से बँधे रहते हैं ॥७-८॥

अतो विज्ञा विनोदाय केचनाज्ञास्तु सिद्धये ।
दृश्यन्ते योगिनो लग्नाः सर्गक्रमविलोडने ॥९॥

इसलिये विज्ञ योगी विनोद हेतु तथा कतिपय अज्ञ योगी सिद्धि हेतु सृष्टि-क्रम की खोज में संलग्न देखे जाते हैं ।।९।।

षड्विधाध्वपरिज्ञानेन भैरवत्वावाप्तिः

ते शीघ्रं श्रवणेनैव यथाध्वज्ञानवैभवम् ।
प्राप्याप्नुवन्तु सम्पूर्णविश्वात्मत्वस्वरूपताम् ।।१०।।
तथाभूतमिदं वच्मि प्रक्रियाज्ञानबोधकम् ।
सावधानेन मनसा सद्भिस्तदवधीयताम् ।।११।।

छः प्रकार के अध्वा के यथार्थ ज्ञान से भैरवरूपता की प्राप्ति का अभिधान

वे योगी श्रवण-मात्र से ही अध्वाओं का ज्ञान प्राप्त कर विश्वात्मता का अनुभव करें। एतदर्थ प्रक्रियाज्ञान का बोधक उपाय बतलाता हूँ। सज्जन एकाग्रता पुरःसर इसे सुनें ।।१०-११।।

षड्विधाध्वा परिज्ञातोऽभ्यस्तश्चापि यथाविधि ।
पूर्णभैरवरूपत्वं माहैश्वर्यं प्रयच्छति ।।१२।।
मेयभागगतोऽध्वास्ति पुरतत्त्वकलात्मकः ।
पदमन्त्रवर्णरूपो मातृभागगतस्त्रिधा ।।१३।।

कला, तत्त्व और भुवन—ये तीन प्रमेयगत अध्वा हैं तथा वर्ण, मन्त्र और पद—ये तीन प्रमातृगत अध्वा हैं। ये छः प्रकार के अध्वा यथाविधि ज्ञात और अभ्यस्त होने से पूर्णभैरवरूपता अर्थात् महेश्वरता प्रदान करते हैं ।।१२-१३।।

यद्यप्यध्वा समस्तोऽयं प्रकाशाभिन्न एव सन् ।
तदिच्छया तथाप्येष भिन्नत्वेनापि भासते ।।१४।।

यद्यपि षड्विध अध्वा शिवस्वरूप ही है तथापि शिवेच्छा द्वारा यह उनसे भिन्नतया भी भासित होता है ।।१४।।

अधिकारिभेदाद् द्विविधोऽध्वशब्दार्थः

प्रबुद्धैरद्यते यस्माद् गम्यते सिद्धिमोप्सुभिः ।
गमनेनादनेनापि प्रोच्यतेऽध्वात्र शासने ।।१५।।

अधिकारी-भेद से "अध्वा"—शब्द का अर्थ दो प्रकार का है

प्रबुद्धों द्वारा निगल लिये जाने से और सिद्धि चाहनेवालों द्वारा प्राप्य होने से—इन दो अर्थों में "अध्वा" शब्द का प्रयोग शैव-शास्त्र में किया जाता है ॥१५॥

शिवतत्त्वात्मनि पदे यातव्ये प्राप्तिकारणम् ।
क्रमेण द्वैतिनामध्वा ज्ञानिनां तत्क्षणादिव ॥१६॥

प्राप्तव्य शिवतत्त्वरूप परम-पद की प्राप्ति में अज्ञानियों को "अध्वा" क्रमशः कारण होता है और ज्ञानियों के लिये तो वह तत्क्षण ही कारण होता है ॥१६॥

संवित्-तत्त्वात्मकं सर्वमध्वानं संविदात्मकः ।
इच्छयैव क्षणेनैव स्वात्मसात्-कुरुते बुधः ॥१७॥

"संविद्" से अभिन्न ज्ञानी-जन इच्छामात्र से क्षण-भर में ही संवित्स्वरूप षड्विध-अध्वा को निगलकर स्वात्मसात् कर लेते हैं ॥१७॥

स्वच्छन्दे दशमे क्षेमराजेनाभिनवेन च ।
तन्त्रालोके कृतश्चायमन्वर्थ इत्यमध्वनः ॥१८॥

आचार्य क्षेमराज ने "स्वच्छन्द-तंत्र" के दशम पटल की टीका में तथा आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने "तन्त्रालोक" में उपर्युक्त युक्ति द्वारा "अध्वन्" शब्द की अन्वर्थता बतलायी है ॥१८॥

शून्यादिप्रमातृभानपूर्वकाध्वभानस्य स्पष्टीकरणम्

प्रकाशपरमार्थत्वात् स्वाविभागेन तिष्ठतः ।
मातृमेयात्मविश्वस्य शुद्धसंवित्स्वभावता ॥१९॥
स्थिता, तां पूर्णतां स्वस्य स्वेच्छयैवापसारयन् ।
विश्वस्मादहमुत्तीर्ण इत्यामृश्यैति शून्यताम् ॥२०॥

शून्यादि प्रमाताओं के भानपुरःसर अध्व-भान का स्पष्टीकरण

प्रकाशरूप शिवतत्त्व ही परमार्थ है। शिव से अविभक्ततया स्थित प्रमाता और प्रमेय-रूप विश्व शुद्ध-संविद्-रूप से ही स्थित है अतएव पूर्ण

है। अपनी पूर्णता को स्वेच्छा से ही हटाता हुआ "मैं विश्व से अलग हूँ।" ऐसा निश्चय कर स्वयं शिव शून्य रूप हो जाता है ॥१९-२०॥

तदिदं स्वस्वरूपं तु सर्वभावक्षयास्पदम् ।
योगिनां निरुपाख्येयं परं विश्रान्तिदं पदम् ॥२१॥

बौद्ध-योगियों का समस्त-पदार्थ के क्षय का आस्पद शून्य-पद भी स्व-स्वरूप ही है। यही उन्हें अनिर्वचनीय विश्रान्ति प्रदान करने वाला परम-पद है ॥२१॥

इदं शून्यप्रमातृत्वं परिहाय स्वभावतः ।
स्वस्मात् पृथक्कृतं विश्वं स्वीकर्तुं चोच्छलन्निव ॥२२॥
संविद्गात्मा शिवोऽध्यास्ते पुनः प्राणप्रमातृताम् ॥२३।१॥

संवित्स्वरूप शिव स्वभाव से ही उपर्युक्त शून्य प्रमातृता का त्याग कर अपने से पृथक् किये गये विश्व को स्वीकारने हेतु उछलता हुआ-सा पुनः "प्राणप्रमातृता" प्राप्त करता है ॥२२-२३।१॥

नित्यस्पन्दमयः प्राणो यद्यप्यस्त्येत्र तत्त्वतः ॥२३॥
तथापि प्रोक्तनीत्यैव प्रोक्तं श्रीकल्लटादिना ।
"संवित् प्राक् प्राणतां प्राप्ता ततो बुद्धयात्मतां गता ॥२४॥

यद्यपि वस्तुगत्या नित्यस्पन्दमय प्राण शून्य-प्रमातृता में भी अनुगत है तथापि उपर्युक्त क्रम से ही श्रीकल्लट-प्रभृति आचार्यों ने बताया है; संविद् पहले प्राणरूपता प्राप्त कर तत्पश्चात् बुद्धि-रूपता प्राप्त करती है" ॥२३।२-२४॥

इतीत्थं क्रममासाद्य शून्यं प्राणं धियं पुनः ।
नाडीचक्रानुचक्रात्मदेहमाभासयत्यपि ॥२५॥
ततः प्राणादिदेहान्ते बहिर्देशेऽपि मायया ।
स्वोद्भास्यमानतामात्रसारस्याप्यतिरेकिणः ॥२६॥

अध्वनोऽध्वपतेश्चापि स्थितिं भिन्नां प्रकल्पयन् ।
पुद्गलोऽणुः पशुर्जीवः संसारी शिव एव सः ॥२७॥

उपर्युक्त क्रम से संविद्-स्वरूप शिव ही क्रमशः शून्य, प्राण, बुद्धि तथा नाडीचक्रानुचक्रात्मक देह को आभासित करता है।

तदनन्तर "प्राण" से "देह"-पर्यन्त तथा इनके बाहर संवित्प्रकाश्य-सार होने पर भी माया द्वारा पृथक् प्रतीत होने वाले, "अध्वा" और "अध्वपति" की पृथक् स्थिति की परिकल्पना करता हुआ शिव ही विभिन्न शास्त्रों में "पुद्गल", "अणु", "पशु", "जीव" और "संसारी"–शब्दों से जाना जाता है ॥२५-२७॥

अवाप्तशक्तिपातः सन् स्वस्वरूपं पुनः स्मरन् ।
सद्यः समस्तमध्वानं स्वाभिन्नं कलयन् पतिः ॥२८॥

पशु शक्तिपात द्वारा पुनः अपने स्वरूप का स्मरण करता हुआ समस्त अध्वाओं को अपने से अभिन्नरूप में आकलन कर "पशुपति" हो जाता है ॥२८॥

क्रियावैचित्र्यभासनात् वर्ण-मन्त्र-पदात्मक-कालाध्वनो भानम्
मूर्तिवैचित्र्यभासनात् काल-तत्त्व-भुवनात्मदेशाध्वनो भानम्

क्रियामूर्तिविहीनायाः क्रियावैचित्र्यभासनात् ।
संविदोऽस्त्येव कालाध्वा वर्ण-मन्त्र-पदात्मकः ॥२९॥

भाति देशक्रमो मूर्तिवैचित्र्याभासतः पुनः ।
देशाध्वा प्रोच्यते सोऽत्र कला-तत्त्व-पुरात्मकः ॥३०॥

क्रिया-वैचित्र्य के आभास से कालाध्वा का भान और
मूर्ति-वैचित्र्य के आभास से देशाध्वा का भान होता है।

क्रिया और मूर्ति से रहित संविद् का क्रिया-वैचित्र्य के प्रकाशन से वर्ण, मन्त्र और पद संज्ञक कालाध्वा होता है एवं मूर्ति-विचित्रता के प्रकाशन से "देशक्रम भासित है जिसे शैवागम में कला, तत्त्व और भुवन-रूप "देशाध्वा" कहा जाता है ॥२९-३०॥

अस्याध्वनः परसूक्ष्मस्थूलरूपतया सतः ।
वर्णमन्त्रपदस्यापि कला-तत्त्व-पुरस्य च ॥३१॥

वाच्य-वाचकभावेन स्थितस्य द्विविधस्य च ।
ज्ञातव्या स्वीयशक्त्यात्म-क्रियास्फारसतत्त्वता ॥३२॥

पर, सूक्ष्म और स्थूल-रूप से विद्यमान वाच्यरूप-कला, तत्त्व और भुवन-संज्ञक "देशाध्वा"—एवं पर—सूक्ष्म-स्थूल रूप से विद्यमान वाचक-रूप-वर्ण, मन्त्र और पद-संज्ञक "कालाध्वा" का बीज शिवाभिन्न-स्व-शक्ति-रूप क्रिया का प्रसार ही है ॥३१-३२॥

वर्णादिवाचकाध्वनामभेदादिना विश्ववाचकत्वम् ।

तत्र वर्णा ह्यभेदेन भेदाभेदात्मना पुनः ।
मन्त्राः पदानि भेदेन स्थिता विश्वविमर्शिनः ॥३३॥

वाचकरूप वर्णादि अध्वा अभेदादिरूप से विश्व-वाचक हैं ।

वाचक-अध्वाओं में वर्णाध्वा अभेद रूप से, मन्त्राध्वा भेदाभेदरूप से तथा पदाध्वा भेदरूप से विश्व का विमर्शन करते हैं ॥३३॥

सर्वाध्वनः सर्वत्राध्वनि सत्त्वम्

अप्यध्वा पूर्वपूर्वोऽयं व्यापकत्वेन संस्थितः ।
उत्तरत्र तु पूर्वत्र व्याप्यत्वेनोत्तरोत्तरः ॥३४॥

इत्युत्तरस्य पूर्वत्र सत्त्वात् पूर्वस्य चोत्तरे ।
अन्तर्भूतत्वमस्त्येवं व्यापित्वं च समात्मता ॥३५॥

प्रत्येक अध्वा में समस्त-अध्वाओं की सत्ता का उपपादन

वर्णादिपूर्ववर्त्ती अध्वा अपने उत्तरवर्ती अध्वाओं में व्यापकरूप से स्थित हैं तथा भुवनादि उत्तरवर्त्ती अध्वा अपने पूर्ववर्त्ती अध्वाओं में व्याप्यरूप से स्थित हैं । इस प्रकार उत्तरवर्ती अध्वाओं की सत्ता पूर्ववर्त्ती अध्वाओं में और पूर्ववर्त्ती अध्वाओं की सत्ता उत्तरवर्त्ती अध्वाओं में होने से प्रत्येक अध्वा में समस्त अध्वाओं के अन्तर्भाव, व्यापकता और समरूपता हैं ॥३४-३५॥

गर्भीकृतान्यपञ्चाध्वाध्वनो दीक्षाविधावतः ।
एकस्यैवाध्वनः शुद्धौ शुद्धिः सर्वस्य चोदिता ।।३६।।

अतः प्रत्येक अध्वा में गर्भरूप से अन्य पाँच अध्वाओं की सत्ता होने से "स्वच्छन्द-तंत्र" के दीक्षा-विधि-प्रकरण में एक अध्वा की "शुद्धि" से समस्त अध्वाओं की शुद्धि बतायी गयी है ।।३६।।

इति सामान्यतः प्रोक्तमध्वतत्त्वमथाधुना ।
सुस्पष्टप्रतिभानार्थमुच्यतेऽपि विशेषतः ।।३७।।

इस प्रकार सामान्यरूप से अध्व तत्त्व का निरूपण किया गया । अब स्पष्टतया बोध हेतु विशेषरूप से उसका निरूपण किया जा रहा है ।।३७।।

तत्रानेकप्रकारेण वर्णमन्त्रपदाध्वनाम् ।
तत्त्वं वच्मि स्वरूपं च सम्बद्धं वाचकात्मनाम् ।।३८।।

उन अध्वाओं में वर्ण, मन्त्र और पद रूप वाचक अध्वाओं के तत्त्व और स्वरूप अनेक प्रकार से कहता हूँ जो परस्पर सम्बद्ध हैं ।।३८।।

यत्स्वसंवेदनं प्रोक्तं स्वप्रकाशोऽपि यो मतः ।
यतो विश्वव्यवस्थेयं या संवित् पारमार्थिकी ।।३९।।
सेयं नैव विमर्शात्मस्वरूपमतिवर्तते ।
विमर्शोऽस्याः परो भागः स्वस्वरूपप्रकाशनात् ।।४०।।

जिसे "स्वसंवेदन" कहा गया है। जो स्वप्रकाशरूप से सम्मत है, जिससे सम्पूर्ण विश्व व्यवस्थित है और जो पारमार्थिक संवित है—वह अनुत्तर शिव विमर्शरूपता का कथमपि अतिक्रमण नहीं करता । अर्थात् संवित्स्वरूप का प्रकाशन करने से विमर्श भी संवित् का ही उत्कृष्ट भाग है ।।३९-४०।।

परापरात्मिका सैव पश्यन्ती मानमुच्यते ।
यत्रापरांशगं मेयं तादात्म्यादवतिष्ठते ।।४१।।

नहि भिन्नेन मानेन मेयस्य स्याद् व्यवस्थितिः ।।४२।१।।

वही संवित् परापरस्वरूपा "पश्यन्ती" है जिसे प्रमाण कहा जाता है। पश्यन्ती में अपरांशस्थित प्रमेय तादात्म्य (अभेद) रूप से स्थित है। क्योंकि प्रमेय और प्रमाण में भेद होने पर भिन्न प्रमाण द्वारा प्रमेय-व्यवस्था नहीं बन सकती ॥४१-४२/१॥

मातृलग्नं यथा मानं मेयं मानात्मकं तथा ॥४२।२॥

अतः संविदभिन्नेयं मातृमानप्रमेयता ।
गृह्णती स्वप्रकाशत्वं स्वभावादेव भासते ॥४३॥

जिस प्रकार प्रमाण प्रमाता से संलग्न (अभिन्न) है उसी प्रकार प्रमेय भी प्रमाणरूप ही है।

अतः संवित्स्वरूप प्रमातृता, प्रमाणता और प्रमेयता स्वभाव से ही स्वप्रकाशता का आकलन कर भासमान होती हैं ॥४२/२-४३॥

तदत्रैव परांशो यः स मात्रंशोऽपरः पुनः ।
मेयांश, उभयात्मैव मानं परापरात्मकम् ॥४४॥

इस प्रकार एक संविद् में ही परांश प्रमाता है, अपरांश प्रमेय है तथा परापरांश प्रमाण है।

अतः समस्त एवाध्वा भैरवाभेदवृत्तिमान् ।
तदिच्छया पृथक् तस्माद् भात्यस्त्यपि तथा तथा ॥४५॥
भासमानत्वमेवास्ति यतः सत्त्वं हि वस्तुनः ॥४५-४६-१॥

इस प्रकार समस्त अध्वा भैरवाख्य शिव से अभिन्न रूप में स्थित है जो उन्हीं की इच्छा से पृथक् भासित होते हैं तथा पृथक् स्थित भी हैं क्योंकि "प्रकाशमानता" ही वस्तु की सत्ता है ॥४५-४६।१॥

वर्णाध्वाऽत्र प्रमारूपो मन्त्राध्वा मातृरूपधृक् ॥४६।२॥

अयं प्रमाणतां गच्छन् प्राप्नोत्येव पदाध्वताम् ॥४७।१॥

षड्विध अध्वा में वर्णाध्वा प्रमारूप हैं, मन्त्राध्वा प्रमातारूप है। प्रमाता ही प्रमाणरूपता प्राप्त कर "पदाध्वा" कहला है ॥४६।२-४७।१॥

प्रमाणरूपतावेशमपरित्यज्य मेयताम् ॥४७।२॥
विशन् संकल्पनायोगाद् याति सद्यः कलाध्वताम् ॥४८।१॥

प्रमातृरूप मन्त्राध्वा प्रमाणरूपता का त्याग न कर प्रमेयता का आकलन करता हुआ संकल्प-योग से सद्यः "कलाध्वा" बन जाता है ॥४७।२-४८।१॥

मातृसंगत एवायं कलाध्वा यद्यपि स्थितः ॥४८।२॥
तथापि मेयहेतुत्वात् कथ्यते मेयभागगः ।
अतो मेयावटश्चापि कलैवेयं निगद्यते ॥४९॥

यद्यपि कलाध्वा प्रमाता में ही स्थित है, तथापि प्रमेय का हेतु होने से इसे मेयगत कहा जाता है। अतएव कलाध्वा को "मेयावट" अर्थात् मेय का सूक्ष्म कारण भी कहा जाता है ॥४८।२-४९॥

सूक्ष्मशुद्धप्रमेयत्वयोगात् तत्त्वाध्वनामभाक् ।
स्थूलप्रमेयतायोगाद् भुवनाध्वा स उच्यते ॥५०॥

मन्त्रध्वा ही सूक्ष्म अतएव शुद्ध-प्रमेयता के योग से तत्त्वाध्वा एवं स्थूल-प्रमेयता के योग से भुवनाध्वा कहलाता है ॥५०॥

वर्णाध्वरूपप्रमायाः सतत्त्वम्

यत्प्रमारूपता प्रोक्ताऽध्वनो वर्णात्मकस्य वै ।
तत्प्रमायाः स्वरूपं स्वं प्रोच्यतेऽप्यधुना मया ॥५१॥

वर्णाध्वास्वरूप प्रमा के स्वरूप का प्रतिपादन

वर्णाध्वा की प्रमारूपता पहले बतलायी जा चुकी है। सम्प्रति प्रमा के शास्त्रसम्मत स्वरूप को बताया जा रहा है ॥५१॥

अनवच्छिन्नसहजपरामर्शमयी प्रमा ।
न तु प्रमाणजा काचिदत्रेष्टाऽन्यैः समीहिता ॥५२॥

यह अहंरूपा प्रमा त्रिविध (देश, काल, वस्तु) परिच्छेद से वर्जित, स्वाभाविक परामर्शरूप है।

नैयायिक प्रभृति अन्यशास्त्रकारों को अभिमत "प्रमा की प्रमाण-जन्यता" शैवागम में नहीं स्वीकारी गई है ॥५२॥

परप्रमातृतैवेयं स्वातन्त्र्यात्मा प्रमा मता ।
इदं प्रमात्मकं वस्तु प्रमातुरुपरि स्थितम् ॥५३॥

स्वातन्त्र्यशक्तिस्वरूपा परप्रमातृता ही यहाँ प्रमाशब्दवाच्य है। यह प्रमा प्रमाता के उपर अर्थात् प्रमाता की अपेक्षा के बिना ही स्थित है ॥५३॥

इयं तुर्यदशा चापि जाग्रदादेः परा स्मृता ॥५४।१॥

यह प्रमा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से परा अत एव तुरीयावस्था है। ॥५४।१॥

पूर्णतागमनौन्मुख्ये समावेशोऽपि शक्तिजः ॥५४।२॥
मेयं विश्रान्तिमायाति माने तच्चापि मातरि ।
सोऽप्यस्यामेति विश्रान्तिमितीयं विश्वजीवनम् ॥५५॥

पूर्णता-प्राप्ति हेतु उन्मुखता होने पर क्रमशः शक्तिसमुत्पत्य समावेश प्रमेय में, प्रमेय-प्रमाण में, प्रमाण-प्रमाता में और प्रमाता इस "परप्रमा" में विश्रान्त होते हैं। इस प्रकार यह परप्रमा ही "विश्व-जीवन" है ॥५४।२-५५॥

मेयादित्रयसाध्या या मितिस्तत्रापि दृश्यताम् ।
मेयं मानं च मातारं त्यजन्तीयं विराजते ॥५६॥

जो लौकिक प्रमा—प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता-तीनों से जन्य है उसमें भी परप्रमा—प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता की अपेक्षा बिना ही विराजमान रहती है ॥५६॥

उपायरहिता संवित् पश्यामीत्यनुपायिका ।
अतोहमात्मिका वित्तिः स्वप्रकाशा प्रमा मता ॥५७॥

प्रमात्रादि-सापेक्ष प्रमा भी "देखता हूँ"—इस रूप में प्रमाणादि-त्याग-पुरःसर, उपाय-रहित ही भासित होती है। अतः प्रमा अहमात्मिका ज्ञानरूपा तथा स्वप्रकाशरूपा है ॥५७॥

अनामयायाः सव्यापारायाश्च स्वरूपम्

वेद्यादिभेदरहिता प्रोक्ता सेयमनामया ।
सव्यापारेति च प्रोक्ता मात्राद्युल्लासनादियम् ॥५८॥

अनामया और सव्यापारा के स्वरूप का निर्वचन

संविद्-स्वरूप प्रमा ही वेद्य, वेदक और वेदन-रूप भेद के अङ्कुरित होने से पूर्व "अनामया" तथा उक्त भेदाङ्कुर के समुल्लासोत्तर "सव्यापारा" कहलाती है ॥५८॥

स्वीयावेशस्य तादात्म्यान्मातृतां मानतां पुनः ।
उपरागाच्च नैकटचान्मेयतामियमेत्यपि ॥५९॥

संविद्-रूपा परप्रमा ही अपने आवेश के तादात्म्य से क्रमशः प्रमातृ-रूपता, प्रमाणरूपता और उपराग अर्थात् सामीप्य से प्रतिबिम्ब द्वारा प्रमेयरूपता को प्राप्त करती है ॥५९॥

त्रिकागमोक्तपदस्वरूपम्

मन्त्राणां च पदानां च भिन्नं रूपं त्रिकागमे ।
प्रोक्तं निःस्पन्दसस्पन्दभेदाद् भिन्नतयास्ति यत् ॥६०॥

त्रिकागम के अनुसार पद के स्वरूप का निरूपण

"त्रिक" आगम में प्रकारान्तर से निःस्पन्द और सस्पन्द भेद से मन्त्रों एवं पदों के विभिन्न रूप बताये गये हैं ॥६०॥

विमर्शस्वभाव एवायं माता मन्त्रस्तथा पदम् ।
गुप्तभाषी मनुर्माता मानं क्षुब्धात्मकं पदम् ॥६१॥

क्षोभभाङ्मानमित्युक्तमक्षुब्धो मननात्मकः ।
औदासीन्यमिवापन्नो मन्त्रस्तूष्णीं व्यवस्थितः ॥६२॥

विमर्श-स्वभाव प्रमातृरूप शिव ही निम्नलिखित रूप से मन्त्र और पद बनता है—अक्षुब्ध प्रकाश, मानमेयादि से उदासीन रहकर गुप्तभाषी मननात्मक मन्त्ररूप प्रमाता तथा क्षुब्धावस्थापन्न होकर पदरूप प्रमाण कहलाता है ॥६१-६२॥

यैव पूर्णस्वरूपत्वादविभागमयी प्रमा ।
सा षट्त्रिंशत्पदार्थार्थोच्छलद्वर्णात्मिका सदा ॥६३॥
वर्णाध्वा कथ्यते सोऽत्र प्रमात्मा मातृभागगः ॥६४॥

पूर्णस्वरूप अतएव विभाग-शून्य प्रमा ही छत्तीस पदार्थों के लिये उछलती हुई वर्णरूपा होती है। यही प्रमातृभागगत प्रमा वर्णाध्वा कहलाती है।।६३-६४।१।।

मायिकत्वामायिकत्वभेदाद् वर्णस्य द्वैविध्यम्

वर्णाः सन्ति द्विधा भिन्ना मायिकाश्चाप्यमायिकाः ।।६४।।

अमायिका मायिकानां च वीर्यत्वेन व्यवस्थिताः ।

संकेतनिरपेक्षास्तेऽनन्ताः संविद्विमर्शिनः ।।६५।।

तत एव च मायीया भिन्नाः प्रादुर्भवन्ति च ।।६६।१।।

मायिक और अमायिक द्विविध वर्णो के स्वरूप, कार्य कारण भावादि का निरूपण

मायिक और अमायिक भेद से वर्ण दो प्रकार के होते हैं। अमायिक वर्ण मायिक वर्णों के बीजरूप से स्थित हैं। अमायिक वर्ण संकेत-निरपेक्ष, अनन्त तथा संविद्-विमर्शी हैं। इनसे मायिक वर्णों का प्रादुर्भाव होता है ।।६४।२-६६।१।।

संकेतं ये न जानन्ति बाला वा तिर्यगादयः ।।६६।।

तेऽप्यकृत्रिमसंस्कारसारसंवित्प्रमामिमाम् ।

स्वीयस्वातन्त्र्यमायानुवेधोद्भासितभिन्नताम् ।।६७।।

विधाय मातृतां यान्ति वर्णैरेभिरमायिकैः ।

जो बालक अथवा तिर्यक् (पशु-पक्षी) आदि संकेत नहीं जानते हैं, वे भी स्वाभाविक संस्कार-स्वरूप सारयुक्त संविद्-प्रमा को अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा भिन्नरूप से उद्भासित कर इन अमायिक वर्णों द्वारा प्रमाता बन जाते हैं ।।६६।२-६८।१।।

इमे सर्वार्थसामर्थ्या अनियन्त्रितशक्तयः ।।६८।।

स्वसम्पृक्तधरान्तात्मस्वाभिन्नार्थाविमर्शिनः ।

वर्णौघाः संविदं सत्यां प्रमारूपां तु बिभ्रति ।।६९।।

वर्णाध्वाऽऽदिरतः सर्वाध्वनोऽयं समुदाहृतः ।
ज्ञेयश्चायं विशेषेण स्वस्वभावावमर्शिभिः ॥७०॥

ये अमायिक वर्ण सभी अर्थों में सामर्थ्य वाले नियत-शक्ति से रहित, अतएव स्वसम्पृक्त पृथिवी-तत्त्व पर्यन्त स्वाभिन्न पदार्थों का अवमर्शन करते हैं ।

ये अमायिक वर्ण सत्य संविद् प्रमास्वरूप को धारण करते हैं । अतएव वर्णाध्वा को समस्त अध्वा का आदि कहा गया है ।

स्वस्वभाव के अवमर्शन में कुशल व्यक्ति ही वर्णाध्वा को विशेषरूप से समझ सकते हैं ॥६८।२-७०॥

ग्रस्ता वाच्यदशा यत्र चिद्विमर्शविशेषतः ।
च्युता मानमयाद्रूपात् संवित् तत्रापि सक्रिया ॥७१॥

जिस अवस्था में चिद्विमर्श की प्रचुरता के कारण वाच्यदशा ग्रस्त तथा प्रमाणप्रमेयादि से रहित होती है उस अवस्था में भी संविद् सक्रिय रहती है ॥७१॥

ज्ञानक्रिययोरभेदत्वम्

ज्ञानक्रिये न भिन्ने स्तः संविदश्चाहमात्मनः ।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥७२॥

ज्ञान और क्रिया में अभेदरूपता का अभिधान

"अहमात्मा" संविद् से ज्ञान और क्रिया भिन्न नहीं हैं क्योंकि संविद्-रूप शिव का विमर्श ही शुद्ध-ज्ञान और शुद्ध-क्रिया हैं ॥७२॥

संविदः स्फुरणं द्वैधं क्षुब्धमक्षुब्धमेव च ।
तत्राक्षुब्धे प्रमातृत्वं मन्त्रत्वं पदताऽन्यथा ॥७३॥

संविद् का स्फुरण क्षुब्ध तथा अक्षुब्ध दो प्रकार से होता है । अक्षुब्ध स्फुरण में संविद् की प्रमातृता अर्थात् मन्त्ररूपता और क्षुब्ध स्फुरण में प्रमाणता अर्थात् पदरूपता होती है ॥७३॥

बहिरौन्मुख्यविरहात् स्वावमर्शपरैव या ।
सैव मन्त्राध्वतां गत्वा पुनर्याति पदाध्वताम् ॥७४॥

बाह्योन्मुखता से रहित स्वावमर्शनशील संविद् ही क्रमशः मन्त्राध्वा बनती हुई पदाध्वा बन जाती है ॥७४॥

पद्यते ज्ञायते येन तत्पदं प्रोच्यते बुधैः ।
पदं मानं विकल्पात्म संजल्पात्मकमेव तत् ॥७५॥

"पद्यते = ज्ञायते येन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे समझा जाय उसे पद कहा जाता है। विकल्पस्वरूप पद प्रमाण है जो संजल्परूप ही है ॥७५॥

वर्णान् संघटच कुरुते पदं माता क्रमेण हि ।
पदेनार्थं परिज्ञाय विश्रान्तिं भजतेऽपि च ॥७६॥

प्रमाता ही क्रमशः वर्णों को संघटित कर पद रचता है, पद से अर्थ समझता है तत्पश्चात् विश्रान्ति को प्राप्त होता है ॥७६॥

तत्तदर्थानुभवत उदेत्येव सुखादिकम् ।
प्रमातुः क्षोभ एषोऽत्र भोगावेशमयः स्फुटम् ॥७७॥

उन-उन अर्थों के अनुभव से सुख दुःखादि उत्पन्न होते हैं, अतः यहाँ प्रमाता को भोगों में आवेशरूप क्षोभ होता है।

व्युत्पत्त्या पदस्य प्रमाणत्वाभिधानम्

प्रमातृक्षोभरूपत्वाद् भोगावेशमयत्वतः ।
पदं प्रमाणमित्युक्तं कलाध्वा कलनेन च ॥७८॥

पद की प्रमाण-संज्ञा में व्युत्पत्ति ही आधार है

प्रमाता के क्षोभस्वरूप भोगावेश से पद ही प्रमाण कहलाता है। तत्पश्चात् आकलन करने से वह कलाध्वा बन जाता है ॥७८॥

वर्णाः सन्त्येव सर्वत्र मन्त्रेष्वपि पदेष्वपि ।
वर्णं विना न मन्त्राः स्युर्न पदान्यपि तान् विना ॥७९॥

पदं विना न कलनं न कला कलनं विना ।
न कलाया ऋते तत्त्वं तद्विना भुवनं कुतः ॥८०॥

समस्त मन्त्रों और पदों में वर्ण अनुगत रहते हैं। वर्ण बिना मन्त्र, मन्त्र बिना पद, पद बिना आकलन, आकलन बिना कला, कला बिना तत्त्व तथा तत्त्व बिना भुवन नहीं हो सकते ॥७८-८०॥

सुस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं तत्त्वमुक्तं पुनः पुनः ।
अध्वतत्त्वे परिज्ञाते शिवतत्त्वं प्रकाशते ॥८१॥

स्पष्ट ज्ञानार्थ पौनः पुन्येन अध्व-तत्त्व का निरूपण किया गया। अध्व-तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेने पर शिवतत्त्व स्वयमेव प्रकाशित होने लगता है ॥८१॥

मायिकवर्णमन्त्रपदस्वरूपम्

अथ मायिकमासाद्य वर्णं तत्रोच्यते पुनः ।
यथाशास्त्रं यथाकार्यं वर्णमन्त्रपदादिकम् ॥८२॥

मायिक वर्ण, मन्त्र और पद के स्वरूपादि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन

अब शास्त्रानुसार मायिक वर्ण को लेकर वर्ण, मन्त्र और पदादि के कार्यानुरूप स्वरूप बताये जायेंगे ॥८२॥

अकारादिक्षकारान्तवर्णाः पञ्चाशदत्र वै ।
पदानि तत्र मन्त्राश्च दर्श्यन्तेऽपि यथागमम् ॥८३॥

अकार से क्षकार पर्यन्त पचास वर्ण हैं। शास्त्रानुसार पदों और मन्त्रों के स्वरूप बताये जा रहें हैं ॥८३॥

५० वर्णो की गणना तालिका—

वर्ण	संख्या
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ-२	१०
ए ऐ ओ औ अं (अनुस्वार) अः (विसर्ग)	६
क ख ग घ ङ	५
च छ ज झ ञ	५
ट ठ ड ढ़ ण	५
त थ द ध न	५
प फ ब भ म	५
य र ल व श ष स ह क्ष	९
	योग = ५०

अनुलोमविलोमाभ्यां सृष्टिसंहारकर्मणोः ।
प्राथम्यं सुपरिज्ञेयं शान्तिदीक्षादिकर्मणि ॥८४।

शान्त्यादि सृष्टि-कर्म में अनुलोम क्रम (अकारादि-क्षकारान्त) तथा दीक्षा (सर्व-पाप-विनाश) आदि संहार कर्म में विलोमक्रम (क्षकारादि-अकारान्त) का प्राधान्य होता है ॥८४॥

अकारादिविसर्गान्तः पदमेकं प्रकीर्तितम् ।
ककारादिमकारान्ताः पञ्च वर्गाश्च पञ्च च ॥८५॥
यादयः सप्तमं ज्ञेयमष्टमं शादयस्त्रयः ।
हकारो नवमं ज्ञेयं क्षकारो दशमं स्मृतम् ॥८६॥

अकार से विसर्ग पर्यन्त सोलह वर्णों का एक पद है। "क" से "म" तक पाँच-पाँच वर्णों वाले कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग—पाँच वर्ग पाँच पद हैं। य, र, ल, व—चार वर्णों का सातवाँ पद है। श, ष, स—तीन वर्णो का अष्टम पद है। "ह" नवम पद तथा "क्ष" दसवाँ पद है ॥८५-८६॥

इति सृष्टिक्रमे ज्ञेयं संहारे तु विपर्ययम् ॥८७।१॥

सृष्टि-क्रम के विपरीत संहार में क्षकाररूप पद प्रथम तथा क्रमशः प्रथम पद-अकारादि-विसर्गान्ति है ॥८७।१॥

श्रीपूर्वशास्त्रसम्मत्या मातृकानुगतं पदम् ॥८७॥
दर्शितं, दर्श्यतेऽन्यत्र यथाप्रोक्तं पदं पुनः ॥८८।१॥

"श्रीमालिनीविजय" के अनुसार मातृकानुगत पदों को दिखलाया गया। सम्प्रति अन्यत्र प्रतिपादित पद के स्वरूप दिखाये जा रहें हैं ॥८७।२-८८।१॥

स्वच्छन्दतन्त्रोक्तपदस्वरूपम्

स्वच्छन्दे नवनवात्मप्रस्तारे न्यस्य नवैव तु ॥८८॥
ऊ-ह्-र-क्ष-म-ल-व-योमित्येव क्रम-भेदतः ॥८९।१॥

स्वच्छन्द-तन्त्र के अनुसार पदों के स्वरूप

"स्वच्छन्द-तन्त्र" में नौ-नौ के प्रस्तार में अक्षरों को रखने से नौ पद ही माने गये हैं। वे हैं—ऊ, ह, र, क्ष, म, ल, व, य और ओम् ॥८८।२-८९।१॥

एकाशीत्यर्धमात्रारूपैकाशीतिपदाभिधानम्

एकाशीतिः पदान्येवमन्यत्रान्यदृशान्यपि ॥८९॥
अर्धमात्रात्मकं कालं वर्णानां संकलय्य च।
एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ॥९०॥

इक्यासी-अर्धमात्रारूप इक्यासी पदों का अभिधान

अन्यत्र (अन्य प्रकार से) वर्णों के अर्ध-मात्रात्मक काल के संकलन से इक्यासी पद माने गये हैं। एकाशीतिपदात्मिका शक्ति शिव स्वरूप ही है ॥८९।२-९०॥

तथातथापरामर्शशक्तिचक्रेश्वरः प्रभुः।
स्थूलैकाशीतिपदजपरामर्शैर्विभाव्यते ॥९१॥

उन-उन अक्षरों के परामर्श-स्वरूप और शक्तिचक्र के ईश्वर भगवान् शिव स्थूल इक्यासी पदजन्य परामर्शों द्वारा विभावित होते हैं ॥९१॥

तत एव परामर्शो यावतैकः समाप्यते।
तावदेकं पदं ज्ञेयं न सुप्तिङ्भ्यां नियन्त्रितम् ॥९२॥

अतः जितने (अर्धमात्रात्मक-काल) में एक परामर्श पूर्ण होता है उतने का एक पद होता है। "सुप्तिङन्तं पदम्" इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार सुबन्त अथवा तिङन्त स्वरूप पद का ग्रहण नहीं किया जाता है ॥९२॥

तत्रार्द्धमात्राः कादीनां त्रयस्त्रिंशद्धलां दश-।
ह्रस्वानामपि पञ्चानां, द्वात्रिंशत्तु भवन्त्यपि ॥९३॥
अष्टानामपि दीर्घाणां, प्लुतस्यैकस्य षट् पुनः।
ऌ३तोऽन्ये तु स्वभावेन न प्लुता इत्युपेक्षिताः ॥९४॥

"क" से "ह" पर्यन्त तैंतीस हल् (व्यञ्जन) वर्णों की तैंतीस अर्धमात्राएँ होती हैं। पाँच ह्रस्व (अ, इ, उ, ऋ और ऌ) वर्णों की दस अर्धमात्राएँ होती हैं। आठ दीर्घ वर्णों (आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ और औ) की बत्तीस अर्धमात्राएँ होती है। एक प्लुत (ॡ-३) वर्ण की छः अर्धमात्राएँ होती हैं। ॡ ३ से अन्य स्वर के स्वाभाविक प्लुत नहीं होने से उनकी गणना नहीं की जाती है।

ध्यातव्य है कि व्यञ्जन वर्ण अर्धमात्रिक, ह्रस्व वर्ण मात्रिक, दीर्घवर्ण द्विमात्रिक और प्लुत वर्ण त्रिमात्रिक होते हैं ॥९३-९४॥

तन्त्रालोकाह्निके षष्ठे प्रोक्तमेतन्मतङ्गतः ॥९५।१॥

तन्त्रालोक के षष्ठ आह्निक में पद के उपर्युक्त स्वरूप बतलाये गये हैं। तन्त्रालोककार ने आचार्य "मतङ्ग" से पदों के इस स्वरूप को लिया है ॥९५।१॥

पदं मध्यमवाग्वृत्त्या स्याद् यदोच्चरितं तदा ॥९५।२॥
तदेव तु भवेन्मन्त्रः पश्यन्तीवृत्तिसंस्थितम्।
इत्येवं मालिनीतन्त्रे प्रोक्तं देवेन शम्भुना ॥९६॥

मध्यमा-वाग् द्वारा उच्चरित शब्द "पद" कहलाता है तथा पश्यन्तीवृत्ति में स्थित वहीं पद "मन्त्र" कहलाता है—ऐसा भगवान् शिव ने "मालिनी-तन्त्र" में कहा है ॥९५।२-९६॥

चतुस्त्रिंशच्च ते वर्णाः ककारान्ताः क्षकारतः।
सन्ति क्रमेण पृथ्व्यादिसदाशिवान्तवाचकाः ॥९७॥

विलोम-क्रम से "क्ष" से "क" पर्यन्त चौंतीस वर्ण उक्त क्रम से ही "पृथ्वी" से "सदाशिव" पर्यन्त के वाचक हैं। ९७॥

ये विसर्गाद्यकारान्ताः षोडशार्णाः स्वरा मताः।
ते शक्तेः शिवतत्त्वस्याभेदेनैवावमर्शिनः ॥९८॥

विलोम-क्रम से "विसर्ग" से "अ" पर्यन्त सोलह स्वर वर्ण "शक्ति" और "शिव" तत्त्व का अभेद रूप से ही अवभासन करते हैं ॥९८॥

वर्णानां परात्रिंशिकोक्ततत्त्ववाचकत्वप्रदर्शनम्

श्रीपरात्रिंशिकायान्तु कलोऽथ नियतिः पृथक् ।
न पुंसो गणितः किन्तु महामायापि स्वीकृता ।।९९।।

"परात्रिंशिका "शास्त्रानुसार वर्णों की तत्त्ववाचकता निम्नलिखित रूप से है—

"श्रीपरात्रिंशिका" शास्त्र में "कला" और "नियति" को "पुरुष" तत्त्व से पृथक् नहीं गिना गया परन्तु "शुद्धविद्या" से नीचे और "माया" से उपर "महामाया" तत्त्व स्वीकारा गया है ।।९९।।

अकारादिविसर्गान्तः शिवः शक्तिः क्ष एव सः ।
धरादिस्तु कवर्गोऽयं गन्धादिः स्याच्चवर्गगः ।।१००।।
पादादिश्च टवर्गः स्याद् घ्राणादिः स्यात् तवर्गगः ।
मनो बुद्धिरहंकारः प्रकृतिः पुरुषस्तथा ।।१०१।।
स्यादिदं पञ्चकं पादिमान्तं पञ्चकमेव हि ।
रागो विद्या कला माया यादयो धारणाभिधाः ।।१०२।।
शादिहान्ता महामायाविद्येश्वरसदाशिवाः ।
शक्तिरन्ते क्षकारः स्यादित्युक्तं तु पुरा मया ।।१०३।।

"अ" से "विसर्ग" पर्यन्त सोलह स्वर वर्ण शिवतत्त्व हैं । दूरस्थित "क्ष" वर्ण शक्तितत्त्व है । क, ख, ग, घ, ङ विलोम क्रम से भूमि, सलिल, वह्नि, वायु और आकाशरूप हैं; च, छ, ज, झ, ञ विलोम से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दस्वरूप हैं; ट, ठ, ड, ढ, ण पाद, पाणि, वाक्, पायु और उपस्थस्वरूप है; त, थ, द, ध, न—घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र स्वरूप हैं; प, फ, ब, भ, म—मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष स्वरूप हैं । धारण संज्ञक य, र, ल, व वर्ण राग, विद्या, कला और माया स्वरूप हैं । श, ष, स, ह, वर्ण महामाया, विद्या, ईश्वर और सदाशिव रूप हैं । अन्त में क्षकाररूप शक्ति है—यह बात पहले ही "शक्तिः क्ष एव सः"—पंक्ति द्वारा बतला चुका हूँ ।।१००-१०३।।

अकुलं कुलरूपं सद् भासतेऽक्रममेव यत् ।
उपदेश्योपदेशादिभासनात् क्रमवच्च तत् ।।१०४।।

जो अकुल शिव कुलरूप होकर क्रम बिना ही भासमान है वही उपदेश्य-उपदेशक अर्थात् गुरु-शिष्य भाव को प्रकट करता हुआ क्रमवत् भी प्रतीत होता है ॥१०४॥

नानाविधमन्त्राणां विभिन्नरूपेण तत्त्वाण्डव्याप्त्यभिधाने शङ्कासमाधी

शिवतत्त्वान्तरं यत्तु धरातत्त्वमुदाहृतम् ।
क्षकारेऽन्ते तु यच्छक्तितत्त्वमित्यत्र कः क्रमः ॥१०५॥

अन्यत्र प्रतिपादित तत्त्वक्रमों का उल्लेख करते हुए उपर्युक्त क्रम की विलक्षणता के सम्बन्ध में आशङ्का और समाधान

शिवतत्त्व के प्रश्चात् धरातत्त्व का तथा अन्त में "क्ष" वर्ण में शक्ति-तत्त्व का निदर्शन किया गया है। भला, इसमें कौन सा क्रम है ?

न सृष्टेर्नापि च ज्ञप्तेर्न स्थितेर्नापि संहृतेः ।
नागमे दृश्यते क्वापि क्रमोऽयं समुदाहृतः ॥१०६॥

सृष्टि, ज्ञान, स्थिति अथवा संहार-किसी का यह क्रम नहीं है। आगम में कहीं भी उपर्युक्त क्रम का उल्लेख नहीं है ॥१०६॥

मालिनीविजये सिद्धातन्त्रे स्वच्छन्दशासने ।
क्षकारतः पृथिव्यादेः सन्निवेशो हि दृश्यते ॥१०७॥

"मालिनीविजय" "सिद्धातन्त्र" और "स्वच्छन्दशास्त्र" में क्षकारादिवर्णों से पृथिव्यादि तत्त्वों का सन्निवेश बताया गया है ॥१०७॥

मालिनीमन्त्रमादाय पुनस्तत्रान्यथा यथा ।
फे धरातत्त्वमुद्दिष्टं दादिझान्तेऽनुपूर्वशः ॥१०८॥
त्रयोविंशत्यबादीनीत्याद्युक्तम् .... ।

नकारादि फकारान्त "मालिनीमन्त्र" को लेकर पुनः अन्य प्रकार का क्रम बतलाया गया है। यथा—"फ" वर्ण में धरा तत्त्व और "द" से "झ" तक तेईस वर्णों में विलोमक्रम से जलादि तेईस तत्त्व बतलाये गये हैं ॥

.... पुनरन्यथा ।
सार्धेनाण्डद्वयं व्याप्तमेकैकेन पृथग् द्वयम् ॥१०९॥

अपरायाः समाख्याता व्याप्तिरेवं विलोमतः ।
पार्थिवप्राकृताण्डे द्वे फट्कारे विनिवेशिते ॥११०॥
हुंकारेऽपि च मायीयं ह्रींकारे शाक्तमेव च ॥१११।१॥

पुनश्च अन्य प्रकार से ही "ह्रीं हुं फट्" इस मन्त्र में विलोम-क्रम से "फट्" से "पार्थिव" और "प्राकृत" अण्ड व्याप्त हैं। "हुँ" से "मायीय" और "ह्रीं" से "शाक्त" अण्ड व्याप्त हैं।

इस प्रकार "ह्रीं हुं फट्"-मन्त्र से चतुर्विध (पार्थिव, प्राकृत, मायीय और शाक्त) अण्ड का बोध विलोम-क्रम से होता है। यही "अपरा की व्याप्ति" कहलाती है ॥१०९-१११।१॥

पराभट्टारिकाव्याप्तिकथने पुनरन्यथा ॥१११।२॥
सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराव्याप्तिरुदाहृता ॥११२॥
"सौः" स्वरूपस्य हृदयबीजस्येयं प्रदर्शिता ।
व्याप्तिस्तु मातृसद्भावरतिशेखरमन्त्रयोः ॥११३॥
अन्यथैवसमादिष्टान्यतन्त्रेष्वेवमेव च ॥११४।१॥

परा भट्टारिका—"सौः" मन्त्र की व्याप्ति में अन्य प्रकार से ही वर्णों की अण्ड-व्याप्ति बतलायी गई है। यथा—"स" से पार्थिव, प्राकृत, मायीय-तीन अण्ड, "औ" (त्रिशूल) से शाक्त अण्ड और "विसर्ग" से "सर्वातीत" व्याप्त है। यह हृदयबीज संज्ञक "सौः"-मन्त्र की परा व्याप्ति कहलाती है हृदय बीज तथा उसके घटक वर्णों की व्याप्ति अन्य तन्त्रों में उपर वर्णित प्रकार से तथा अन्य प्रकार से भी दी गई है ॥१११।२-११४।१॥

इति चेच्छ्रूयतामत्र प्रोक्तमप्युत्तरं पुनः ॥११४॥
अक्रमः शिव एवैको भाति सर्वात्मना सदा ॥११५।१॥

१०५ से ११३ वें श्लोक तक विभिन्न तन्त्रों में मन्त्रों की तत्त्वव्याप्ति और अण्डव्याप्ति विभिन्नरूप से बतायी गई है। इनसे भिन्न १०० वें

श्लोक में प्रतिपादित शिवतत्त्व के पश्चात् धरादि तत्त्व और अन्त में क्ष को शक्तितत्त्व मानने में कौन सा क्रम है ? इस आशङ्का का समाधान— "अकुलं कुलरूपं सद्" इत्यादि १४० वें श्लोक से ही किया जा चुका है। फिर भी सुन लें—"एक ही अक्रम शिव सदा सर्वरूप में भासमान हो रहा है ॥११४/२-११५/१॥

बिम्बप्रतिबिम्बतया तत्त्वानां विपर्ययत्वाभिधानम्

रहस्यात्मपराशास्त्रसारं वच्मि च किञ्चन ॥११५॥

शक्तितत्त्वं परायां यत् तद् भूः परापरात्मनि ।
यच्च तत्र धरातत्त्वं तच्छक्तिः प्रतिबिम्बनात् ॥११६॥

बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से तत्त्व-विपर्यय की उपपत्ति

अब मैं रहस्यमय परात्रिशिकाशास्त्रोक्त समाधान बताता हूँ— परावस्था में जो "शक्ति" तत्त्व है वह परापरावस्था में प्रतिबिम्बित होने से "धरा" तत्त्व हो जाता है। इसी प्रकार परावस्था में जो "धरा" तत्त्व है वही परापरावस्था में प्रतिबिम्बित होने से "शक्ति" तत्त्व हो जाता है ॥११५/२-११६॥

परात्मनि परामर्शे सन्ति तत्त्वानि वस्तुतः ।
परामर्शैकरूपाणि न भिन्नान्यत एव हि ॥११७॥

परात्मक परामर्श में समस्त तत्त्व परामर्शस्वरूप ही हैं, भिन्नरूप नहीं ॥११७॥

परापरात्मिकायां च भिन्नाभिन्नात्मकानि तु ।
प्रतिबिम्बस्वभावत्वात् कादिक्षान्तविपर्ययात् ॥११८॥

ऊर्ध्वबिम्बेऽधरे दृष्टः प्रतिबिम्बे विपर्ययः ।
वामदक्षिणतादेस्तु तथा तत्त्वविपर्ययः ॥११९॥

परापरावस्था में तत्त्व भिन्नाभिन्नरूप से स्थित रहते हैं।

बिम्ब के उपर तथा प्रतिबिम्ब के नीचे रहने पर जैसे वाम अङ्ग दाहिने, नीचे का भाग उपर और उपर का भाग नीचे दीखता है, वैसे ही

"क" से "क्ष" पर्यन्त वर्णों के विपर्यय होने से परावस्था का "शक्ति" तत्त्व परापरावस्था में प्रतिबिम्बित होने से "भूमि" तत्त्व और परावस्था का "भूमि" तत्त्व परापरावस्था में प्रतिबिम्बित होने से "शक्ति" तत्त्व होता है। इस प्रकार लेशमात्र भी अनुपपत्ति नहीं है ॥११८-११९॥

इदं चातीव गहनं त्रिंशिकोक्तं विशेषतः।
तत एवावगन्तव्यं रहस्यं परमाद्भुतम् ॥१२०॥

"परात्रिंशिका" में प्रतिपादित बिम्बप्रतिबिम्बभाव से तत्त्वविपर्यय की उपपत्ति अत्यन्त गहन है। इसके अतीव अद्भुत रहस्य को विशेषरूप से "परात्रिंशिका" ग्रन्थ से ही समझना चाहिये ॥१२०॥

कलासतत्त्वम्

भुवनानुगतं तत्त्वं यथा तत्तद् व्यवस्थितम्।
तथा सुसूक्ष्मिका शक्तिः कला तत्त्वानुगा स्मृता ॥१२१॥

कला की तत्त्वरूपता का व्यवस्थापन

जैसे विभिन्न तत्त्व भुवनों के अनुगत होकर व्यवस्थित हैं वैसे ही सूक्ष्मशक्ति रूप कला तत्त्वों के अनुगत होकर व्यवस्थित है ॥१२१॥

सुखसंग्रहणार्थाय संज्ञेयं वा कलाकृता।
उपयोगस्तु दीक्षादौ यस्याः सर्वत्र विद्यते ॥१२२॥

अथवा सुखपूर्वक तत्त्वों के संग्रह हेतु कला नाम रखा गया है। इसका उपयोग सर्वत्र दीक्षादि कर्मों में किया जाता है ॥१२२॥

निवृत्त्यादिकलानां स्वरूपम्, तत्र वर्णमन्त्रभुवनादयश्च

बहिरुन्मुखतैवेयं परां काष्ठां धरां गता।
निवृत्त्याख्या कला प्रोक्ता कलयित्री निवर्तनम् ॥१२३॥

निवृत्ति, प्रतिष्ठा-आदि कलाओं के स्वरूप तथा उसमें स्थित वर्णमन्त्र भुवनादि का निरूपण

स्वतन्त्र शिव की बाह्योन्मुखता ही "सदाशिव" से शुरु होकर "धरा" तत्त्व रूप पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। पुनश्च उनकी अन्तर्मुखता अर्थात्

धरादि तत्त्व का पूर्ववर्त्ती तत्त्वों में क्रमशः अन्तर्भाव होना "निवृत्ति" है। इस निवृत्ति का आकलन करने से "निवृत्ति-कला" कहलाती है ॥१२३॥

षोड़शानि पुराण्यत्र कालाग्न्यादीनि सन्ति च ।
पदं मन्त्रस्तथा वर्णः क्ष एवैको व्यवस्थितः ॥१२४॥

निवृत्ति-कला में काल-अग्नि प्रभृति सोलह भुवन, एक मन्त्र, एक पद और "क्ष"कार रूप एक ही वर्ण है ॥१२४॥

प्रधानान्तजलादीनां भेदस्थित्यनुबन्धिनी ।
त्रयोविंशतितत्त्वेषु प्रतिष्ठाख्या कला मता ॥१२५॥

विलोमक्रम से "जल" से "प्रधान" पर्यन्त तेईस तत्त्वों में भेदस्थिति करने वाली कला "प्रतिष्ठा" कहलाती है ॥१२५॥

हादिटान्ताश्च वर्णाः स्युः षट्पञ्चाशत् पुराणि च ।
पदमन्त्राश्च पञ्चैव द्वे पदे चतुरक्षरे ॥१२६॥
त्रीणि पञ्चार्णकानीयमाप्यायनी च कथ्यते ॥१२७।१॥

प्रतिष्ठा कला में विलोमक्रम से "ह" से "ट" पर्यन्त तेईस वर्ण और छप्पन भुवन हैं। पदों और मन्त्रों की संख्या पाँच हैं। दो पद चार-चार वर्ण वाले और तीन पद पाँच-पांच वर्ण वाले हैं।

इस कला को "आप्यायनी" शब्द से भो कहा जाता है।

पद, मन्त्र तथा वर्णों की जानकारी हेतु तालिका—

पद और मन्त्र	विलोमक्रम से वर्ण	
१. हादि-शान्त	ह स ष श	४
२. वादि-यान्त	व ल र य	४
३. मादि-पान्त	म भ ब फ प	५
४. नादि-तान्त	न ध द थ त	५
५. णादि-टान्त	ण ढ़ ड ठ ट	५

॥१२६-१२७।१॥

संकुचितस्वरूपस्य मायान्तेषु पुमादिषु ॥१२७॥

वेदनादेव विद्याख्या कला प्रोक्ता च सप्तसु ।

ञादिधान्ताश्च सप्तैव वर्णा अत्र स्थिता अपि ॥१२८॥

एकं पञ्चाक्षरं ज्ञेयं द्वितीयं द्व्यक्षरं पदम् ।

द्वे पदे द्वौ च मन्त्रौ स्तोऽष्टाविंशति पुराण्यपि ॥१२९॥

बोधिनीपरनामेयं कला विद्यापदाभिधा ॥१३०/१॥

विलोम क्रम से "पुरुष" सें "माया" पर्यन्त सात तत्त्वों में संकुचित स्वरूप की वेदनरूपा "विद्या" संज्ञक कला रहती है ।

इस कला में विलोम क्रम से "ञ" से "घ" पर्यन्त सात वर्ण हैं । इसमें दो मन्त्र और दो पद हैं । एक पद पाँच वर्णों का और दूसरा दो वर्णों का है ।

इस कला में अट्ठाइस भुवन हैं । इसका दूसरा नाम "बोधिनी" है। ।१२७।२-१३०।१॥

विद्याकला में पदादि बोधक तालिका—

पद-मन्त्र	वर्ण
१. ञादि चन्त	ञ झ ज छ च ५
२. ङादि-घान्त	ङ घ २

कञ्चुकात्मतरङ्गस्य शान्तेः शान्ता कला मता ॥१३०॥

शुद्धविद्येश्वरसदाशिवतत्त्वत्रये स्थिता ।

सन्त्यत्र गखका वर्णास्त्र्यक्षरं पदमेककम् ॥१३१॥

मन्त्रोऽप्येकः पुराण्यष्टादशैषोत्पूयिनी श्रुता ॥१३२/१॥

कञ्चुक-रूप तरङ्ग की शान्ति हो जाने से शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव-तीन तत्त्वों में शान्ता कला का अङ्गीकार किया गया है ।

इस कला में ग ख और क तीन वर्णो का एक पद अतएव एक मन्त्र है । इसमें अठारह भुवन हैं । इसे "उत्पूयिनी" भी कहा जाता है ॥१३०/२-१३२/१॥

मायामतीत्य कलनात् कला शक्तिशिवे पदे ॥१३२॥
शान्त्यतीता, कला नास्ति कलातीते परे शिवे ॥१३३।१

"शक्ति" और "शिव" तत्त्व में स्थित, माया का अतिक्रमण कर आलकन करने वाली कला शान्त्यतीता कहलाती है। कलातीत "पर शिव" में कला नहीं है ॥१३२।२-१३३।१॥

संकल्पनाकलङ्कस्य सम्पूर्णस्य विलुप्तये ॥१३३॥
अस्ति षट्त्रिंशतो भिन्नः कल्पितो निष्कलः परः ।
षोडशात्र विसर्गाद्या अकारान्ताः स्वरा मताः ॥१३४॥

पदमेकं विसर्गादि स्वरषोऽशकात्मकम् ।
मन्त्रः स एव विज्ञेयो भुवनान्यत्र सन्ति न ॥१३५॥

समस्त कल्पनारूप कलङ्क के विलोपनार्थ छत्तीस तत्त्वों से पृथक "परशिव" की कल्पना की गई हैं। शान्त्यतीता कला में "विसर्ग" से "अकार" पर्यन्त सोलह स्वर वर्ण हैं। इसमें सोलह वर्णों का एक पद अत एव एक मन्त्र होता है। इसमें भुवन नहीं हैं ॥१३३।२-१३५॥

भुवनानि समस्तानि शतमष्टादशोत्तरम् ।
षट्त्रिंशदेव तत्त्वानि कलाः पञ्चदशैव तु ॥१३६॥
मन्त्राः पदानि, पञ्चाशद् वर्णाश्चात्र कलाध्वनि ।१३७।१

इस प्रकार कलाध्वा में एक सौ अठारह भुवन, छत्तीस तत्त्व, पाँच कला, दस मन्त्र और पद एवं पचास वर्ण हैं ॥१३६-१३७।१॥

तत्त्वानां क्रमशो नामाभिधानम्

अथ तत्त्वानि गण्यन्ते स्थितान्यत्र यथाक्रमम् ॥१३७।२॥

३६ तत्त्वों के नाम

शैवागम में स्थित तत्त्वों को क्रमशः गिनाया जा रहा है

शिव-शक्ति - सदाशिवेश्वर - शुद्धविद्या-माया-कला-विद्या- राग-नियति-काल--पुरुष-प्रकृति-बुद्धयहंकार-मनः-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण वाक्-

पाणि-पाद-पायू-पस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाकाश-वायु-वह्नि-सलिल-भूमयः इत्येतानि षट्त्रिंशत् तत्त्वानि

१.	शिव	१३.	प्रकृति	२५.	पायु
२.	शक्ति	१४.	बुद्धि	२६.	उपस्थ
३.	सदाशिव	१५.	अहंकार	२७.	शब्द
४.	ईश्वर	१६.	मन	२८.	स्पर्श
५.	शुद्धविद्या	१७.	श्रोत्र	२९.	रूप
६.	माया	१८.	त्वक्	३०.	रस
७.	कला	१९.	चक्षु	३१.	गन्ध
८.	विद्या	२०.	जिह्वा	३२.	आकाश
९.	राग	२१.	घ्राण	३३.	वायु
१०.	नियति	२२.	वाक्	३४.	वह्नि
११.	काल	२३.	पाणि	३५.	सालिल
१२.	पुरुष	२४.	पाद	३६.	भूमि

ये ३६ तत्त्व हैं।

तत्त्वे एकत्रिपञ्चनवाष्टादशादि संख्याभेदः

षट्त्रिंशदत्र तत्त्वानि प्रसिद्धानि तथापि च।
तदर्धानि तदर्धानि पञ्च त्रीण्येकमेव वा ॥१३८॥
तत्त्वं स्वच्छन्दनेत्रादौ तन्त्रालोकेऽपि दृश्यते।
तदेव क्रमशः स्पष्टज्ञानार्थमिह लिख्यते ॥१३९॥

१३८ वें श्लोक से १४६ वें श्लोक तक तत्त्वों की विभिन्न संख्या १, ३, ५, ९ १८ तथा ३६ बतायी गई है। शैवागम में ३६ तत्त्व प्रसिद्ध हैं। तथापि ३६ के अर्द्ध १८, उसके भी अर्द्ध-९, ५, ३ तथा १ तत्त्व स्वच्छन्दशास्त्र नेत्रतन्त्र तथा तन्त्रालोक में बताया गया है। उनके स्पष्ट ज्ञान हेतु यहाँ क्रमशः उनका उल्लेख किया जा रहा है ॥१३८-१३९॥

एकं त्वशेषविश्वादि शिवतत्त्वमुरीकृतम्।
नरशक्तिशिवाख्यानि नृस्थाने भुवनं क्वचित् ॥१४०॥

माया-सदाशिव-शिवव्याप्तानि त्रीणि सन्ति च ।
विज्ञानाकलपर्यन्तमीश्वरान्तं ततः परम् ॥१४१॥
आत्मा विद्या शिवश्चापि तत्त्वत्रयमुदीरितम् ॥१४२।१॥

सम्पूर्ण विश्व का आदि "शिव" ही एक तत्त्व माना गया है ।

नर, (जड) शक्ति तथा शिव अथवा भुवन, शक्ति तथा शिव क्रमशः माया, सदाशिव तथा शिव में व्याप्त तीन तत्त्व हैं। प्रकाशन्तर से— विज्ञानाकल" पर्यन्त आत्मा, "ईश्वर" पर्यन्त विद्या तथा उस (ईश्वर) से पर में शिव व्याप्त हैं इस प्रकार ये (आत्मा, विद्या तथा शिव) तीन तत्त्व कहे गये हैं ॥१४०-१४२।१॥

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव हि ॥१४२।२॥
निवृत्त्यादिकलावद्वा विश्वव्यापीनि पञ्च वै ॥१४३।१॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ये पाँच ही तत्त्व हैं। जिस प्रकार निवृत्ति आदि पाँच कलाएँ सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं उसी प्रकार ये पाँच तत्त्व भी विश्व को व्याप्त कर स्थित हैं।

प्रकृतिः पुरुषश्चैव कालो नियतिरेव च ॥१४३।२॥
माया विद्या तथैवेशः सदाशिवः शिवो नव ॥१४४।१॥

प्रकृति, पुरुष, काल, नियति, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव तथा शिव ये ही नौ तत्त्व हैं।

भूतानि पञ्च सद्विद्या शक्ति रागः कला तथा ॥१४४।२॥
नवैतानि नवोक्तानि भवन्त्यष्टादशान्यपि ॥१४५।१॥

पाँच भूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) शुद्ध विद्या, शक्ति, राग तथा कला इन नौ तत्त्वों में पूर्वोक्त ९ तत्त्वों (प्रकृति से लेकर शिव तक) के योग से १८ तत्त्व होते हैं।

सूक्ष्माः शब्दादयः पञ्च ये च तन्मात्रसंज्ञकाः ॥१४५।२॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो मनोऽहंकारबुद्धयः ।
इत्यष्टादशभिः सार्द्धं षट्त्रिंशच्च भवन्त्यपि ॥१४६॥

पञ्च सूक्ष्म-तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा तथा घ्राण पञ्च कर्मेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, मन, अहंकार तथा बुद्धि इस १८ तत्त्वों में पूर्वोक्त १८ तत्त्वों के योग से ३६ तत्त्व हैं।

त्रिविध-संसाराभिधानम्

मायान्तस्तु भवः प्रोक्तोऽभवः सदाशिवान्तकः।
शिवान्तोऽतिभवो ज्ञेयः संसारस्त्रिविधः पुनः ॥१४७॥

तीन प्रकार के संसार का कथन

पृथिवी से लेकर माया पर्यन्त को "भव" पृथिवी से लेकर सदाशिव पर्यन्त को "अभव" तथा पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त को "अतिभव" कहा गया है। इस प्रकार भव, अभव तथा अतिभव के भेद से संसार तीन प्रकार का है।

लयाद्यवस्थासु ब्रह्माण्डाद्यात्मजाग्रदादिषु भेयादिषु च स्वात्मभूतशिवस्यैव स्थितिः

लयाधिकार भोगाख्यावस्थासु त्र्यात्मना शिवः।
अनाश्रितसदाशिवेश्वररूपतया स्थितः ॥१४८॥

१४८ वें श्लोक से १५१ तक क्रमशः लयाद्यवस्थाओं में ब्रह्माण्डादि स्वरूप जाग्रदादि अवस्था में तथा मेयादि में स्वात्मस्वरूप शिव की स्थिति का निरुपण किया गया है।

लयावस्था, अधिकारावस्था तथा भोगावस्था में एक ही शिव—अनाश्रित शिवरूप सदाशिवरूप तथा ईश्वररूप से विद्यमान रहता है।

ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
ब्रह्मकेशवरुद्रात्मा बहिरन्तर्विराजते ॥१४९॥

ब्रह्माण्ड रूप जाग्रत् अवस्था, प्रकृत्यण्ड रूप स्वप्नावस्था तथा मायाण्ड रूप सुषुप्ति-अवस्था में एक ही शिव ब्रह्मा, केशव (विष्णु) तथा रुद्र (महेश) रूप से बाहर तथा आभ्यन्तर विराजित होता है ॥१४९॥

नर-शक्ति-शिवात्मा सन् मेये माने च मातरि ।
क्रिया-ज्ञानैषणारूपः परः परापरोऽपरः ॥१५०॥

स्वात्म स्वरूप शिव ही नर, (पुरुष), शक्ति तथा शिव रूप होकर मेय, मान तथा माता (प्रमाता) में क्रिया, ज्ञान तथा इच्छा रूप से पर, परापर तथा अपर कहलाता है ॥१५०॥

इत्थं यो वहुधा भिन्न एक एव सदा स्थितः ।
स्वप्रकाशमयो देवः स्वात्मानं तं समाश्रये ॥१५१॥

इस प्रकार जो स्वप्रकाशमय देव सदा एक रूप से स्थित रहता हुआ ही परस्पर भिन्न रूप से भासित होता है—उस स्वात्मरूप शिव का आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥१५१॥

चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाशक्ति सुनिर्भरः ।
सामरस्यसमापन्नो गीयते परमः शिवः ॥१५२॥

चित्, आनन्द, एषणा, (इच्छा) ज्ञान तथा क्रिया—इन पाँच शक्तियों से समरसता को प्राप्त, परम तत्त्व ही "परम शिव" कहलाता है ।

चिदाद्येकैकप्राधान्यभासनेन शिवादेः शुद्धाध्वनोण्डस्याखिलस्य च भासनम्—

चिदाद्येकैकमुख्यत्वप्रथनात्मकभूमिकाम् ।
भासयन् भासयति सः शिवं शक्तिं सदाशिवम् ॥१५३॥

ईश्वरं शुद्धविद्यां च वस्तुपिण्डात्मकाण्डकम् ।
शक्त्यण्डमथ मायाण्डं प्रकृत्यण्डं तृतीयकम् ॥१५४॥

ब्रह्माण्डं च चतुर्थं यत् पृथिव्यण्डापरनामकम् ॥१५५।१॥

सार्ध दो श्लोकों में चिद् आदि एक शक्ति के प्राधान्य से शिवादि का भासन बताया गया है ।

परम शिव पूर्वोक्त पाँच शक्तियों में चिद् आदि एक शक्ति का प्रधानतया प्रथित करता हुआ क्रमशः शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्धविद्या को भासित करता हुआ—वस्तुपिण्ड रूप "अण्ड" को भी

भासित करता है। ये अण्ड चार हैं—शक्त्यण्ड, मायाण्ड प्रकृत्यण्ड तथा ब्रह्माण्ड। ब्रह्माण्ड का ही दूसरा नाम "पृथिण्यण्ड" है।

शक्त्यादिचतुर्विधाण्डस्वरूपम्

मातृमेयात्मविश्वस्य स्वात्मरूपस्य सर्वदा ॥१५५।२॥
पराहन्ताचमत्कारसार भूततया सतः।
स्वरूपापोहनात्मेयमख्यातिर्यास्ति, तन्मयी ॥१५६॥
नञर्थाभावरूपात्मनिषेधव्यापृतिश्च या।
सा शक्तिः परमेशस्य शक्त्यण्डमिति प्रोच्यते ॥१५७॥

शक्त्यण्ड के स्वरूप का प्रतिपादन

माता तथा मेय रूप समस्त विश्व रूप से विभासित, सर्वदा पराहन्ता-चमत्कार स्वरूप सार रूप से विद्यमान स्वात्मा के स्वरूप भूत इदमंश का अपोहन (पृथक्करण) करने वाली जो शिवमयी शक्ति है तथा जो नञ् शब्द का अर्थ = अभावस्वरूप जो आत्मनिषेध (व्यापार) रूपा परमेश्वर की शक्ति है—वही "शक्त्यण्ड" कहलाती है ॥१५५।२-१५६॥

मायाप्रकृति पृथ्व्यण्डं गर्भीकृत्याग्रिमत्रयम्।
सदाशिवेशविद्यान्तं दलं सदवतिष्ठते ॥१५८॥
अस्मिन्नण्डे ह्यधिपती देवौ सदाशिवेश्वरौ ॥१५९।१॥

शक्त्यण्ड अग्रिम (बाद में होने वाले) तीन अण्ड—"माया", "प्रकृति" तथा "पृथिवी" को गर्भीकृत कर सदाशिव, ईश्वर तथा विद्यापर्यन्त दल में स्थित रहता है।

इस अण्ड के अधिपति देव—"सदाशिव" तथा ईश्वर हैं ॥१५८-१५९।१॥

मलत्रयस्वभावत्वात् स्थितं मोहमयं च यत् ॥१५९॥
भेदैकप्रवणत्वाच्च प्रमातुर्बन्धनात्मकम्।
दलं पुंस्तत्त्वपर्यन्तमण्डं मायात्मकं च तत् ॥१६०॥

तीन मल (आणव, कार्म तथा मायिक) के स्वभावता से मोहरूप से स्थित भेदैकप्रवणता से प्रमाता का बन्धनस्वरूप "मायाण्ड" "पुरुष" तत्त्व पर्यन्त स्थित रहता है ॥१५९-१६०॥

पूर्ववद् वक्ष्यमाणाण्डमन्तः स्वीकृत्य संस्थितम् ।
रुद्रो गहननामात्र स्वामी देवो विराजते ॥१६१॥

पूर्ववत् "मायाण्ड" भी अग्रिम दो अण्डों (प्रकृति, पृथिवी) को गर्भीकृत कर स्थित रहता है। इस अण्ड का स्वामी गहन संज्ञक "रुद्र" है ॥१६१॥

प्रकृतिः सा परिणता या कार्यकरणात्मना ।
भोग्या पशु प्रमातॄणां बन्धयित्री सुखादिना ॥१६२॥
सा प्रकृत्यण्डमित्युक्तं विष्णुरस्येश्वरः स्मृतः ।

कार्य-कारण रूप से परिणत होने वाली प्रकृति—जो पशुप्रमाताओं की भोग्या तथा सुख-दुःखादि द्वारा बन्धन करने वाली है—को "प्रकृत्यण्ड" कहा गया है। इस अण्ड के स्वामी "विष्णु" हैं ॥१६२-१६३।१॥

"पृथिव्यण्ड" के स्वरूपादि का निरूपण

या स्थूलकञ्चुकमयी मातॄणां प्रतिरूपतः ॥१६३।२॥
चर्तुर्दशविधे भूतसर्गे बन्धनकारिणी ।
पृथ्वी सैव तुरीयाण्डं ब्रह्मदैवतमुच्यते ॥१६४॥

प्रमाता-समूह को प्रतिरूप (विभिन्न रूप) से सांख्यशास्त्रोक्त १४ प्रकार के भूतसर्ग में बन्धन करने वाली स्थूल कञ्चुक (आवरण) वाली (देहरूपा) पृथिवी ही चौथा (पृथिण्यण्ड अथवा ब्रह्माण्ड) अण्ड है। इस अण्ड के अधिपति ब्रह्मा हैं ॥१६३।२-१६४॥

विचित्रतनुकरणभुवनादिप्रवाहवत् ।
विश्वमन्तर्भवत्येषु शिवो भोक्ता पशुर्भवन् ॥१६५॥

विचित्र तनु (शरीर), करण (इन्द्रिय) तथा भुवन (पुर) आदि के प्रवाह से युक्त सम्पूर्ण विश्व इन चतुर्विध अण्डों के अन्तर्गत है। पशु बनता हुआ शिव ही इनका भोक्ता है ॥१६५॥

पार्थिवेऽण्डे निवृत्याख्या प्रतिष्ठा प्राकृते तथा ।
विद्याख्यापि च मायीये शाक्ते शान्ता कलामता ॥१६६॥

"पार्थिव" अण्ड में "निवृत्ति" कला, "प्राकृत" अण्ड में "प्रतिष्ठा" कला, "मायीय" अण्ड में "विद्या" कला तथा "शक्त्यण्ड" में "शान्ता" कला मानी गई है ॥१६६॥

सत्येव स्थिरबोद्धृत्वे बोध्यत्वेन विभावनात् ।
तथा-तथा विकल्पात्मकला स्वातन्त्र्यतः शिवे ॥१६७॥

शिव में बोध स्थिर ही रहता है किन्तु स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा बोध्य रूपेण विभावित होने से तत्तत् प्रकार की विकल्परूपा कला उनमें बनती रहती है ॥१६७॥

अतः शिवे च तत्रस्थे व्यापिन्यादावपि स्थितिः ।
अस्त्येव भुवनानां वै नाण्डस्यावरणात्मनः ॥१६८॥

अतः "शिव" में तथा शिव में स्थित—"व्यापिनी" आदि में भुवनों की स्थिति है किन्तु आवरणात्मक अण्ड की स्थिति नहीं है ॥१६८॥

अण्ड का कार्य एवं उसके प्रयोजक (कारण) का निरूपण

अण्डं च भुवनानां हि विभागस्थितिसाधकम् ।
तदेवावरणं प्राहुः शक्त्यन्तं तच्च सम्भवेत् ॥१६९॥

भुवनों का विभाग पुरःसर स्थिति का साधक "अण्ड" है। वही आवरण" कहलाता है। यह अण्ड "शक्ति" तत्त्व पर्यन्त ही व्याप्त रहता है।।१६९॥

शिवेऽण्डाभावः—

मूर्तत्व प्रतिघातत्वे ये स्तोऽण्डत्वप्रयोजके ।
तदभावाच्छिवे नास्ति ह्यण्डमावरणात्मकम् ॥१७०॥

आण्डत्व के कारण के अभाव से "शिव" में अण्ड के अभाव का कथन—

अण्डत्व के प्रयोजक मूर्तत्व और प्रतिघातत्व हैं। इन दोनों के अभाव से "शिव" में आवरण स्वरूप अण्ड की सत्ता नहीं है ॥१७०॥

प्रकृत्यादावण्डत्वशङ्का समाधी—

नन्वेवं पृथिवीं मुक्त्वा न स्यादण्डं हि किंचन।
मूर्तत्व प्रतिघातत्वे यतो नान्यत्र संस्थिते ॥१७१॥

इत्याशङ्क्याभिनवेन प्रोक्तं पञ्चैव सन्ति वै।
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि सम्मतानि गुरोर्मम ॥१७२॥
पञ्चत्रिंशत्तु तान्येव षट्त्रिंशत्तम ईश्वरः ।१७३।१।

पृथिवी से अतिरिक्त "शक्ति" पर्यन्त तत्त्वों में भी शङ्का-समाधान पुरःसर अण्डत्व की उपपत्ति—

पूर्वोक्त प्रकार से मूर्तत्व और प्रतिघातत्व को अण्डत्व का प्रयोजक मानने पर "पृथिवी" के अतिरिक्त अन्य अण्ड सम्भव नहीं होगा क्योकि मूर्तत्व और प्रतिघातत्व पृथिवी के अतिरिक्त कहीं भी नहीं है—ऐसी आशङ्का कर के आचार्य-अभिनवगुप्त ने कहा है कि "मेरे गुरु के मत से पृथिवी आदि (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) पञ्च तत्त्व ही है। सम्मत ये ही पाँच तत्त्व पृथिवी से शक्ति पर्यन्त ३५ तत्त्व रूप है तथा ३६ वाँ परमेश्वर शिव हैं ॥१७१-१७३।१॥

अतः कालोत्तरे प्रोक्ता पञ्चमन्त्रतनोरपि ॥१७३।२॥
पृथिव्याद्यात्मनो व्याप्तिर्गन्धादेश्च यथाक्रमम्।
सद्यस्तु पृथिवी ज्ञेयो वामो ह्यापः प्रकीर्तितः ॥१७४॥

अघोरस्तेज इत्युक्तो वायुस्तत्पुरुषः स्मृतः।
आकाशस्तु भवेदीशः स्वयं देवो महेश्वरः ॥१७५॥

पृथिव्याद्यात्मकत्वादि पञ्चमन्त्रतनोरपि।
अभेदेनैव स्वीकृत्य व्याप्तिस्तस्य प्रदर्शिता ॥१७६॥

अतः "कालोत्तर" ग्रन्थ में तत्त्वों को पञ्चमन्त्रशरीर वाला कहा गया है। अब क्रमशः पृथिव्यादि की "गन्धादि" रुप में व्याप्ति बतायी जाती है।

सद्योजात पृथिवी तत्त्व है, वामदेव जल तत्त्व को कहा जाता है, अघोर को "तेज" तत्पुरुष को वायु तथा ईश्वर को आकाश कहा गया है। जो स्वयं महेश्वर है।

इस प्रकार पाँच मन्त्रतनु से अभिन्नतया पृथिवी आदि पाँच तत्त्वों को स्वीकार कर पञ्चमन्त्रतनु की व्याप्ति बतायी गई है॥१७३।२-१७६॥

तन्त्रालोके तत एव प्रोक्तं श्रीगुरुणापि च।
व्याप्तो गन्धो धरायां वै प्रकृत्यन्ते रसस्तथा॥१७७॥
मायान्ते रूपमस्त्येवं शक्त्यन्ते स्पर्श एव च।
तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः शुद्धचिद्व्योमरूपिणी॥१७८॥
तस्यां रूढः समभ्येति स्वप्रकाशात्मिकां पराम् १७९।१

अतएव श्रीगुरु (आचार्य अभिनव) ने तन्त्रालोक में कहा है कि "पृथिवी" तत्त्व में गन्ध व्याप्त है, "प्रकृति" तत्त्व पर्यन्त में रस, "माया" पर्यन्त तत्त्व में रूप तथा "शक्ति" पर्यन्त तत्त्व में स्पर्श व्याप्त है शक्ति पर्यन्त स्थित "स्पर्श" के अन्त में शुद्ध चिदाकाश रूप "संविद्" है। उस संविद् में आरूढ़ (स्थिर) साधक स्वप्रकाशरूप परावस्था को प्राप्त करता है॥१७७-१७९।१॥

निवृत्तिर्धारिका पृथ्वी प्रतिष्ठाप्यायनी जलम्॥१७९॥
विद्याबोद्ध्री तथा तेजः शान्तैवोत्पूयिनी मरुत्।
समानार्थस्तथाकाशः शान्तातीताऽवकाशदः॥१८०॥
इत्थं श्रीपूर्वशास्त्रेपि धराद्यर्थकनामभिः।
कलां व्यवहरन् स्पष्टं धरादेरेव तत्त्वताम्॥१८१॥
प्रोक्तवानित्यभिनवगुप्ताचार्योपि प्रोक्तवान्॥॥१८२।१॥

"धारिका" नाम से भी कहीं जाने वाली "निवत्ति" कला "पृथ्वी" है, "आप्यायनी" नाम वाली "प्रतिष्ठा" कला जल तत्त्व है; "बोद्धी" नाम वाली "विद्या" कला "तेज" तत्त्व है, "उत्पूयिनी" नाम वाली "शान्ता" कला ही "वायु" तत्त्व है तथा "शान्तातीता" कला ही

अवकाश देने वाला "आकाश" तत्त्व है। इस प्रकार निवृत्त्यादि कला को पृथिव्यादि का समानार्थक मान कर श्रीपूर्वशास्त्र" तथा मालिनी विजय में पृथिवी आदि अर्थ वाले शब्दों से निवृत्यादि कला का व्यवहार कर स्पष्ट रूप से पृथिव्यादि पञ्चक की ही तत्त्व रूपता मानी गयी है। अतएव आचार्य अभिनव गुप्त भी पृथिव्यादि पञ्चतत्त्व ही स्वीकार किये हैं।

कारणपञ्चात्मकभुवनेशाभिधानम्

आनन्त्यं भुवनानां तु प्रोक्तं स्वच्छन्द शासने ॥१८२॥
दीक्षोत्तरे तथापीशास्तेषां पञ्चैव कीर्तिताः ।
ब्रह्माण्डकर्प्परिकाऽधो वर्त्त्यनन्तात् प्रधानान्तम् ॥१८३॥
ब्रह्मैवेशस्ततो विष्णुः पुंस्तत्त्वादाकलावधि ।
ग्रन्थादिप्रविभक्ताया मायाया रुद्र ईशिता ॥१८४॥
मायाया अविभक्ताया मतः स्वामीश्वरस्तथा ।
शुद्धविद्येश्वरसदाशिवस्वामि अनाश्रितः ॥१८५॥

पाँच कारणों से अभिन्न भुवनेशों का निरूपण

यद्यपि "स्वच्छन्द" शास्त्र में अनन्त भुवन बताये गये हैं तथापि "दीक्षोत्तर" ग्रन्थ में उन भुवनों के पाँच ही स्वामी बताये गये हैं। "ब्रह्माण्ड कर्परिका" के अधोवर्ती "अनन्त" से लेकर "प्रधान" (प्रकृति) पर्यन्त भुवनों के स्वामी ब्रह्मा हैं। "पुरुष" से लेकर "कला" पर्यन्त भुवनों के स्वामी विष्णु हैं। "ग्रन्थि", "तत्त्व" तथा "शक्ति" इन तीनों रूपों में विभक्त माया के स्वामी "रुद्र" है। अविभक्त "माया" का "स्वामी" "ईश्वर" हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर तथा सदाशिव के स्वामी "अनाश्रित शिव" है ॥

अध्येतॄणां परमशिवत्वप्रत्यभिज्ञापनम्

पञ्चानां कारणानां यो व्यापकः परमः शिवः ।
शक्तेरीशः स एव त्वं ग्रासीकृताध्वमण्डलः ॥१८६॥

अध्ययन करनेवालों को "परमशिवता" की प्रत्यभिज्ञा करायी गई है

पाँचों कारणों का व्यापक, समस्त अध्वा को अपने अन्दर विलीन करने वाले अनन्तशक्ति सम्पन्न "परमशिव" तुम ही हो ॥

अतः समस्तमध्वानमध्वेशेषु च तान् पुनः ।
देहप्राणमतौ पश्चात् संवित्तौ प्रविलापयन् ॥१८७॥

संविदेकात्मतानीतभूतभावपुरादिकः ।
अव्यवच्छिन्नसंवित्ति भैरवो भवसि क्षणात् ॥१८८॥

इत्यभिनवगुप्तेन गुरुणापि महात्मना ।
तन्त्रालोकेऽष्टमे प्रोक्तं प्रोक्तं जयरथेन च ॥१८९॥

अतः समस्त अध्वा को "अध्वेश" (अध्वाओं के अधिपति) में तथा अध्वेश को क्रमशः देह, प्राण, बुद्धि तदनन्तर "संवित्ति" (संविद्) में प्रविलापित करते हुए तत्क्षण भूत, भाव (आशय अर्थात् सत्ता) तथा भुवन आदि को संविद् के साथ एकरूप कर तुम निरवच्छिन्न संविद्रूप "भैरव" (परम शिव) हो जाते हो ।

उपर्युक्त रहस्य को "तन्त्रालोक" के "अष्टम" आह्निक में गुरुवर, महात्मा "अभिनव गुप्त" तथा टीकाकार "जयरथ" ने बताया है ।

इत्थं स्वसंवित् परिशील्यमाना
स्वात्मीकृताऽशेषषडध्ववर्गा ॥१९०॥

द्वयावभासं परिमुच्य सद्योऽ-
द्वयावभासात्मतया चकास्ति ॥१९१॥

इस तरह परिशीलन करने से अशेष षड्विध अध्वा को स्वात्मसात् करने वाली स्वसंविद् तत्क्षण द्वैतावभास को छोड़कर अद्वय-रूप से भ.स-मान होने लगती है ।

शक्तिविद्यात्मतत्त्ववरं विमज्यपञ्चाशद्विधसकावेशवर्णनम्

षट्त्रिंशत्तत्त्वमध्येऽपि शक्तिर्विद्या पुमानिति ।
तत्त्वत्रयमुपादेयं विशेषेणैव योगिनाम् ॥१९२॥

यत एषां विभक्तानां ज्ञानेन ज्ञायते बुधैः ।
रुद्रशक्ति समावेशो यः स पञ्चाशदात्मकः ॥१९२॥

शक्ति, विद्या तथा पुरुष को विभाग-पुरःसर ५० प्रकार के समावेश का वर्णन—

३६ तत्त्वों में शक्ति, विद्या तथा पुरुष—ये तीन तत्त्व योगियों के लिए मुख्य रूप से उपादेय हैं। इन विभक्त तीन तत्त्वों के ज्ञान से ज्ञानी लोग पचासों प्रकार के "रुद्रशक्तिसमावेश" समझ जाते हैं॥१९१-१९२॥

मायान्तं पुरुषव्याप्तिरासादाख्याद्वियस्तथा ।
शिवान्तं स्वीयशक्तेश्च व्याप्तिः सद्भिः प्रदर्शिता ॥१९३॥

"माया" पर्यन्त पुरुष की व्याप्ति, "सदाशिव" पर्यन्त विद्या की व्याप्ति तथा "शिव" पर्यन्त स्वशक्ति की व्याप्ति सद्गुरुष योगिजन बताये हैं।१९३।

दर्शिता सद्भिरित्येवं नाहं शब्दानुवादकृत् ।
तत्संविदैक्यमापन्नः पश्यामि भवदात्मकः ॥१९४॥

श्रोत्रिय सद्गुरु का शिवरूपत्व-ख्यापन—

योगियों ने कहा है—इस तरह मैं शब्दानुवाद मात्र करने वाला नहीं। प्रत्युत मैं उनकी संविद् से एकता (अभेद) को प्राप्त कर उक्त व्याप्ति का साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ। मैं भवद्रूप ही हूँ अतः आप पाठक भी ऐसा अनुभव कर सकते हैं ॥१९४॥

तत्र शक्ते स्त्रयो भेदा इच्छाज्ञान क्रियात्मकाः ।
चतुर्धास्ति पुमान् भिन्नः शुद्धो ज्ञानाकलोऽकलः ॥१९५॥

सकलश्च तथैवेयं विद्यापि दशधा स्मृता ।
वर्णो बिन्दुस्तथा चन्द्रो रोधिनी नाद एव च ॥१९६॥

नादान्तो व्यापिनी शक्तिः समनाप्युन्मना तथा ॥१९७।१॥

पूर्वोक्त तीन तत्त्वों में "शक्ति" के तीन भेद हैं—इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया।

पुरुष के चार भेद हैं—शुद्ध, ज्ञानाकल, अकल तथा सकल।

विद्या के दस भेद हैं—वर्ण, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, व्यापिनी, शक्ति, समना तथा उन्मना।।१९५-१९७।१।।

तत्राप्यशुद्ध एवायं पुमान् भेदमयत्वतः ।।१९७।२।।
शुद्धयमानास्ति विद्यापि भेदाभेदमयत्वतः ।
शक्तिः शुद्धस्वरूपैव शिवाभेदमयत्वतः ।।१९८।।

भेदमयरूपता के कारण "पुरुष" अशुद्ध ही है। भेदाभेदरूपता के कारण "विद्या" शुद्धयमाना (शुद्ध होती हुई) है तथा शिव के साथ अभेदरूपता के कारण "शक्ति" शुद्धस्वरूपा ही है।।१९७।२।१९८।।

अंशांशग्रहणेनैव यथा कस्यापि वस्तुनः ।
सम्पूर्णस्य भवेद् बोधस्तथा शम्भोर्भवत्यपि ।।१९९।।

रुद्रशक्तिसमावेशमतः प्रारभ्य प्रोक्तवान् ।
श्रीपूर्वे पञ्चधा भिन्नं समावेशमनन्तरम् ।।२००।।
पञ्चाशद्भेदभिन्नं च पूर्णावेश प्रदायिनम् ।।२०१।१।।

जैसे कतिपय भागों के ग्रहण (ज्ञान) से किसी भी वस्तु का सम्पूर्ण बोध (ज्ञान) होता है वैसे ही शम्भु का भी बोध होता है। अतएव श्रीपूर्व-शास्त्र (मालिनी विजय) में रुद्रशक्तिसमावेश (निरूपण) प्रारम्भ कर पाँच प्रकार के समावेश, तदनन्तर ५० प्रकार के समावेश बताये गये हैं। जो, पूर्ण शिवरूपता का समावेश कराने वाले हैं।।१९९-२०१।१।।

तत्र तत्त्वत्रयस्योक्तो भेदः सप्तदशात्मकः ।।२०१।२।।
पञ्चाशच्च भवेदेवं त्रयस्त्रिंशतिमेलने ।।२०२।१।।

३६ तत्त्वों में शक्ति, विद्या तथा पुरुष इन तीन तत्त्वों के १७ भेद बताये गये हैं। इन्हें अवशिष्ट ३३ तत्त्वों के साथ योग करने से पचास प्रकार के समावेश होते हैं।।२०१।२-२०२।१।।

नाङ्गादङ्गी न वा धर्माद्धर्मी भिन्नोऽत्र शासने ।।१०२।२।।

शक्तिशक्तिमतोर्भेदो यथा नास्त्यत एव हि ।
तत्त्वत्रयस्य शक्त्यादेर्न पुनर्गणना कृता ।।२०३।।

शैव शास्त्र में जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं माना जाता उसी प्रकार अङ्ग से अङ्गी एवं धर्म से धर्मी को भिन्न नहीं माना जाता है। अतएव शक्ति, विद्या तथा पुरुष इन तीन अङ्गी तत्त्वों की गणना १७ अङ्ग से पृथक् नहीं की जाती है ॥२०२।२-२०३॥

पञ्चधा शक्ति, विद्याऽऽत्म, तत्त्व, भूत, विभागतः ।
समावेशो भवेत् सोऽपि प्रोक्त पञ्चाशदात्मकः ॥२०४॥

पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिंशद्वा तत्त्वसंज्ञकः ।
आत्माख्यस्त्रिविधो ज्ञेयो विद्याख्यो दशधास्थितः ॥२०५॥

शक्त्याख्यो द्विविधो ज्ञेयः किन्तु त्रिंशत्त्वसिद्धये ।
अत्र पक्षे तु तत्त्वान्तः शक्तिविद्यात्मनामपि ॥२०६॥

सामान्यरूपमादेयं त्रिंशत्त्वं नान्यथा भवेत् ॥२०७।१॥

समावेशस्य पञ्चविधत्वेऽपि पञ्चाश द्विधत्वम्—

शक्ति, विद्या, आत्मा (पुरुष) तत्त्व तथा भूत के भेद से समावेश पाँच प्रकार का है। इन शक्त्यादि पाँच के प्रभेदों की गणना से समावेश ५० प्रकार का भी होता है। तथाहि—भूतसंज्ञक समावेश पाँच प्रकार का है—पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश। तत्त्व संज्ञक समावेश ३० प्रकार का है। आत्म संज्ञक समावेश ३ प्रकार का, "विद्या" नामक समावेश १० प्रकार का तथा "शक्ति" नामक समावेश २ प्रकार का है। किन्तु इस पक्ष में तत्त्वों की ३० संख्या की पूर्ति के लिये शक्ति, विद्या तथा पुरुष इन तीन (अङ्गी) तत्त्वों को अलग से गिना गया है।

अन्यथा (शक्त्यादि के समष्टि रूप को पृथक् नहीं गिनने से) तत्त्वों के ३० भेद नहीं हो पायेंगे ॥२०४-२०७।१॥

न चान्यत्रेव भूतादेरत्र भेदः शिवाद् विभोः ॥२०७।२॥

अतो रुद्रसमावेशमुद्दिश्याभिहितः पुनः ।
भूतादीनां समावेशः पञ्चाशद्वा विशेषतः ॥२०८॥

इस शास्त्र में अन्य शास्त्रों की तरह "व्यापक शिव" से भूतादि का भेद नहीं माना गया है। अतएव "रुद्रसमावेश" का कथन प्रारम्भ कर

इस प्रकार के भूतादि समावेश का ही विश्लेषण किया गया है।

॥२०७।२-२०८॥

संविदो वैचित्र्यख्यापनम्—शिवस्य समावेश्यत्वाभिधानम्—

संविदोऽस्यास्तु वैचित्र्यख्यापनार्थं विचित्रता।
दर्शिता याऽऽगमेनापि चित्रा सा सद्भिरीक्ष्यताम्॥२०९॥
पुंशक्त्योरत्र भेदोस्ति एकैकोनो धियस्तु सः।
पूर्ववद् दशधैवास्तीत्येकेयमपरापि सा॥२१०॥
यतो विभज्यमानाच्च रूपादन्यदुरीकृतम्।
अविभक्तस्वरूपं यत् तत्त्वान्तर्गण्यते त्रयम्॥२११॥
समावेश्यतया नात्र षट्त्रिंशत्तम आदृतः।
आदृतः किन्तु पूर्वत्र तत्त्वरूपतया शिवः॥२१२॥
अतः श्रीमताभिनवगुप्ताचार्येण स्वीकृतः।
कल्पितत्वाच्च तत्त्वानां सप्तत्रिंशत्तमः परः॥२१३॥

"संविद्" के वैचित्र्य का ख्यापन तथा शिव की समावेश्यता का अभिधान

इस "संविद्" के वैचित्र्य के ख्यापन के लिये आगम में भी विचित्रता दिखायी गई है। सज्जन लोग विचित्रता को समझें—प्रथम ऊपर दो प्रघट्टकों में ५० प्रकार के समावेश भिन्न रूप से बताये गये हैं। दूसरे पक्ष में पहले पक्ष की अपेक्षा एक-एक कम भेद-पुरुष और शक्ति के बताये गये हैं। अर्थात् पहले पक्ष में पुरुष के चार भेद तथा शक्ति के तीन भेद बताये गये हैं तथा दूसरे पक्ष में पुरुष के ३ भेद तथा शक्ति के दो भेद बताये गये हैं। विद्या के १० भेद प्रथम पक्ष के समान द्वितीय पक्ष में भी बताये गये हैं।

द्वितीय, यह कि दूसरे पक्ष में विभज्यमान (भेद) रूप से पृथक समष्टि रूप-शक्ति, विद्या तथा पुरुष इन तीनों (अविभक्त स्वरूप) को भी तत्त्वों के मध्य गिना गया है।

तृतीय यह कि, दूसरे पक्ष में समावेश्य रूप से ३६वें शिव तत्त्व को अङ्गीकार नहीं किया गया हैं किन्तु प्रथम पक्ष में तत्त्व रूप से "शिव" का भी अङ्गीकार किया गया है।

अतएव (तत्त्व रूप से "शिव" को अङ्गीकार करने के कारण ही) आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्त्वों के कल्पित होने के कारण ३७वें "अकल्पित परम शिव" का अङ्गीकार किया है।

अष्टात्रिंशत्तमोऽप्येवमुपदेशाय युज्यते ।
सप्तत्रिंशात्मकः किन्तु सोपि स्यान्न परः पुनः ॥२१४॥
ईक्ष्यतां च यथा ह्यत्र नानवस्थापि काचन ॥२१५।१॥

३७वें "परम शिव" की तरह ३८वें की कल्पना भी उपदेश के लिये यद्यपि युक्त प्रतीत होती है किन्तु वह भी ३७वें से अभिन्न होने के कारण भिन्न नहीं कहला सकता। विचार करने से "अनवस्था" दोष का अवसर यहाँ नहीं प्राप्त होता है।

पञ्चभूतात्ममन्त्रात्मसद्योजातादिपञ्चके ॥२१५।२॥
पञ्चत्रिंशत्पदार्थात्मवेद्ये विगलिते तु यत् ।
शिष्यते भावसंस्कारे नष्टेऽपि तदनाश्रितम् ॥२१६॥
शिवतत्त्वमिति प्रोक्तं महाशून्यमिव स्थितम् ।
तत्कीदृगित्यभिलषन् पृष्टो वाऽप्यनुगामिभिः ॥२१७॥
चिदानन्दमयं देवं वेत्ति स्वात्मानमद्वयम् ।
वक्ति वा पुनरत्रापि नाकाङ्क्षोदेति काचन ॥२१८॥
अभिन्न एव पूर्वस्मात् सप्तत्रिंशत्तमोऽप्ययम् ।

पञ्च भूतात्मक मन्त्ररूप सद्योजातादि पाँच से अभिन्न ३५ पदार्थ रूप वेद्य के विगलित (विनष्ट) हो जाने के बाद भाव संस्कार के भी विनष्ट हो जाने पर जो अवशिष्ट रह जाता है, उसे अनाश्रित "शिवतत्त्व" कहा गया है। वह "महाशून्य" के समान स्थित रहता है।

वह अनाश्रित शिव तत्त्व कैसा है? इस प्रकार अभिलाषा करता हुआ अथवा अनुगामियों के द्वारा पूछा गया व्यक्ति चिदानन्दमय देव से अभिन्न अद्वय स्वात्मतत्त्व को समझता है अथवा (शिष्य के लिये) कहता है। पुनश्च इस विषय में कोई आकाङ्क्षा उदित (जागृत) नहीं होती है।

अतः पूर्ववर्णित ३७ वें से अभिन्न अद्वय स्वात्मा भी ३७ वाँ ही है, उससे अतिरिक्त न ही है। (अयमपि सप्तत्रिंशत्तमः) ऐसा अन्वय है।

नन्वस्य वेद्यता योगाद् वेदकोस्त्येव यः पुनः ॥२१९॥

अष्टात्रिंशत्तमः सोऽपि कल्पयेदन्यवेदकम् ।
इति चेन्न, न वेद्यत्वं कल्पितं भेदकारकम् ॥२२०॥

भवेद्यतोऽनयोर्भेदहेतुर्धर्मान्तरं न हि ।
अविभक्तस्वतन्त्रत्व चिन्मयत्व स्वरूपता ॥२२१॥

समैवास्त्यनयोः किञ्च वेद्यवेदकरूपता ।
कल्पिता कालभेदेन भावनामात्रसाधिका ॥२२२॥

अतोऽस्यास्ति शिवस्यापि समावेश्यत्वमीदृशम् ।
इत्याशयस्तु गुप्तस्य प्रविभज्य प्रदर्शितः ॥२२३॥

चिदानन्दमय स्वात्मा के वेद्य होने से ३८ वाँ वेदक मानना ही होगा और वह भी अन्य वेदक की कल्पना करेगा—इस तरह की आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि कल्पित-वेद्यत्व, भेद का प्रयोजक (कारण) नहीं होता। इन दोनों (वेद्य-वेदक) के भेद का कारण—धर्मान्तर (अन्य धर्म) नहीं है।

इन दोनों (वेद्य-वेदक) में अविभक्तता, स्वातन्त्रता, चिन्मयता आदि धर्म समान ही हैं, केवल वेद्य वेदक रूपता कल्पित है—जो काल-भेद से भावना-मात्र की साधिका है।

अतः अनाश्रित शिवतत्त्व (३६वाँ) की भी उपर्युक्त प्रकार से समावेश्यता है—ऐसा आचार्य गुप्त का आशय विभाग पुरःसर बताया गया ॥२१९।२-२२३॥

पञ्चधा प्रविभज्यैव पञ्चाशद्धा प्रदर्शितः ।
श्रीपूर्वोक्तः समावेशो जयेनापि प्रदर्शितः ॥२२४॥

मालिनी विजय में प्रतिपादित तथा तन्त्रालोक व्याख्याकार जयरथ द्वारा बताये गये समावेश को पाँच प्रकारों में विभाजित कर पचास प्रकारों में बताया गया ॥२२४॥

अविकल्पपथारूढ़ो येन येन पथाविशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवी भवेत् ॥२२५॥

अविकल्प पथ में आरूढ़ (योगी) "धरा" (पृथिवी) से लेकर "सदाशिव" पर्यन्त जिस किसी मार्ग (तत्त्व) से समाविष्ट होकर शिव-रूपता को प्राप्त करता है ।

जडचित्समावेशयोर्भेदाभिधानम्

जडेन यः समावेशः स जडप्रतिबिम्बनम् ।
न तु तादात्म्यमेवं स्याज्जडता वा चिदात्मता ॥२२६॥

जड़-समावेश और चित्समावेश का स्वरूप

(संविद् में) जड़ का प्रतिबिम्बित होना ही जड़ के साथ समावेश कहलाता है, जड़ के साथ "तादात्म्य" (अभेद) को समावेश नहीं कह सकते । क्योंकि तादात्म्य मानने पर या तो जड़रूपता होगी अथवा चिद्रूपता ही होगी ॥२२६॥

चितः संकुचितायाश्चासंकुचितचिता सह ।
स्वतन्त्रयाऽस्वतन्त्राया ऐक्यं तादात्म्यमेव यत् ॥२२७॥

स समावेश इत्युक्तो बोधैकात्म्यमिदं स्फुटम् ॥२२८।१॥

अस्वतन्त्र संकुचित "चित्" (जीव) की स्वतन्त्र असंकुचित "चित्" शिव के साथ एकता अर्थात् तादात्म्य (अभेद) को "समावेश" कहा जाता है । यह समावेश स्फुटबोधक रूप ही है ।२२७।२२८।१।

शाम्भव-समावेशः

स्वोद्भासितास्वतन्त्रात्मबुद्ध्यादि द्राङ् निजेच्छया ॥२२८।२॥
निमज्ज्येति गुणीकृत्यानदृत्य स्वात्मना स्थितिः ।
स्वात्माभिमुखबोधेन विकल्पक्रममन्तरा ॥२२९॥

स्वतन्त्र बोधरुपेण तादात्म्यापत्तिरेव या ।
अविकल्पा स्थितिः सेयं भावनाद्यनपेक्षिणी ॥२३०॥
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशः स शाम्भवः ॥२३१।१॥

शाम्भव-समावेश का निरूपण

"स्व" (अपने) द्वारा उद्भासित अतएव अस्वतन्त्र—मन, बुद्धि आदि को अतिशीघ्र स्वेच्छा से निमज्जित अर्थात् गौण कर के (अनादर पुरःसर) विकल्प-क्रम के बिना स्वतन्त्र स्वात्माभिमुखबोध के साथ तादात्म्य (अभेद) ही स्वात्मना-स्थित है ।

इस प्रकार विकल्प रहित, भावना आदि की अपेक्षा न रखनेवाली, शिवतादात्म्यापन्न स्वरूप-स्थिति को शाम्भव-समावेश कहा जाता है ॥२२८।२३१।१

अविकल्पेन विकल्पस्य सिद्धिः

वस्तुनो ह्यविकल्पेन सिद्धिर्नैव विकल्पतः ॥२३१।२॥
विकल्पः स्मृतिरूपो हि वस्त्वपेक्षाविर्जितः ।
सिद्धमेवाविकल्पेन विकल्पेनानुगम्यते ॥२३२॥
अतोऽपेक्षा विकल्पस्य विद्यते न चिदात्मनि ॥२३३।१।

अविकल्प से विकल्प-शिद्धि का उपपादन

वस्तु की सिद्धि अविकल्प से होती है, न कि विकल्प से । विकल्प स्मृति स्वरूप है—जो वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता ।

अविकल्प से सिद्ध का ही विकल्प अनुगमन करता है । अतः (निर्विकल्पक) "चिदात्मा" में विकल्प की अपेक्षा नहीं है ।२३१।२।२३३।१।

नैर्मल्यविरहभ्रान्त्या विकल्पोऽयं भवन्नपि ॥२३३।२॥
अविकल्पप्रसूतत्वान्नोपायः संविदो भवेत् ॥२३४।१॥

"संविद्" निर्मल है किन्तु निर्मलता के अभाव के भ्रम से विकल्प होता रहता है । चूंकि विकल्प, अविकल्प से प्रसूत होता है अतः "संविद्" का उपाय नहीं हो सकता ।२३३।२।२ ३४।१।

संविदो नैर्मल्ये कारणविकल्पः

पूर्वाभ्यासवशात् क्वापि क्वापीशेच्छावशात् पुनः ।।२३४।२।
अभ्यासेनापि कुत्रापि नैर्मल्यं संविदो भवेत् ।
यस्मादहेतुकस्यापि शक्तिपातस्य मुख्यतः ।।२३५।।
नवधा चर्चितो भेदो भेदभेदोऽप्यसंख्यकः ।।२३६।१।।

संविद् के नैर्मल्य के कारणों का उल्लेख

किसी व्यक्ति में "पूर्वाभ्यास" से, किसी में "ईश्वरेच्छा" से तथा किसी में "अभ्यास" से "संविद्" की निर्मलता होती है। अतएव अहेतुक (हेतुरहित) शक्तिपात के ९ भेद तथा अनन्त प्रभेद बताये गये हैं। ।।२३४।२।२३६।१।।

इत्थमिच्छात्मकः शैवः समावेशः प्रदर्शितः ।।२३६।२।।
उपयोगो न यत्रास्ति भावनादेस्तु लेशतः ।।२३७।१।।

२२८ श्लोक से लेकर यहाँ तक इच्छात्मक "शैव-समावेश" का निरूपण किया गया। इस समावेश में भावना आदि का लेशमात्र भी उपयोग नहीं है ।।२३६।२।२३७।१।।

शाक्त-समावेशः

अखण्डवस्तुनो भासोऽविकल्पेऽक्रमयो भवेत् ।।२३७।२।।
विकल्पे तु क्रमेणेति शाक्तो वैकल्पिको मतः ।
अहंकारेण मनसा बुद्धचा वा यद्विकल्पनम् ।।२३८।।
सर्वत्राहं स्थितं सर्वं मय्येवास्ति व्यवस्थितम् ।
अथवाऽहमहमिति स्वावमर्शनमेव यत् ।।२३९।।
तच्छाक्तः प्रोच्यते सद्भिरुपायोऽभ्यासियोगिने ।।२४०।१।।

शाक्त समावेश का निरूपण

अखण्ड वस्तु का भास (भान) अविकल्प में अक्रम (क्रम के बिना) से होता है तथा विकल्प में क्रमशः होता है। वैकल्पिक भास को शाक्त समावेश कहा गया है।

अहंकार से, मन से अथवा बुद्धि से जो विकल्प होता है—उन सब विकल्पों में अहम् (मैं) स्थित रहता है—अतः सब विकल्प मुझ में ही व्यवस्थित हैं अथवा "अहम्-अहम्" इस तरह के नित्य विमर्श द्वारा स्व का अवमर्शन ही शाक्त उपाय कहा जाता है। अभ्यासरत योगियों के लिये सन्तों (आचार्यों) ने शाक्त उपाय बताया है।२३७।२।२४०।१।

विकल्पत्वाच्च भेदात्माऽभेदात्मार्थानपेक्षणात् ।।२४०।२।।
इत्युभयात्मकः शाक्त उपायोऽयं हि मायिकः ।
तथाप्यभ्यस्यमानः सन् द्वैतं भेदावभासनम् ।।२४१।।
स्वरूपाच्छादिकां मायां द्वैतभासनकारिणीम् ।
निघ्नन् स्वाऽऽकलनाशैवोपायेन सह योजयन् ।।२४२।।
स्वात्मनः शिवरूपत्वं प्रत्यभिज्ञापयत्ययम् ।।१४३।१।।

(यद्यपि)—विकल्परूपता के कारण भेदरूप तथा अर्थ की अपेक्षा न करने के कारण अभेदरूप होने से उभयात्मक शाक्त उपाय मायिक ही है। तथापि यह भेदावभासन-विनाश-पुरःसर स्वरूपाच्छादिका और द्वैता-वभासिका माया का विनाश कर स्वरूप का आकलन करने वाले शैवोपाय के साथ सम्बद्ध कर देता है। फलतः अपनी शिवरूपता की प्रत्यभिज्ञा होती है ।।२४०।२-२४३।१।।

निर्विकल्पात्मकाच्छैवाच्छाक्ते ज्ञानक्रिये स्फुटे ।।२४३।।
यद्यपि स्तस्तथाप्यत्र भातः संकुचिते च ते ।।२४४।१।।

यद्यपि निर्विकल्पक शैवोपाय से शाक्तोपाय में ज्ञान और क्रिया स्फुट हैं तथापि शाक्त में भासमान ज्ञान और क्रिया संकुचित स्वरूप ही होते हैं ।।२४३।२-२४४।१।।

संकोचस्य परित्यागो भवत्यभ्यासशालिनः ।।२४४।२।।
अतोऽभ्यासः समादेयः परतत्त्व विविक्षुणा ।
अभ्यासोऽप्यद्वये बोधे यद्यप्यनुपयोगवान् ।।२४५।।
तथापि द्वैतमालिन्यशङ्का निर्मूलनाय सः ।
किं चाभ्यासोपि नान्यः स्याद‍ृते भेदव्यपोहनात् ।।२४६।।

भेदवारणपञ्चास्यतर्क स्याप्यत एव हि।
योगाङ्गत्वं स्फुटं प्रोक्तं तन्त्रविद्भिरनुत्तमम् ॥२४७॥

ज्ञान तथा क्रिया के संकोच का परित्याग अभ्यास से होता है। अतः परतत्त्व में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को अभ्यास करना चाहिये।

यद्यपि अद्वय बोध में अभ्यास योगी नहीं है तथापि द्वैत—मालिन्य की शङ्का के निर्मूलन हेतु अभ्यास उपयोगी है।

वस्तुतः भेदव्यपाहेन के अतिरिक्त अभ्यास कोई अन्य वस्तु नहीं है। अतएव तन्त्रविदों ने स्पष्टतया भेद रूपी हाथी के लिये तर्करूप सिंह को "योग का अङ्ग" बताया है ॥२४४।२।२४७॥

शाम्भवी त्वविकल्पात्मा दशा स्वारसिकी पशोः।
किन्तु सा मितमातृत्वान्मितैवास्त्यमितापि या ॥२४८॥
व्यतीते मितमातृत्वे पूर्णा पूर्णप्रमातृका ॥२४९।१॥

पशु (जीव) की शाम्भवी अविकल्परूपा दशा (अवस्था) स्वारसिक (निसर्गसिद्ध) है जो (शाम्भवी दशा) वस्तुतः अमित होने पर भी मितप्रमातृता के कारण परिच्छिन्नतया भासित होती है। परिच्छिन्न प्रमातृता का विनाश हो जाना ही पूर्णप्रमातृता का उदय है जिससे निसर्गसिद्ध पूर्णता प्राप्त होती है ॥२४८।२४९।१॥

उपायस्योपयोगित्वम्

मितमातृत्वगौणाय परमातृत्वक्लृप्तये ॥२४९।२॥
प्रत्यभिज्ञाफलोपाय उपादेयो यथायथम् ॥२५०।१॥

उपाय की उपयोगिता का निरूपण

परिच्छिन्नप्रमातृता को गौण करने हेतु अर्थात् परप्रमातृता की सम्प्राप्ति के लिये प्रत्यभिज्ञा रूप प्रयोजन वाला उपाय थयायोग्य उपादेय है ॥२४९।२।२५०।१॥

आणवशाक्तसमावेशयोर्भेदाभिधानम्

वैकल्पिकीं विना बुद्धिं नाणवोऽप्यस्ति कश्चन ॥२५०।२॥

तथाप्यस्त्येव महती मिदाप्याणवशाक्तयोः ।
चेतसा स्मरणं शाक्तं बाह्यं नैवावलम्बते ॥२५१॥
उच्चारादि पुनर्बाह्यमालम्ब्यैवाणवो भवेत् ॥१५२।१॥

"आणव" और "शाक्त" समावेश के परस्पर भेद का निरूपण

शाक्त समावेश की तरह कोई भी आणवसमावेश वैकल्पिक बुद्धि बिना सम्भव नहीं है। तथापि "आणव" और "शाक्त" समावेश में महान् भेद है।

चित्त द्वारा स्मरण किया जाना ही शाक्त-समावेश है—वह बाह्य विषय का अवलम्बन (अपेक्षा) नहीं करता। आणव-समावेश "उच्चारादि"—बाह्य विषय का अवलम्बन करके ही सम्भव है ॥२५०।२।२५१॥

मायाकार्यात्मना बुद्ध्याऽहंकृत्या मनसापि वा ॥२५२।२॥
नोर्ध्ववर्तिशिवं व्याप्तुं ज्ञातुं वार्हः पुमानयम् ।
इति शङ्का न कर्तव्या यतः सर्वं शिवात्मकम् ॥२५३॥
अतो बुद्धिमनोभूमावपि भाति परं पदम् ।
अणुस्वातन्त्र्यजन्मापि विकल्पो निश्चयात्मताम् ॥२५४॥
सम्यक् संस्कारतो गच्छन् भोगमोक्षौ प्रयच्छति ॥२५५।१॥

माया-कार्य बुद्धि, अहंकार अथवा मन द्वारा माया से ऊर्ध्ववर्ती शिव को व्याप्त करने अथवा समझने में कैसे समर्थ हो सकता? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि बुद्धि, मन प्रभृति यावद् वस्तु शिवरूप ही है। अतः बुद्धि, मन प्रभृति में भी "परम पद"(शिव तत्त्व) प्रकाशित होता है। अणु (जीव) की स्वातन्त्र्य शक्ति से उत्पन्न होने वाला विकल्प, संस्कार द्वारा भली प्रकार निश्चय-रूपता को प्राप्त कर भोग तथा मोक्ष दोनों प्रदान करता है ॥२५२।२-२५५।१॥

विकल्पसंस्कारस्य सोपायत्वानुपायत्वे

तत्रोपायानपेक्षोस्ति शाक्ते सोपाय आणवे ॥२५५।२॥

संस्कारस्त उपायाश्च प्राणबुद्धिशरीरगाः ।
न तु शून्यं यतः शून्यं परिच्छेदविवर्जितम् ॥२५६॥

विकल्प-संस्कार को उपाय की अपेक्षा तथा अनपेक्षा से शाक्त तथा आणव समावेश के भेद का निरूपण

"शाक्त" समावेश में संस्कार-उपायानपेक्ष होता है तथा "आणव" समावेश में उपायसापेक्ष होता है। वे उपाय प्राण, बुद्धि तथा शरीर में ही हो सकते हैं। शून्य रूपता में नहीं क्योंकि शून्य, परिच्छेद से वर्जित होता है ॥२५५।२।२५६॥

उपायानादूरदूरत्वाधभिधानम्

प्राणोच्चारमपेक्ष्य स्याद् दूरं ध्यानादि बुद्धिगम् ।
ततोपि करणादि स्याद् दूरं देहगतं पुनः ॥२५७॥

ततोऽपि दूरं बाह्यं स्यान्मण्डलस्थण्डिलादिकम् ।
अन्तिकत्वं च नैकटचं चिद्रूपोन्मज्जने हि तत् ॥२५८॥

बाह्यत्वमपि दूरत्वं यच्चिद्रूपनिमज्जवम् ॥२५९।१॥

उपायों का तारतम्येन दूरत्वादि कथन

प्राणगत उच्चार आदि की अपेक्षा बुद्धिगत ध्यानादि दूर हैं, उसकी अपेक्षा देहगत करण आदि दूर हैं और उसकी अपेक्षा मण्डल, स्थण्डिल आदि बाह्य उपाय दूर हैं। चित्स्वरूप का उन्मज्जन (उदय) ही अन्तिकत्व अर्थात् सामीप्य है तथा चिद्रूप का निमज्जन अर्थात् डूबना ही बाह्यत्व अर्थात् दूरत्व है ॥२५७।२५९।१॥

यथा यस्यास्ति दूरत्वं तथा तस्यास्ति वेदने ।
प्रयत्नस्तारतम्येन न यत्नः सुखवेदने ॥२५९॥

अन्तिकं शिवतत्त्वं तु सर्वस्मादत एव हि ।
भावनाकरणादीनां यत्नानां न शिवेऽस्तिता ॥२६०॥

जिसकी जितनी ही दूरी है उसके वेदन (बोध) में तारम्य (न्यूनाधिक भाव) से उतना ही प्रयत्न अपेक्षित है। सुख के बोध में यत्न की अपेक्षा

नहीं होती है। सब वस्तुओं की अपेक्षा शिवतत्त्व अत्यन्त समीपस्थ है इसीलिये स्वात्ममहेश्वर में भावना-करण आदि यत्नों की अपेक्षा नहीं है।

स्वापरामर्शनं ह्येतदपराधो महान्ननु।
अन्तिकस्थोऽपि येनासौ शिवो दूरातिदूरगः ॥२६१॥

स्वस्वरूप का परामर्श न करना महान् अपराध है जिसके कारण समीपस्थ शिव भी दूर से दूर चला जाता है ॥२६१॥

न च बीजाङ्कुरलतादलपुष्पफलादिवत्।
क्रमिकेयं भवेत् संविद् यतोभात्येव सर्वदा ॥२६२॥

बीज से अङ्कुर तदनन्तर क्रमशः लता, दल, (पत्ता) पुष्प, फल आदि की तरह "संविद्" क्रमिक विकासशील नही है, प्रत्युत सदैव एक रूपेण विकस्वर स्वरूप है ॥२६२॥

तत्त्वस्वरूपम्

यदेकं सदनेकत्र भुवनादौ प्रभासते।
अनुगामितया रूपं तत्तत्त्वमिति प्रोच्यते ॥२६३॥

तत्त्वस्वरूप का निरूपण

जो सद् एकरूप से अनेक भुवनादि में अनुगतरूपेण भासित होता है, उसे तत्त्व कहा जाता है ॥२६३॥

शिवतत्त्वम्

अत्रास्त्येकं परं तत्त्वं शिवः षट्त्रिंशदात्मकः।
प्रकाशमानतादानात् सर्वस्यैव प्रकाशकः ॥२६४॥

शिवतत्त्व का निरूपण

समस्त तत्त्वों में छत्तीस तत्त्वरूप "शिव" परम तत्त्व है। यह शिवतत्त्व प्रकाशरूपता-प्रदान करने से सभी तत्त्वों का प्रकाशक है ॥२६४॥

प्रकाशपरमार्थत्वेऽपि तत्त्वसत्ताभिधानम्

ननु विश्वं प्रकाशैकपरमार्थमिदं यदि।
तदा पुनः पृथिव्यादेरन्यस्या सत्त्वमेव हि ॥२६५॥

इति चेन्नहि तस्यैव स्वातन्त्र्यात्तु सदैव हि ।
यतो भेदोऽपि भात्येव तत्त्वं स्यादनुगामि यत् ॥२६६॥

परमार्थतः प्रकाशरूपता रहने पर भी विश्व में तत्त्वसत्ता का अभिधान

यदि सम्पूर्ण विश्व परमार्थतः प्रकाशस्वरूप ही है तो पृथिवी-प्रभृति की सत्ता ही नहीं होगी—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उसी प्रकाश की स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा भेद भी सदैव भासित होता है। अतः भिन्न वस्तुओं में एकरूप से अनुगतरूपेण भासित होने वाला तत्त्व (पृथिव्यादि) ही होगा।

कार्यकारणभावस्य द्वैविध्याभिधानम्

तत्रैषां सर्वतत्त्वानां कर्तेशानः परः शिवः ।
कार्यकारणभावोऽपि शिवेच्छापरिकल्पितः ॥२६७॥
ज्ञातव्योऽत्र विशेषेण द्विविधः शास्त्रसम्मतः ।
ईश्वरेच्छानियत्यादिकल्पितोऽकल्पितस्तथा ॥२६८॥

दो प्रकार के कार्यकारणभाव का निरूपण

समस्त तत्त्वों का कर्ता ईशान अर्थात् परमशिव है। शिवेच्छा से परिकल्पित द्विविध कार्यकारणभाव को विशेषरूप से समझना चाहिये। प्रथम कार्यकारणभाव ईश्वरेच्छापूर्वक नियति आदि से कल्पित तथा द्वितीय इनसे अकल्पित है ॥२६७-२६७॥

शिवादिधरणीं यावत् प्रथनं यत् प्रभोरिदम् ।
स्वतन्त्रस्य स्वभावेन स ज्ञेयः परमार्थिकः ॥२६९॥
स्वरूपानुगतं सिद्धं नियत्यादिनियन्त्रितम् ।
यावत्येव यदा यत्र पौर्वापर्य्यावभासनम् ॥२७०॥
तावत्येव तदा तत्र स्वीकार्यः कल्पितोऽप्ययम् ।
यतोऽङ्कुरो भवेत् क्वापि योगीच्छामात्रतः पुनः ॥२७१॥
बीजाच्चापि पुनः क्वापि स्वप्नादौ तु घटादितः ॥२७२।१॥

शिव का स्वभावतः स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा "शिव" से "पृथिवी" तत्त्व पर्यन्त प्रथन ही पारमार्थिक अर्थात् अकल्पित है। जितने अंश में, जिस काल और देश में स्वरूपानुगत, सिद्ध, नियति-आदि से नियन्त्रित पौर्वापर्य का अवभासन होता है, उतने अंश में, उस काल और देश में स्वीकार्य कार्यकारणभाव कल्पित है। क्योंकि कहीं योगीच्छा-मात्र से, कहीं बीज से और कहीं (स्वप्नादि में) घट-पटादि से ही अङ्कुर की उत्पत्ति देखी जाती है। अतएव कल्पित कार्यकारणभाव में यावत्-तावत् शब्दों का उल्लेख किया गया है।

पारमार्थिक एवायं कल्पितोऽप्यस्ति वस्तुतः ॥२७२।२॥

परमार्थादृते सत्ता घटते कल्पितस्य न ॥२७३।१॥

कल्पित कार्यकारणभाव भी वस्तुतः पारमार्थिक ही है, क्योंकि परमार्थ से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता सम्भव ही नहीं है ॥२७२।२-२७३।१॥

गोमयादपि कीटाच्च योगीच्छातोऽपि वृश्चिकः ॥२७३।२॥

क्वचिदुत्पद्यते मन्त्रादौषधाच्च यतस्ततः।

कल्पितत्वाच्च शास्त्रेऽपि भेदोयः परिदृश्यते ॥२७४॥

कार्यकारणभावे स तत्त्वानां सङ्गतो न न ॥२७५।१॥

यतः गोबर से, कीड़े से, योगीच्छा से और कहीं पर औषधि से ही कीड़े उत्पत्ति होती है, अतः कार्यकारणभाव कल्पित ही है।

अतएव शास्त्रों में तत्त्वों के कार्यकारणभाव में जो भेद पाया जाता है वह भी कल्पित होने से सङ्गत ही है ॥२७३।२-२७५।१॥

अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं जडस्य नोपपद्यते ॥२७५।२॥

स्वीकृता लक्षणा तस्मात् तिङर्थकृतिवादिना ॥२७६।१॥

जड़ वस्तु परतन्त्र होने से कर्ता नहीं हो सकता। अतएव तिङ् का यत्न-रूप अर्थ मानने वाले नैयायिक "रथोगच्छति" इत्यादि वाक्यों में लक्षणा-वृत्ति द्वारा व्यापार रूप तिङर्थ को स्वीकार करते हैं ॥२७५।२-२७६।१॥

ईश्वरकर्तृत्वादेव लोकानां कर्तृत्वाभिमानः

वस्तुतः सर्वकर्त्तृत्वमीश्वरस्यैव वर्तते ॥२७६॥
तन्महिम्नैव लोकानामभिमानो भवत्ययम् ।
अहं करोमि कृतवान् क्रियतेऽनेन वा कृतम् ॥२७७॥
इत्यादिव्यवहारोऽयं लोके सर्वत्र मायिकः ॥२७८।१॥

वस्तुतः ईश्वर ही कर्ता है । लोगों की कर्तृता आभिमानिक ही है ।

ईश्वर ही वस्तुतः सर्वकर्तृत्वशाली है। अर्थात् वही कार्यमात्र को करनेवाला है। उसकी महिमा से ही लोगों को अभिमान होता है कि "मैं करता हूं," "मैंने किया," "यह करता है" "इसने किया"। पूर्वोक्त समस्त व्यवहार लोक में सब जगह मायिक ही है ॥२७६।२-२७८।१॥

मायाशक्तिः शिवस्यैव भेदाभासनरूपिणी । २७८॥
यया वस्त्वन्यथा भाति स्वस्वातन्त्र्यजिघांसया ॥२७९।१॥

भेद का आभास दिलानेवाली माया, शिव की शक्ति है। अपने स्वातन्त्र्य के विनाश द्वारा यह माया वस्तु को अन्यथा भासित करती है ॥२७८।२-२७९।१॥

शिव एव पञ्चशुद्धाध्वरूपेण विभज्यते

चिदानन्दैषणाज्ञानक्रियाशक्तिसुनिर्भरः ॥२७९।२॥
स्वभावाद् भासयन्नस्ति स्वरूपानधिकं क्रमम् ।
शिवशक्तिसदेशानविद्यातत्त्वात्मनात्मना ॥२८०॥
शिवः स्वतन्त्रदृग्रुपः पञ्चधा प्रविभज्यते ।
शाम्भवेषु च शाक्तेषु मान्त्रमाहेश्वरेषु च ॥२८१॥
मान्त्रेश्वरेषु मान्त्रेषु वर्गेषु क्रमशः पृथक् ।
शिवः शक्तिः सदेशान ईशो विद्यापि पञ्चमी ॥२८२॥
शुद्धाध्वा पञ्चकमिदं शिवेच्छैवात्र कारिका ॥२८३।१॥

शिव ही पाँच शुद्धाध्वा रूपों में विभाजित होता है।

चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—शक्ति से परिपूर्ण, स्वतन्त्र-ज्ञानरूप शिव ही स्वरूप से अनतिरिक्त क्रम का स्वभावतः अवभासन करता रहता है।

स्वतन्त्रदृग्रूप शिव ही—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या-रूप से क्रमशः शाम्भव, शाक्त, मान्त्रमाहेश्वर, मान्त्रेश्वर और मान्त्र—इन पाँच वर्गों में विभाजित होता है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या—ये पाँच "शुद्धाध्वा" कहलाते हैं। ये शिवेच्छा से ही कल्पित हैं ॥२७९।२-२८३।१॥

ब्रह्मादिषट्कारणानामतत्त्वाभिधानम्

ब्रह्मविष्णुहरेशान सुशिवानाश्रिताश्च ये ॥२८३।२॥
षट्ककारणनामानस्ते न तत्त्वपदाभिधाः।
किन्त्वान्तरदशोद्रेकात् सादाख्यं तत्त्वमादितः ॥२८४॥
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्।
इत्युक्तेरान्तरदशोद्रिक्तत्वादिकमेव हि ॥२८५॥
तत्त्वं न तु तदीशानो भूमेरीशो नृपो यथा ॥२८६।१॥

ब्रह्मा विष्णु आदि कारणों की अतत्त्वरूपता का उपपादन

ब्रह्मा, विष्णु, हर, ईशान, सुशिव और अनाश्रित—छः कारण-संज्ञक हैं। ये तत्त्व नहीं हैं।

शिव के आन्तर दशा के उद्रेक से आदि में "सदाशिव" तत्त्व और बहिर्भाव के पश्चात् ईश्वर "तत्त्व होते हैं"—ऐसा आचार्य उत्पलदेव ने कहा है। इन तत्त्वों के स्वामी ब्रह्मा-विष्णु आदि तत्त्व नहीं कहलाते। यथा—भूमि का स्वामी राजा तत्त्व नहीं कहलाता है ॥२८३।२-२८६।१॥

कारणत्वं चित एव, न जडस्य

कार्यकारणभावो यः स जडे नोपपद्यते ॥२८६।२॥
किन्तु चिद्रूप एवेति कर्ता सर्वत्र चेतनः ॥२८७।१॥

चेतन की ही कर्तृता सम्भव है, जड़ की नहीं

कार्यकारणभाव चेतन में ही उपपन्न हो सकता है, जड़ में नहीं। अतएव सर्वत्र चेतन ही कर्ता होता है ॥२८६।२-२८७।१॥

अन्तर्बहिरात्मतया भगवतो भानमेव कालक्रमः क्रमाभासरूपक्रिया-धर्मत्वाच्च भगवतो धर्मित्वम्

स्वप्रकाशविमर्शैकपरमार्थवपुर्विभुः ॥२८७।२॥
अन्मरात्मतया भाति बहिरात्मतयापि च।
इत्थमुत्थापयन् देवः कालक्रममनारतम् ॥२८८॥
स्वयं सन् धर्मिरूपोऽयं धर्मत्वेन पुनः क्रियाम्।
स्वीकरोति क्रमाभासां तामन्तर्बहिरात्मताम् ॥२८९॥

अन्तर और बाह्य रूप से शिव का प्रथन ही कालक्रम है और क्रमाभास रूप क्रिया-धर्म वाला "शिव" धर्मी कहलाता है

स्वप्रकाशस्वरूप विमर्शैकविग्रह व्यापक शिव ही आन्तर तथा बाह्यरूप से भासित होता है। इस प्रकार आन्तर-बाह्यरूप भासन से अहर्निश कालक्रम को उत्थापित करता हुआ क्रीडाशील शिव स्वयं धर्मीरूप बन जाता है और धर्मरूप से क्रिया को स्वीकारता है। क्रमाभासरूप क्रिया ही आन्तर और बाह्यरूपता है।

परस्पराविभिन्नयोर्ज्ञानक्रिययोरेव सर्वरूपत्वम्

अन्योन्यमवियुक्ते हि प्रभोर्ज्ञानक्रिये इमे।
वपुषी सर्वभावानां ते एव पारमार्थिके ॥२९०॥
अतः श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तं देवेन सुस्फुटम्।
इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना ॥२९१॥
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्त्तृता क्रिया ॥२९२।१॥

परस्पर अवियुक्त ज्ञान और क्रिया की सर्वरूपता का अभिधान

शिव के परस्पर अवियुक्त अर्थात् तादात्म्यापन्न ज्ञान और क्रिया ही समस्त पदार्थों के वास्तविक शरीर हैं। अतएव "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा" में

आचार्य उत्पलदेव ने स्पष्टतया कहता है—"इस प्रकार घटपटाद्याभासात्मक जगद्रूप में स्थित होने की इच्छा वाले शिव की इच्छा ही हेतुता कर्तृता और क्रिया है" ॥२९०-२९२॥

भावनाद्युपयोगि भासमानमपि शिवतत्त्वम्

अत उपदेशविभास्यमानमवभासस्वरूपमपि शिवतत्त्वम्॥२९२।२॥

भावनाद्युपयोगितयोक्तं क्रियाधृतप्रपञ्चनस्वातन्त्र्यम् ॥२९३।१॥

भावना-आदि में शिवतत्त्व की उपयोगिता का अभिधान

क्रिया-शक्ति द्वारा प्रपञ्चन (विस्तार) स्वातन्त्र्य धारण करने वाला प्रकाशरूप शिवतत्त्व भी उपदेश द्वारा विभासित होने से भावना-आदि में उपयोगी बताया गया है ॥२९३॥

शुद्धसर्गेऽपि अन्तर्बहीरूपता

ऐश्वरे शुद्धसर्गेऽपि चास्त्यन्तर्बहिरूपता ॥॥२९३।२॥

चिन्मात्रापेक्षया ह्यत्र मायीये त्वीशतः पुनः ॥२९४।१॥

शुद्धसर्ग में भी आन्तर-बाह्य-रूपता की स्थिति का कथन

ईश्वरीय शुद्धाध्वा में भी आन्तर और बाह्यरूपता रहती है। शुद्ध-सर्ग में चिन्मात्र की अपेक्षा से और मात्रीय सर्ग में ईश्वरापेक्ष आन्तर और बाह्य-रूपता होती है ॥२९४॥

शिवतत्त्वभित्तिसंलग्नत्वमेव सर्वभावानाम्

वपुः सर्वपदार्थानां शिवतत्त्वं विभासितम् ॥२९४।२॥

भासते सर्वभावोऽयं यतस्तद्भित्तिसंस्थितः।

आगमस्य समस्तस्य तात्पर्यार्थस्तदेव हि ॥२९५॥

अतोऽग्रे सर्वतत्त्वानां कीर्तनं तस्य राजते।

स्वातन्त्र्यात्तु निजं रूपं बोद्धृधर्मादविच्युतम् ॥२९६॥

उपदेशतदावेश परमार्थत्व सिद्धये।

बोध्यतामानयन् देवः स्फुटमेव विभाव्यते ॥२९७॥

अत एवोत्पलेनापि प्रोक्तेशस्यापि निर्मितिः ।

स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ॥२९८॥

प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥२९९।१॥

समस्त वस्तु की शिव तत्त्व-संलग्नता का अभिधान

विभासित शिवतत्त्व ही समस्त पदार्थों का शरीर है क्योंकि शिव-तत्त्वरूप भित्ति पर ही स्थित होकर समस्त पदार्थ भासित होते हैं। समस्त आगमों का तात्पर्यार्थ शिवतत्त्व ही है। अतएव तत्त्वों में प्रथमतया शिवतत्त्व का कथन किया गया है। उपदेश और शिवतत्त्वा-वेशरूप परमार्थ सिद्धि हेतु बोद्धता से अविच्युत निज रूप को स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा बोध्यरूपता प्रदान करता हुआ शिवतत्त्व स्पष्टरूपेण भासित होता है। अतएव आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वर का निर्माण बताया है—

"शिव", स्वस्वातन्त्र्य से—"मैं ईश्वर रूप से प्रगट हूँ"—इत्यादि संकल्पों द्वारा स्वातन्त्र्य-युक्त स्वात्मा का निर्माण कर व्यवहार कराता है ॥२९५-२९९।१॥

सदाशिवेश्वरतत्त्वोपक्रमः

चित्तत्त्वस्याचलस्यैव चलनाभासपूर्वकम् ॥२९९।२॥

किञ्चिच्चलनभं तत्त्वं सदाशिवेश्वरोभयम् ॥३००।१॥

सदाशिव और ईश्वर का स्वरूप

अचल चेतन तत्त्व का ही चलनाभासपूर्वक किञ्चित्-चलन सदृश तत्त्व "सदाशिव" और "ईश्वर" है ॥३००॥

मन्त्रमहेश्वरवर्गः

मन्त्रमहेश्वरनामा शुद्धचैतन्यवर्गोऽस्ति ॥३००।२॥

प्रतिबिम्बतया यस्य भावचक्रमिदं समम् ।

सृष्टौ च ध्यामलप्रायमुन्मीलित सुचित्रभम् ॥३०१॥

ध्वंसोन्मुखं तु संहारे मनोराज्यमिव स्थितम् ॥३०२।१॥

मन्त्रमहेश्वरवर्ग का स्वरूप

शुद्धचैतन्यवर्ग मन्त्रमहेश्वर नाम से जाना जाता है जिसके प्रतिबिम्बरूप से समस्त-पदार्थसार्थ भासित होते हैं। जैसे आरम्भ में चित्र अस्पष्ट रहता है वैसे ही सृष्टिकाल में वस्तु धुंधलापन रूप में अस्पष्टतया प्रतीत होते हैं। जैसे स्वप्न अथवा मनोराज्य में वस्तुजात भासित होता है वैसे ही संहार में समस्त वस्तु ध्वंसोन्मुख दीखती है ॥३०१-३०२॥

तस्य चैतन्यवर्गस्य भावचक्रे कनीयसि ॥३०२।२॥

यत्तथा प्रथनं तद्धि तत्त्वं सदाशिवात्मकम्।

चिद्विशेषात्मसामान्यं विमर्शिन्यां विनिश्चितम् ॥३०३॥

मंत्र-महेश्वर-संज्ञक चैतन्यवर्ग का अत्यन्त सूक्ष्म-पदार्थ-समूह में उपर्युक्त प्रकार से प्रथन ही सदाशिव तत्त्व है। यह चिद्विशेषरूप सामान्य है—ऐसा "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी" में कहा गया है ॥३०४।१॥

मन्त्रेश्वरवर्गः

मन्त्रेश्वरादिवर्गस्य बहिर्वेद्यमिव स्थितम्।

पूर्णचित्रप्रतीकाशं वेद्यं तत्रास्ति तस्य या ॥३०४॥

स्थित्यवस्था तदेवास्तीश्वरतत्त्वमपि स्फुटम्।

तस्मिन्नेवेश्वरे तत्त्वे संस्थिताः परमेश्वराः ॥३०५॥

शिवेच्छानुमताः सर्वे जगतः प्रभविष्णवः ॥३०६।१॥

मन्त्रेश्वर वर्ग का निरूपण

मन्त्रेश्वर-वर्ग में बाह्य-प्रमेय के समान पूर्णचित्र की भाँति वेद्यपदार्थ भासित होते हैं। मन्त्रेश्वर वर्ग में स्फुट वेद्य की स्थित्यव्यवस्था ही ईश्वर तत्त्व है। इसी ईश्वर तत्त्व में शिवेच्छा के अनुगामी, सांसारिक-कार्य-सम्पादक परमेश्वर-संज्ञक अधिकारीगण स्थित हैं ॥३०४।१-३०६॥

अनयोस्तत्त्वयोरीशौ मतौ सदाशिवेश्वरौ ॥३०६।२॥

ययोरुपासना चापि विष्णवादेरिव सिद्धिदा ॥३०७।१॥

इन दोनों तत्त्वों (सदाशिव और ईश्वर) के स्वामी सदाशिव और ईश्वर हैं। इनकी उपासना विष्णु-प्रभृति की उपासना की तरह सिद्धि-प्रदा होती है ॥३०६।१-३०७।२॥

अनन्योन्मुखो विमर्शोऽहम्, अन्योन्मुखविमर्श इदम्

अस्त्यनन्योन्मुखः कश्चित् प्रकाशः सविमर्शकः ॥३०७।२॥

अहमित्यात्मक इदमित्यप्यन्योन्मुखः पुनः ॥
शिवभट्टारके पूर्वोऽपरो विद्येश्वरेषु च ॥३०८॥

अनन्योन्मुख विमर्श की अहम्-रूपता और अनन्योन्मुख विमर्श की इदम् रूपता का अभिधान

वेद्योन्मुख से भिन्न, विमर्श-युक्त प्रकाश—"अहम्"—इत्याकारक है तथा वेद्योन्मुख, विमर्श-युक्त प्रकाश "इदम्"—इत्याकारक है। अह-मात्मक विमर्श "शिवभट्टारक" में और इदमात्मक विमर्श विद्येश्वरगण में होता है ॥३०७।२।३०८॥

वस्तुतोऽयमिदमपि विश्राम्यत्यहमात्मनि ।
इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ॥३०९॥

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ।
इत्युक्तमुत्पलेनैवाजडप्रमातृसाधने ॥३१०॥

वस्तुतः इदमात्मक विमर्श भी अहमात्मक विमर्श में ही विश्रान्त होता है। "अजडप्रमातृसिद्धि" ग्रन्थ में आचार्य उत्पलदेव ने कहा है—"इदमात्मक परिच्छिन्न जड-विमर्श की कृतार्थता (सफलता) तभी है जब वह अहमात्मक स्वस्वरूप में विश्रान्त होता है" ॥३०९।३१०॥

सदाशिवेश्वरविमर्शः

इदमंशं गुणीकृत्य ग्राहके चाहमात्मनि ।
सदाशिवविमर्शोऽस्ति ध्यामलप्रायवस्तुकः ॥३११॥

अहमित्यस्य प्रक्षेपः स्फुटीभूतेदमात्मनि ।
यत्रैश्वरो विमर्शः सः सामानाधिकरण्यतः ॥३१२॥

सदाशिव और ईश्वर के विमर्श

ग्राहकस्वरूप सदाशिव विमर्श में अहम्-अंश प्रधान और इदम्-अंश गौण है। अतएव वेद्य पदार्थ धूमिल, अस्पष्टाकारतया अर्थात् इदन्ता रूप से भासित होते हैं। स्फुट इदमात्मक विमर्श में अहम्-अंश का प्रक्षेप करने से ईश्वर-विमर्श होता है। इस प्रकार ये दोनों विमर्श क्रमशः अहमिदम् और इदमहम् रूप सामानाधिकरण्य से उपपन्न होते हैं ॥३११।३१२॥

ग्राह्यग्राहकरूपे तु भिन्नाधिकरणात्मनि ।
विमर्शौ पृथगेवास्तस्तौ च मायाप्रमातरि ॥३१३॥

इदन्ता के स्फुट होने पर ग्राहक में "यह मैं हूँ" और ग्राह्य में "यह अमुक वस्तु है" ऐसा पृथक्-पृथक् विमर्श होता है। ये दोनों विमर्श मायाप्रमाता में भी होते हैं ॥३१३॥

उन्मेषनिमेषयोः स्वरूपम्

यच्च विश्वस्य चैतन्यसामर्थ्यं तत्त्वमैश्वरम् ।
बाह्यत्वस्फुटताकारि तदुन्मेषदाभिधम् ॥३१४॥
एवं निमेषशब्देन यच्चान्तारूपमस्फुटम् ।
उत्तिष्ठतीव तत्प्रोक्तं तत्त्वं सदाशिवात्मकम् ॥३१५॥

उन्मेष और निमेष के स्वरूप

विश्व चैतन्य रूप ईश्वर-तत्त्व बाधता की स्फुटता का विधायक है अतः उन्मेष पदवाच्य है। एवं इदन्ता की अप्रधानता और आन्तर-मान अहम् की प्रधानता होने से सदाशिवतत्त्व निमेषपदवाच्य है ॥३१४-३१५॥

स्पन्दनस्य स्वरूपम्

इत्येतदुभयं तत्त्वं चित्तत्त्वस्याचलस्य वै ।
चलनाभासनेनेषच्चलनात्मकमेव हि ॥३१६॥
शुद्धस्पन्द इति ख्यातं स्पन्दः कुत्रापि प्रोच्यते ।
गुणादिस्पन्दनिष्पन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ॥३१७॥

लब्धात्मलाभा इत्यत्र स्पन्दशास्त्रे महात्मना
गुरुणा वसुगुप्तेन सामान्यस्पन्द उच्यते ॥३१८॥

स्पन्द का स्वरूप

अतः सदाशिव और ईश्वर दोनों तत्त्व अचल चित् तत्त्व के चलनाभास द्वारा ईषच्चलन रूप ही हैं। इन्हें "शुद्धस्पन्द" और "स्पन्द"— शब्दों से भी जाना जाता है। गुणादि का स्पन्द-निःष्पन्द, सामान्य स्पन्द के आश्रयण से आत्मलाभ प्राप्त करते हैं—ऐसा करते हुए गुरुदेव महात्मा वसुगुप्त ने "स्पन्द-कारिका" में "ईषत् स्पन्द" को "सामान्य स्पन्द" नाम से कहा है ॥३१६।३१८॥

सर्वतत्त्वानां शिवशक्तिस्वरूपत्वम्

इति सर्वाणि तत्त्वानि स्पन्दो भागवतो यतः ।
शक्तिश्च शक्तिमांश्चापि द्वे तत्त्वे समवस्थिते ॥३१९॥
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ।
इत्यागमेन सुस्पष्टमेषोऽर्थः प्रतिपादितः ॥३२०।
इत्थमीश्वरसादाख्यतत्त्वद्वयस्वरूपकम्
तत्त्वं समस्तमेवेदं शिवतत्त्वमिति स्फुटम् ॥३२१॥

समस्त तत्त्वों की शिवशक्तिरूपता का अभिधान

इस प्रकार समस्त तत्त्व भागवत स्पन्द ही है। अतः शक्ति और शक्तिमान्—ये दो ही तत्त्व व्यवस्थित हैं। "समस्त जगत् महेश्वर की शक्ति है और शिव अनन्तशक्तिसम्पन्न है"—इस आगम से उपर्युक्त बात समर्थित होती है।

इस प्रकार ईश्वर और सदाशिव—दो तत्त्वों से अभिन्नसमस्त तत्त्व, शिवतत्त्व ही है—यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है ॥३१९।३२१॥

निमेषस्य सदाशिवतत्त्वस्फोरणम्

ननु विश्वे निमिषितेऽहन्तैवैकरसाघना ।
शिष्टा सा शिवता वाच्या का सदाशिवतोच्यते ॥३२२॥

तस्मादुन्मेषरूपस्य भिन्नतास्तु कथञ्चन ।
निमेषो व्यतिरेकेण निर्दिष्टस्तु प्रभोः कथम् ।।३२३।।

निमेष की सदाशिवतत्त्वरूपता का रहस्योद्घाटन

शङ्का—विश्व के निमिषित हो जाने पर एकरस चिद्घन अहन्ता ही अवशिष्ट रह जाती है, अतः इस अवस्था को "शिवता" कहना चाहिये। "सदाशिवता" पृथक् क्यों कहते हैं? उन्मेषरूप ईश्वर की शिव से भिन्नता कथंचित् उपपन्न हो सकती है किन्तु निमेष को शिव से पृथक् कैसे निर्दिष्ट किया गया? ।।३२२।२-३२४।१।।

शृणु विश्वनिमेषोऽयमिदन्तास्पर्श एव हि ।
किञ्चिद्रूपं त्वया वाच्यं नाशो नास्त्येव वस्तुनः ।।३२४।।

न च विश्वं शिवपदे परमाक्षरविग्रहे ।
इत्युक्तं प्रत्यभिज्ञायां तथैवास्त्यागमोऽप्ययम् ।।३२५।।

स्वभावेनैव शान्तात्मा घोरः संसार एव हि ।
स यस्मान्नेष्यते पत्युरघोरहृदयस्ततः ।।३२६।।

समाधान—सुनिये, यह विश्वनिमेष भी इदन्ता-स्पर्श-शून्य नहीं है क्योंकि वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं होता। अतः निमेष की भी किञ्चिद् रूपता को स्वीकारना ही होगा। इसके विपरीत परम अविनाशी शिव में विश्व की सत्ता नहीं है—यह बात "ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा" में बतायी गई है।

आगम में भी कहा गया है—"संसार घोररूप अर्थात् भयंकर और मलिन है। शान्त-स्वभाव शिव में मालिन्य नहीं है अतः वह "अघोरहृदय" है ।।३२४।३२६।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाया अधिकारेऽन्तिमेऽप्यदः ।
महामाहेश्वराचार्यो गुप्तोऽभिनव उक्तवान् ।।३२७।।

न प्रमेयकथा काचिदस्ति श्रीपरमेश्वरे ।
तत्त्वौघः सर्वथा तत्र लीनश्चिद्रूपतां श्रितः ।।३२८।।

"ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" के आगमाधिकार में भी महामाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने बताया है कि परमशिव में प्रमेयरूपता की चर्चा भी नहीं है; प्रत्युत उसमें सारे तत्त्व विलीन होकर चिद्रूप बन जाते हैं ॥३२७।३२८॥

सेयं संवित् स्वभावेन स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा ।
नैसर्गिकपरामर्शरूपस्वात्मचमत्कृतिः ॥३२९॥

चिदानन्दघनावस्था परमाक्षरविग्रहा ।
अनुत्तरस्वरूपस्य ज्ञेया विश्वमयस्य च ॥३३०॥

पूर्णाहम्भावनिष्ठस्य योगिनोऽपि शिवात्मनः ।
च्युतप्रमेयवृत्तान्ता सर्वोत्तीर्णा दशा त्वियम् ॥३३१॥

यह संविद् अनुत्तर शिव की स्वरूपभूता चित्स्वरूपा आनन्दघनावस्था है अतएव अविनाशिनी है। पूर्ण अहम्भाव में स्थित विश्वमय शिवस्वरूप योगी की संविद् भी आनन्दरूप, प्रमेयवृत्तान्त वर्जित, अतएव सर्वोत्तीर्ण अवस्था है ॥३२९।३३१॥

प्रोन्मीलितं तु करणं विकल्पे वाऽविकल्पके ।
तत्र प्रमेयवृत्तान्तोस्ति नयत्र निमीलितम् ॥३३२॥

विकल्प अथवा अविकल्प अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण उन्मीलित रहते हैं अतः उसमें प्रमेयवृत्तान्त रहता है। सर्वोत्तीर्ण अवस्था में करण के निमीलित रहने से प्रमेयवृत्तान्त नहीं रहता ॥३३२॥

अतोऽन्तरित्यहन्तायां स्थिता ध्यामलतेव या ।
सा विपरिवर्त्तमाना निमेष इति कथ्यते ॥३३३॥

अतः "अन्तः" अर्थात् "अहन्ता" में स्थित ध्यामलता विपरिवर्तित होने से जिस सूक्ष्म रूप में मौजूद रहती है वह निमेष कहलाती है ॥३३३॥

न तदा व्यवहारस्य योग्यता विश्ववर्त्तिनी ।
सदाशिवदशायां हि वेद्यानानेकवर्त्तिनः ॥३३४॥

यतोऽसाधारणतया प्रत्येकं निजसंविदा ।
गृह्णन्ति वेदका वेद्यान् व्यवहारपदच्युतान् ॥३३५॥

निमेषावस्था में सांसारिक व्यवहार की योग्यता नहीं रहती है।

सदाशिव दशा में वेद्य अनेकवर्ती नहीं होते क्योंकि असाधारणतया स्वसंविद् द्वारा व्यवहार पद से च्युत वेद्य का ग्रहण प्रत्येक वेदक अकेला ही करते हैं ॥३३४।३३५॥

सर्ववेद्या व्यहारपदस्था विषया मताः ।
प्रलीना ध्यामलाः प्रोक्ता एकबुद्धिस्थिताश्चये ॥३३६॥

जो समस्त जन-वेद्य अतएव व्यवहार पद में स्थित हैं, उन्हें विषय कहा जाता है और प्रलीनवेद्य के अतिसूक्ष्म संघात को ध्यामल कहा जाता है क्योंकि वह एक बुद्धि-स्थित होता है ॥ ३३६ ॥

तत्सामानाधिकरण्यप्रथैवाहमिदं ननु ।
सदाशिवपदं ज्ञेयं यत्रास्फुटमिदं जगत् ॥३३७॥

या चेदन्तेश्वरस्थित्यां स्फुटत्वेन विभासिता ।
सम्पद्यतेऽस्फुठा साऽत्र परा शान्त्युपलक्षिता ॥३३८॥

अतोऽत्र वेद्ययोगेऽपि शिवतोन्मज्जनस्थितौ ।
सदाशिवत्वमियुक्तं कलनाऽत्र न भेदगा ॥३३९॥

सामान्य इदन्तारूप ध्यामल वेद्य के साथ सामानाधिकरण्य का प्रथन--"अहमिदम्" ही सदाशिवपद हैं। इसमें वेद्य-जात अस्फुट रहता है। जो इदन्ता ईश्वर-दशा में स्फुटतया भासित होती है वह सदाशिव-दशा में परा-शान्ति से उपलक्षित अस्फुट-स्वरूप हो जाती है। सदाशिव-दशा शिवता की उन्मज्जन स्थिति है। वेद्य-सम्बन्ध होने से इसे सदाशिवावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में भेद का आकलन नहीं होता ॥३३७-३३९॥

ग्राह्यग्राहकरूपाणां भावानां प्रलयश्च सा ।
अत्र मायीयरूपाणां प्रध्वंसः सर्वथा मतः ॥३४०॥

यह ग्राह्य और ग्राहक रूप समस्त वेद्य की प्रलयस्थितिरूपा अवस्था है। इस दशा में मायिक रूप का सर्वथा ध्वंस माना गया है ॥३४०॥

अतोऽव्यवहरणीयत्वाद्धेतोरेव तदोच्यते ।
विश्वं प्रलीनमिति न सर्वथाऽसत्त्वतः पुनः ॥३४१॥

अतः इस अवस्था में व्यवहार-योग्यता न रहने से "विश्व प्रलीन हो जाता है"—ऐसा कहा जाता है, न कि वेद्य के सर्वथा अभाव हो जाने से ॥३४१॥

मायातत्त्वे तु भूतानि स्थाप्यन्ते प्रलये पुनः ।
प्रभुशक्तिस्वरूपं तत् संस्पृश्येदं सदाशिवे ॥३४२॥
विश्राम्यन्त्यत एवायं निमेषोऽस्ति सदाशिवः ।
इति युक्ता निमेषस्योक्ता सदाशिवात्मता ॥३४३॥

प्रलय-काल में समस्त भूत-भुवन प्रभृति प्रथमतः मायातत्त्व में लीन होते हैं तदनन्तर प्रभुशक्तिस्वरूप इदन्ता को प्राप्त कर सदाशिवावस्था में विश्रान्त होते हैं अतः यह निमेष ही सदाशिव है ।

इस प्रकार विश्व-निमेष को सदाशिव कहना युक्ति-युक्त ही है ॥३४२।३४३॥

सृष्टेराद्यन्तयोः सदाशिवतत्त्वस्थितिः

सृष्टेरस्फुटता यास्ति सा सदाशिवता मता ।
अतः सृष्टिप्रलययोः कोटचोराद्यन्तयोः स्थिता ॥३४४॥
सर्गद्वयोऽपि स एष केवलं परमाद्भुतम् ।
तस्यैवानुत्तराख्यस्य शूलिनः शक्तिजृम्भणम् ॥३४५॥

सृष्टि के आदि और अन्त में सदाशिवतत्त्व की स्थिति का अभिधान

सृष्टि की अस्फुटता ही सदाशिवावस्था है। इस प्रकार सदाशिवता सृष्टि के आदि और अन्त में स्थित रहती हैं। सदाशिव और ईश्वर दोनों सर्ग, अनुत्तर शिव के परम अद्भुत शक्ति-स्फार-मात्र ही हैं ॥३४४-३४५॥

एकास्या एव शक्तेर्ज्ञानक्रियात्मकत्वम्

अतः सा शक्तिरेवैका ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
यदाऽन्तर्भासमानेन स्वभावेनास्ति जृम्भिता ॥३४६॥

बहिर्भावस्वरूपेण क्रमोपबृंहितेन च ।
उक्ता विमर्शदार्ढ्येन क्रिया सैवेश्वरात्मिका ।।३४७।।

एक ही शक्ति की ज्ञान और क्रियारूपता का अभिधान

अतः प्रभु की एक ही शक्ति अन्तर्भासमानता रूप में विजृम्भित होने से "ज्ञानशक्ति" और क्रमशः बढ़ने वाली, बहिर्भावरूप में विमर्श की दृढ़ता होने से ईश्वर रूप "क्रिया शक्ति" कहलाती है ।।३४६-३४७।।

शक्तितत्त्वं शक्तिविद्ययोः शिव सदा शिवेश्वरव्यापारत्वं च

शिवस्य बहिरौन्मुख्यं व्यापारः शक्तिरुच्यते ।
विद्या तथैव व्यापारः सादाख्येश्वरयोरपि ।।३४८।।

शक्ति तत्त्व निरूपण पुरः सर शक्ति की शिव व्यापाररूपता और विद्या की सदा शिव एवं ईश्वर व्यापाररूपता का अभिधाम

शिव की बहिरुन्मुखतास्वरूप व्यापार "शक्ति" तथा सदाशिव और ईश्वर का व्यापार "सद्विधा" कहलाती है ।

विद्यातत्वम्

विद्या नाम च तत्तत्त्वं सदाशिवेश्वरोभयोः ।
यः स्वरूपादभिन्नत्व परामर्शो हि विद्यते ।।३४९।।

विद्या-तत्व का निरूपण

सदाशिव और ईश्वर के स्वरूप से अभिन्नतया इदमंश का परामर्श शुद्ध-विद्या-तत्त्व है ।।३४९।।

सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियो ।
नात्राधिकरणं किन्तु तृतीयं सम्भवेत् परम् ।।३५०।।

"अहम्"- बुद्धि और "इदम्"- बुद्धि का सामाना धिकरण्य ही शुद्धविद्या हैं, किन्तु इन दोनों बुद्धियों का अधिकरण-स्वरूप तृतीय वस्तु सम्भव नहीं है ।।३५०।।

इदमामृश्यमानानां वेद्यानां बोधसारता ।
योचिताऽऽमृश्यते सात्र तस्माच्छुद्धेति गीयते ।।३५१।।

इदम् शब्द से जिनका आमर्शन होता है; उन वेद्य-विषयों की जो अहंरूपा बोधसारता है; उसका भान होने से विद्या की शुद्ध संज्ञा दी गई है ॥३५१॥

अपरत्वमपूर्णत्वमन्याकाङ्क्षित्वमेव यत् ।
इदमित्युच्यते तत्तु पूर्णत्वमहमित्यदः ॥३५२॥

तत्त्वद्वयेऽपि तावंशौ स्त एवेति विनिश्चितम् ।
पुरैवातोऽस्ति विद्येयं शक्तिरेव तयोर्द्वयोः ॥३५३॥

अन्य-साकाङ्क्ष होने से अपरत्व अर्थात् अपूर्णता ही 'इदम्" कहलाती है और पूर्णता ही "अहम्" कहलाती है। सदाशिव और ईश्वर—दोनों तत्त्वों में अहम् और इदम्- दोनों ही अंश पूर्वापरीभाव से स्थित रहते हैं—यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः शुद्धविद्या, सदाशिव और ईश्वर दोनों की शक्ति है ॥३५२-३५३॥

तत्र तत्त्वस्वरूपं तु वेद्यभावस्थिता दशा ।
या तद्भासकसंशुद्धवेत्तृवेद्यार्थसाधना ॥३५४॥

तद्वेद्यनिष्ठ संवित्तिदशा विद्या सतां च सा ।
अत्र सन्ति प्रमातारो महामन्त्रेश्वरादयः ॥३५५॥

यहाँ वेद्यभाव में स्थित वेद्य-भासक शुद्ध वेत्ता के वेद्य-वस्तु का साधनरूप तद्वेध में विद्यमान संवेदन-दशा "शुद्ध-विद्या" है। उपर्युक्त दोनों तत्त्वों में महामन्त्रेश्वर-प्रभृति प्रमाता स्थित हैं ॥३५४-३५५॥

हृदये प्रत्यभिज्ञायाः क्षेमेण कथितं त्विदम् ।
तत्त्वे सदाशिवे सन्ति स्थिता मन्त्रमहेश्वराः ॥३५६॥

मन्त्रेश्वराः स्थितास्तत्व ईश्वरे तदधिष्ठिता ।
विद्यातत्वे स्थिता मन्त्रा मातारो भदेदर्शिनः ॥३५७॥

"प्रत्यभिज्ञा-हृदय" में क्षेमराज ने अन्य प्रकार से कहा है—सदाशिव तत्त्व में मन्त्र महेश्वर वर्ग, ईश्वर तत्त्व में ईश्वर से अधिष्ठित मन्त्रेश्वर-वर्ग स्थित हैं और विद्या-तत्त्व में भेदद्रष्टा मन्त्र-प्रमातृ-वर्ग स्थित हैं ॥३५६-३५७॥

आस्तामेतद् भगवतः शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा ।
एकैव कृत्यभेदेन बहुधा सोपचर्यते ।।३५८।।

अब इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि भगवान् शिव की एक ही स्वातन्त्र्य शक्ति कार्य-भेद से विभिन्न नामवाली होती है ।।३५८।।

यथाऽस्फुटस्फुटेदन्ता प्रकाशनपरा सती ।
ज्ञानक्रियात्मिका सैव प्रोक्ता सदाशिवेशता ।।३५९।।

चिन्मात्रग्राहकत्वेऽपि रूढ़ेदन्ता प्रकाशिका ।
महामाया क्रियाशक्तिशेषरूपापि कथ्यते ।।३६०।।

यथा अस्फुटः इदन्ता की प्रकाशिका ज्ञानरूपा शक्ति सदाशिवता और स्फुट-इदन्ता की प्रकाशिका क्रियारूपा शक्ति ईश्वरता कहलाती है तथैव विद्येश्वर गण को चिन्मात्र की ग्राहकता होने पर भी स्फुट भेदमय इदन्ता की प्रकाशिका वही शक्ति क्रिया शक्ति का अंशरूप होकर "महामाया" कहलाती है ।।३५९-३६०।।

विपर्यासः पुनर्यत्र ग्राह्यग्राहकयोरपि ।
माया सैव पुनस्तत्र भिन्नेषु पशुमातृषु ।।३६१।।

ग्राह्य और ग्राहक में विपरीत रूपता भासन करने वाली वही शक्ति "माया" कहलाती है । यह विभिन्न पशु-प्रमाताओं में रहती है ।।३६१।।

विपर्यासस्य संस्कारे स्थितेऽपि ज्ञानियोगिनोः ।
ऐश्वर्यात्मस्वभावस्य सद्विद्या ख्यापिका मता ।।३६२।।

ज्ञानी और योगी में विपर्यास का संस्कार रहने पर भी ऐश्वर्यरूप स्वस्वभाव का ख्यापन करने से वही शक्ति "सद्विद्या" कहलाती है ।।३६२।।

इत्थमुत्पलदेवेन सद्विद्या मतभेदतः ।
वर्णिता तत्र गुप्तेनान्तिमास्येति विनिश्चितम् ।।३६३।।

इस प्रकार आचार्य उत्पलदेव ने मतभेद से विस्तार पूर्वक "सद्विद्या" का निरूपण किया है। उनमें उपर्युक्त अन्तिम सद्विद्या स्वरूप आचार्य उत्पलदेव को अभिमत है—ऐसा आचार्य गुप्तपाद ने निश्चय किया है ॥३६३॥

शुद्ध सर्गेऽपि सक्रमत्वम्

कालतत्त्वसमुन्मेषान्मायीये सक्रमात्मता ।
किन्त्वमायीयविद्यान्ते शुद्धसर्गे क्रमः कथम् ॥३६४॥

इति चेत् सत्यमेवैतत् किन्त्वत्रापेक्षिकः क्रमः ।
उपदेश्याः प्रमातारो मायीया द्वैतशालिनः ॥३६५॥

शुद्ध सर्ग में भी सक्रमता का उपपादन

आशङ्का—मायीय सर्ग में काल तत्त्व के उन्मेष होने से तत्त्वों में सक्रमता भले ही हो किन्तु अमायिक शुद्ध-सर्ग—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या में क्रम कैसे उपपन्न हो सकता है ?

समाधान—बात तो सच है, किन्तु शुद्ध सर्ग में आपेक्षिक सक्रमता होती है क्योंकि इसमें भी उपदेश्य मायीय प्रमाता द्वैतशाली होते हैं ॥३६४-३६५॥

सदाशिवपदेऽवश्यं सन्तीदन्ताविभासिनः ।
तानपेक्ष्य भवत्येव क्रमः किन्तु न सः स्फुटः ॥३६६॥
अप्ररूढ़स्तदा तत्र प्ररूढ़ो मायिकेऽध्वनि ॥३६७।१॥

सदाशिवपद में भी इदन्ता के अवभासक मायिक प्रमातागण हैं उन्हीं की अपेक्षा से शुद्ध-सर्ग में भी सक्रमता होती है किन्तु वह अभिव्यक्त नहीं होता। सदाशिव में अस्फुट रहता है और मायिक अध्वा में प्ररूढ़ (अङ्कुरित) अर्थात् स्फुट हो जाता है ॥३६६-३६७।१॥

अतश्चौन्मुख्यरूपायाः शक्तेरानन्दवर्ष्मणः ॥३६७।२॥
प्राथम्यं तुटिशब्देन सोमानन्देन भाषितम् ।
"यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ॥३६८॥

विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने ।
भवत्युन्मुखता चित्ता सेच्छायाः प्रथमातुटिः ॥३६९॥
शिवदृष्टावतः शुद्धसर्गे क्रमकथोचिता ॥३७०।१॥

अतः (शुद्ध-सर्ग में क्रम के अप्ररूढ़ रहने से) आनन्दरूप शक्ति की उन्मुखता को सोमानन्द ने "शिव दृष्टि" में "प्रथम तुटि" शब्द से कहा है। तथाहि—शिव के चिद्धर्मरूप वैभव के आमोद के जृम्भण से विचित्र रचनारूप अनेक कार्य की सृष्टि हेतु उन्मुखता होती है। यह उन्मुखता ही "चित्ता" और शिवेच्छा की प्रथम "तुटि" कहलाती है।

अतः शुद्ध-सर्ग में भी सक्रमता युक्ति संगत ही है ॥३६७।२-३७०।१॥

अशुद्धाध्वविधातुः संज्ञाः

अशुद्धाध्वविधाता यस्त्वाद्यो मन्त्रमहेश्वरः ॥३७०।२॥
सोऽघोरेश इति ख्यातः कथ्यतेऽनन्त इत्यपि ॥३७१।१॥

अशुद्ध-अध्वा के विधायक मन्त्र महेश्वर की संज्ञाओं का अभिधान

मायिक अध्वा का विधायक मन्त्र महेश्वर है उसे "अघोरेश" और "अनन्त भट्टारक" कहा जाता है ॥३७०।२-३७१।१॥

ईश्वरेच्छावशादेव यदाणोर्भोगलालसा ॥३७१।२॥
लोलिकामलसंयुक्तपुद्‌गलस्य विजृम्भते ।
तदायं मन्त्रराण्मायां संक्षोभ्य च कलादितः ॥३७२॥
धरान्तं तत्त्वसंघातं सृजतीव विभासितम् ॥३७३।१॥

लोलिकासंज्ञक आणवमल से युक्त जीव की ईश्वरेच्छा से भोगलालसा जागृत होने पर मन्त्र महेश्वर माया को क्षोभित कर "कला" से "पृथिवी" पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि करता है अर्थात् उन्हें भासित करता है ॥३७१।२-३७३।१॥

माया

भेदावभासजननी शक्तिरव्यतिरेकिणी ॥३७३।२॥
माया प्रभोर्यया देवो भेदमुल्लासयत्यपि ॥३७४।१॥

माया के स्वरूप और कार्य का निरूपण

प्रभु की स्वरूपभूता माया शक्ति भेद की अवभासिका है। इसी शक्ति द्वारा परमेश्वर भेद को भी उल्लासित करता है ॥३७३।२-३७४।१॥

भेदावभासकरणादुपचारादियं पुनः ॥३७४।२॥
प्रोच्यते शिवशास्त्रेषु भेदावभास इत्यपि।
आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ॥३७५॥
गर्भीकृतानन्तभाविविभागा सा परानिशा ॥३७६।१॥

भेद के अवभासन करने से ही "लक्षणा" वृत्ति द्वारा शैवागम में माया को "भेदावभास" नाम से भी पुकारा जाता है। प्रथम भेदावभास विभाग वर्जित है। यह अनन्त भावी विभागो को अपने अन्दर धारण परा "निशा" कहलाती है ॥३७४।२-३७६।१॥

जडेयं भेदरूपत्वात् कार्यस्यापि जडत्वतः ॥३७६।२॥
सूक्ष्मा सर्वजनावेद्या व्यापिनी विश्वकारिणी।
शिवशक्त्यविनाभावान् नित्यैका मूलकारणम् ॥३७७॥

भेदरूपता और कार्य की जडता होने से यह माया जडस्वरूपा है। यह सूक्ष्म होने से सर्वजन-वेद्य नहीं है। यह व्यापक और विश्व-जननी है; शिव-शक्ति से अभिन्न है। अतः माया नित्य और समस्त कार्यों का मूलकारण है ॥३७६।२-३७७॥

मलजीवयोरनादित्वम्

मायामूलोऽपि मलोऽनादिरेव यतः स्थितः।
अत एव पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञ इतिस्मृतः ॥३७८॥
किरणोक्तो विमर्शिन्यामर्थोऽयं प्रकटीकृतः ॥३७९।१॥

मल और जीव की अनादिता का अभिधान

माया मूलक मल भी अनादि अर्थात् कालपरिच्छेद वर्जित है अतः आगमों में पशु को नित्य, अमूर्त्त और अज्ञ कहा गया है। यह बात

"किरणागम" में बतायी गई है और "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी" में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है ॥३७८-३७९।१॥

स्वच्छन्दे क्षेमराजेन जीवस्यानित्यता तु या ॥३७९।२॥
प्रोक्ता सृष्टिप्रकरणे संसारासत्त्वहेतुतः ।
"अनादाविह संसारे कल्पे कल्पेऽपि चेद् यदि ॥३८०॥
एकैकस्य भवेन्मुक्तिरद्य सृष्टिर्न सम्भवेत् ।"
सा न युक्ता यतः सृष्टिस्थितिध्वंसक्रमोऽप्ययम् ।
नित्य एव विनोदाय प्रोभोर्भाति स्वशक्तिगः ॥३८१॥
"सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥३८२॥

"स्वच्छन्द तन्त्र" के सृष्टि प्रकरण में आचार्य क्षेमराज ने संसार के असद्भावापत्ति रूपहेतु द्वारा जीव की अनित्यता बतायी है। तथाहि—"इस अनादि संसार में प्रतिकल्प एक जीव की भी मुक्ति होती तो आज यह सृष्टि (संसार) नहीं होती।" उपर्युक्त कथन युक्त नहीं है क्योंकि प्रभु-शक्ति-स्थित सृष्टि, स्थिति और ध्वंस विनोद हेतु नित्य ही भासित हो रहा है। आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावली में कहा भी है—"सदा सृष्टि-विनोद-शील, सदा स्थिति में सुख पूर्वक आसीन और सदा त्रैलोक्य-आहार (संहार) तृप्त स्वामी को नमस्कार अर्पित हो" ॥३७९।२-३८२॥

मायादौ भिन्नतत्त्वत्वम्

ननु माया महेशस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ॥३८३॥
यदा तदा कथमसौ भिन्नतत्त्वस्वरूपिणी ॥३८४।१॥

माया-प्रभृति में भिन्नतत्त्वरूपता का उपपादन

आशङ्का—यदि माया-शक्ति महेश्वर से अभिन्न है तब उसे भिन्न तत्त्व कैसे स्वीकारा गया है ? ३८३।३८४।१॥

यद्यप्येतानि तत्त्वानि सर्वाणि परमार्थतः ॥३८४।२॥
शिवशक्तिमयान्येव धरान्तानि तथापि च ।
भिन्नत्वभासनादेव मायादावीश्वरेच्छया ॥३८५॥

कार्यत्वं च प्रकाश्यत्वं पृथक् तत्त्वत्वमेव च ।
मायया भास्यते तस्मान्मायोपादानताऽपि च ॥३८६॥

समाधान—यद्यपि पृथिवी-पर्यन्त समस्त तत्त्व परमार्थतः शिवशक्ति-स्वरूप ही हैं तथापि शिवेच्छा से भिन्नरूपता के अवभासन होने मे माया-प्रभृति तत्त्वों में कार्यरूपता, प्रकाश्यता तथा पृथक् तत्त्वरूपता है। माया द्वारा इनका अवभासन होने से माया में उपादानता भी स्वीकारी गई है ॥३८४।२-३८६॥

मायाकार्येऽपि तत्त्वौघे कार्यकारणता मिथः ।
उपादानं क्वचिन्माया क्वचित् तत्कार्यमेव हि ॥२८७॥

माया के कार्यभूत तत्त्वों में भी परस्पर कार्यकारणभाव है। किसी कार्य में स्वयं माया, और किसी कार्य में माया-कार्य उपादान हैं ॥३८७॥

मायातः कलोत्पत्तिः, कलाया अशुद्धविद्यायाश्च स्वरूपम्

मायातस्तु कला जाता कलातस्तत्त्वविस्तरः ।
किञ्चित्कर्तृत्वरूपायाः कलायास्तु निशा यथा ॥३८८॥
जन्मदास्ति तथैवास्ति कला विद्यादिजन्मदा ।
किञ्चित्कर्तृत्वमाधातुं शक्ता शक्तिः कलोच्यते ॥३८९॥
किञ्चिद्वेदनरूपात्र शक्तिर्विद्येति भण्यते ॥३९०।१॥

कला की मायिकता एवं कला और अशुद्धविद्या के स्वरूप का अभिधान

माया से कला की उत्पत्ति हुई और कला से तत्त्वों का विस्तार हुआ।

जैसे किञ्चित् कर्तृत्वरूपा कला की जननी माया है वैसे अशुद्ध-विद्या-प्रभृति तत्त्वों की जननी कला है।

किञ्चित्-कर्तृत्व का आधान करने वाली शक्ति "कला" और किञ्चिद्-वेदन का आधान करने वाली शक्ति "अशुद्ध-विद्या" कहलाती है ॥३८९-३९०।१॥

कलाकार्यस्य कर्तृत्वपरिपूरकत्वम्, भोक्तृत्वपरिपूरकत्वं च

भोक्तृत्वाधायकं तत्र विद्याद्युत्पादनक्रमात् ।।३९०।२।।

कर्तृत्वं तद्विष्यांशो भोग्यं किञ्चिद् विशेषणम् ।।३९१।१।।

कलाकार्य की कर्तृत्वपूरकता और भोक्तृत्वपूरकता का अभिधान

किञ्चित्कर्तृत्व-रूप कलाशक्ति का "कर्तृत्व" रूप विशेष्यांश विद्या-प्रभृति की उत्पत्ति-क्रम से "भोक्तृत्व" का तथा किञ्चिद्रूप विशेषणांश "भोग्य" का पूरक है ।।३९०।२-३९१।१।।

क्रमस्याव्यवस्थितत्वम्

विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् ।।३९१।२।।

कलाकार्यमिति प्रोक्तं क्रमस्त्वत्राव्यवस्थितः ।।३९२।१।।

कलाकार्यों में क्रम-व्यवस्था की शून्यता का अभिधान

विद्या, राग, नियति और काल-चार कलाकार्य हैं। इनमें क्रम व्यवस्थित नहीं है ।।३९१।२-३९२।१।।

रागतत्त्वं पुंसि लग्नं न पृथग् गणितं क्वचित् ।।३९२।२।।

त्रिंशिकायां यथा कालो नियतिश्चापि न पृथक् ।

रागविद्ये कलातत्त्वाद् द्वे तत्त्वे सम्बभूवतुः ।।३९३।।

अव्यक्तं च तत इति श्रीरुरौ परिकीर्तितम् ।।३९४।१।।

कहीं-कहीं रागतत्त्व का "पुरुष" में अन्तर्भाव करने से उसकी पृथग् गणना नहीं की गई है। "परात्रिंशिका" में "काल" तत्त्व से पृथक् "नियति" तत्त्व की गणना नहीं की गई है।

राग और विद्या-दोनों तत्त्व "कला" से उत्पन्न हुए। अव्यक्त भी कला तत्त्व से ही उत्पन्न हुआ—ऐसा श्री "रुरु" शास्त्र में कहा गया है ।।३९२।२-३९४।१।।

रज्यमानः क्वचिद् वेत्ति विदन् कुत्रापि रज्यते ।।३९४।२।।

इत्यतः क्रमबन्ध्यैव सृष्टिर्ज्ञेया तु वस्तुतः ।।३९५।१।।

स्थल-विशेष में रागपुरःसर ज्ञान और अन्य स्थल में ज्ञान-पुरःसर राग होता है। इस प्रकार एकत्र राग के अनन्तर विद्या और अन्यत्र विद्या के अनन्तर राग होने से वस्तुगत्या कलाकार्यों की सृष्टि में क्रम का अभाव ही है ॥३९४।२-३९५।१॥

भोक्तृभोग्यात्मता यस्मादवियुक्ता परस्परम् ॥३९५।२॥

सममेव कला, तस्मादुभे ते च प्रसूयते ॥३९६।१॥

भोक्तृरूपता और भोग्यरूपता यतः परस्पर अवियुक्त अर्थात् नित्य-सापेक्ष हैं, अतः "कला" इन दोनों की सृष्टि साथ ही करती है ॥३९५।२-३९६।१॥

मायाकलयोः कार्ये

मूर्च्छितप्रायतां माया कला किंचिच्च कर्तृताम् ॥३९६।२॥

विदधातीत्युभे भिन्ने कार्यभेदाद् व्यवस्थिते ॥३९७।१॥

माया और कला-कार्य का अभिधान

पहले माया शुद्धचेतन को मूर्च्छित करती है। तदनन्तर कला उसे किञ्चित् कर्तृता प्रदान करती है। अतः ये दोनों कार्य-भेद से भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ॥३९६।२-३९७।१॥

कार्यस्यैव विभिन्नत्वाद् भिन्नान्यनुमितानि वै ॥३९७।२॥

तत्त्वानि ह्यन्यथा नस्याद् मायाभिन्नस्य तत्त्वता ॥३९८।१॥

कार्य-भेद से ही विभिन्न तत्त्व अनुमत हैं अन्यथा माया से भिन्न एक भी तत्त्व नहीं हो सकेगा ॥३९७।२-३९८।१॥

इदानीमिदमेवाहं जानामि च करोमि च ॥३९८।२॥

विमर्शोऽयं प्रमातुः स्यान्न प्रमेयस्य तेन हि।

कलाकार्यमिदं सर्वं भोक्तृत्वपरिपूरकम् ॥३९९॥

इस समय मैं यह जानता हूँ अथवा करता हूँ—ऐसा विमर्श प्रमाता को ही सम्भव है, प्रमेय को नहीं। अतः कलाकार्य (विद्या, राग, नियति और काल) भोक्तृत्व के परिपूरक हैं ॥३९८।२-३९९॥

किञ्चिद्रूपकला विशेषणतः प्रधानस्योत्पत्तिः

भोग्यरूपं प्रधानं यत् तद्विशेषणजं स्फुटम् ॥४००।१॥

कला के विशेषणांश—"किञ्चिद्" से प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति का अभिधान

भोग्य रूप प्रधान, कला-विशेषणांश—"किञ्चित्" से उत्पन्न होता है ॥४००।१॥

कञ्चुकषट्काभिधानम्

माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च ॥४००।२॥

कञ्चुकानि षडुक्तानि नोक्तान्यन्यत्र यानि वै ॥४०१।१॥

छः कञ्चुकों के स्वरूप

माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति—छः कञ्चुक हैं। शैवागम से अतिरिक्त शास्त्रों में इनका वर्णन उपलब्ध नहीं होता ॥४००।२-४०१।१॥

तण्डुलस्येव पुंसोऽपि कम्बुकमिव कञ्चुकम् ॥४०१।२॥

परमावरणं भिन्नं भिन्नान्तः करणादिवत् ।

सूक्ष्ममावरणं सूक्ष्मदेहारम्भकमेव यत् ॥४०२॥

तन्मात्रान्तं प्रकृत्यादि तुषवत् तद् व्यवस्थितम् ।

स्थूलमावरणं स्थूलदेहारम्भकमस्ति यत् ॥४०३॥

किंशारुकमिव स्थूलं तदेतद् भूतपञ्चकम् ॥४०४।१॥

तण्डुल के कम्बुक-सदृश कञ्चुक, पुरुष का "पर" आवरण हैं। यह प्रति-पुरुष अन्तःकरणादि की तरह भिन्न-भिन्न होता है। प्रकृति से तन्मात्र पर्यन्त तत्त्वसमूह, सूक्ष्म-देह का आरम्भक है। यह तुष सदृश "सूक्ष्म" आवरण है। आकाशादि भूत-पञ्चक स्थूल-देह का आरम्भक है। यह किंशारुक (सूंघ)-सदृश स्थूल आवरण है ॥४०१।२-४०४।१॥

कञ्चुकषट्केन यथा पाशितः शिवः पशुर्भवति तत्प्रतिपादनम्

व्यामोहकारिणो माया शक्तिः स्वस्य शिवस्य मे ॥४०४।२॥

स्वस्वभावं तया हित्वा प्रत्ययोद्भवरूपया ।
सर्वकर्तृत्वमाच्छिद्य हित्वा सर्वज्ञतामपि ॥४०५॥
किञ्चित्कर्तृत्वमासाद्य कलया, विद्यया पुनः ।
किञ्चिज्ज्ञत्वसमापन्नः कलाविद्यासमावृतः ॥४०६॥
अपरिच्छिन्नतारूपं स्वधर्ममपरामृशन् ।
किन्तु तद्विपरीतेनावच्छेदनविधायिना ॥४०७॥
भूतादिप्रविभक्तेन कालेनापि परिच्छिदन् ।
कार्यकारणनैयत्यकारिण्या कार्यमण्डले ॥४०८॥
सर्वात्मकत्वविस्मृत्या नियत्यापि निबन्धयन् ।
प्रेप्सितार्थस्य विरहान्नित्या याऽनभिलाषिता ॥४०९॥
हिंसस्तामभिलाषित्वरूपरागेण रञ्जयन् ।
कुञ्चुकाख्येन षट्केन पाशितः सन् पशुः स्वयम् ॥४१०॥
भवन् क्रीडामि शक्त्यैव स्वीयया स्वेच्छयानया ॥४११।१॥

छः कञ्चुकों से पाशित होने से शिव के पशुभाव की प्राप्ति का निरूपण

स्वरूप-व्यामोह करनेवाली माया, मद्रूप शिव की शक्ति है। प्रत्ययोद्भवरूप माया द्वारा स्वस्वभाव को छोड़, सर्वकर्तृता का आच्छादन कर सर्वज्ञता त्याग पुरःसर कला द्वारा "किञ्चित्कर्तृता" और "अशुद्ध-विद्या" द्वारा किञ्चिज्ज्ञता प्राप्त कर कला और अशुद्ध-विद्या से आवृत शिव, स्वकीय अपरिच्छिन्नत्व-धर्म का परामर्श न कर तद्विपरीत भूत-वर्तमान-भविष्यद्-रूपों में विभक्त परिच्छेदक काल से "स्व" का परिच्छेदन करता है। सर्वात्मकता के विस्मरण हो जाने से कार्य-समूह में नियत कार्य-कारण भाव के विधायक "नियति" द्वारा स्वनियन्त्रण पुरःसर अभिलषित वस्तु के अभाव से नित्य अनभिलाषिता का हनन कर बैठता है। फलतः अभिलाष-स्वरूप राग से युक्त होता हुआ उपर्युक्त छः कञ्चुकों से पाशित होता हुआ मद्रूप शिव स्वयमेव जीवरूप होकर अपनी स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा-शक्ति द्वारा क्रीडा करने लगता है ॥४०४।२-४११।१॥

विज्ञानाकलत्वप्राप्त्युपायाभिधान पूर्वकं तत्स्वरूपम्

समलोऽपि शक्तिपातेन नाहं कर्त्तेति भावयन् ।।४११।२।।
विज्ञानाकलतामेति प्रदिध्वंसिषयन् मलम् ।।४१२।१।।

विज्ञानाकलरूपता की प्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का अभिधान

मलयुक्त भी जीव शक्तिपात द्वारा "नाहं कर्ता"—(मैं कर्ता नहीं हूँ) की भावना से पौनः पुन्येन मल-ध्वंस की इच्छा करता हुआ विज्ञाना कलरूपता प्राप्त करता है ।।४११।२।४१२।१।।

भोग्यत्वेनाभिमनुते फलमात्मनि संकुचन् ।।४१२।२।।
संकुचित एव भुङ्क्ते फलं चापि शुभाशुभम् ।।४१३।१।।

शून्य-प्राणादिरूप में संकुचित होता हुआ जीव "स्व" में भोग्य रूप से फल का अभिमान करता है। फलतः संकुचित होकर शुभाशुभ कर्म-फल का भोग करता है ।।४१२।२-४१३।१।।

स्वातन्त्र्यात् कर्तृतारूपात् कर्मदृष्टं क्रियात्मकम् ।।४१३।२।।
न मलादिति मलेऽपि कर्मज्ञानाकले नहि ।।४१४।१।।

स्वातन्त्र्य-रूप कर्तृता से ही कर्म सम्पादित होता है, मल से नहीं। अतः विज्ञानाकल में मल रहने पर भी कर्तृत्व-बुद्धि के अभाव से शुभाशुभ फलप्रद कर्म नहीं होता ।।४१३।२-४१४।१।।

स्मृतिजनकसंस्कारसत्त्वेऽपि कर्मफलभोगाभावः

कर्मणः फलदातृत्वसंस्कारस्य वियोगतः ।।४१४।२।।
सत्यपि स्मृतिसंस्कारे न कर्म फलदं भवेत् ।।४१५।१।।

कर्म-स्मृति के कारणरूप संस्कार रहने पर भी विज्ञानाकल में कर्मफल-भोग के अभाव का कथन

कर्म की फलदातृता के संस्कार का अभाव होने से स्मरणहेतु भूत संस्कार रहने पर भी कर्म फलदायक नहीं होता है ।।४१४।२-४१५।१।।

अहो संस्कारमाहात्म्यं कीदृशं दृश्यतामिदम् ।।४१५।२।।

"भुङ्क्ते यज्ञफलं स्वर्गं यजमानो न याजकः ।
अपि दुष्कृतिकर्मापि प्रायश्चित्तेन शुद्धचति" । ४१६॥

अतोऽभिमान एवायं कर्मजोऽपूर्वसंज्ञकः ॥४१७।१॥

अहो ! संस्कार का कैसा माहात्म्य है ? देखिये—"यागादिकर्मजन्य स्वर्गादिफल का उपभोग यजमान करता है; याज्ञिककर्म सम्पादन करने वाला ऋत्विग् नहीं। इतना ही नहीं कृतपाप पुरुष भी प्रायश्चित्त द्वारा अपने पाप को धो डालता है फलतः शुद्ध हो जाता है। अतः सिद्ध होता है—"मीमांसक-सम्मत कर्मजन्य अपूर्व कर्मफल का भोग्यरूप से अभिमान-मात्र है ॥४१५।२-४१७।१॥

किञ्चित्कर्तृत्वप्रदत्वात् पुंसः प्रयोजिका कला

किञ्चित्कर्तृत्वदातृत्वात् कला पुंसः प्रयोजिका ॥४१७।२॥

अतः कलासमाश्लिष्टो भोगेऽणुः कर्तृकारकः ॥४१८।१॥

किञ्चित्-कर्तृता-प्रदायक कला की कर्म प्रयोजकता का अभिधान

किञ्चित्-कर्तृता का आधान करने वाली कला पुरुष को कर्म में प्रवृत्त कराती हैं। अतः कला से आलिङ्गित जीव ही कर्मफल का भोक्ता बनता है ॥४१७।२-४१८।१॥

पुंस्कलयोरन्तरज्ञानादपि विज्ञानाकलत्वम्

अनयोरन्तरं सूक्ष्मं यदा पुंस्कलयोः पुनः ॥४१८।२॥

अयं पुमानियं चापि कला दोषालयाऽशुभा ।
इतिज्ञानं भवेज्ज्ञानचक्षुषाऽनन्तशक्तितः ॥४१९॥

तदाप्याप्नोति पुरुषो विज्ञानाकलतां पुनः ॥४२०।१॥

पुरुष और कला के विवेक से भी विज्ञाना-कलता की प्राप्ति का अभिधान

"यह पुरुष है—इसके विपरीत अशुभ कला दोषों की खान है।" प्रकृति-कला के सूक्ष्म भेद का उपर्युक्त ज्ञान अनन्तशक्ति से प्रज्ञाचक्षु द्वारा होने से भी विज्ञानाकलरूपता प्राप्त होती हैं ॥४१८।२-४२०।१॥

यया नाधः प्रसरति मायातस्तु शिवेच्छया ॥४२०।२॥

क्रमतोऽक्रमतो वापि स्याच्छिवोऽपि त्यजन् मलम् ।

प्रकृतेः पुरुषस्यापि विवेके सांख्यशास्त्रतः ॥४२१॥

सिद्धे यथा प्रधानाधो न गच्छत्यचलः पुमान् ॥४२२।१॥

विज्ञानाकलता-प्राप्ति से पुरुष माया से नीचे संक्रमण नहीं करता और ईश्वरेच्छा से मल-त्याग-पुरःसर साक्षात् अथवा परम्परया शिवरूप हो जाता है।

जिस प्रकार सांख्य-शास्त्र द्वारा प्रकृति और पुरुष के विवेक से अचल पुरुष प्रकृति से नीचे नहीं जाता उसी प्रकार विज्ञानाकलता-प्राप्ति से पुरुष प्रकृति से नीचे नहीं जाता अर्थात् प्रकृति-कार्य के चक्कर में घसीटा नहीं जाता ॥४२०।२-४२२।१॥

सांख्यमते विवेकाविवेकौ

बुद्धौ या प्रतिसंक्रान्ता चिच्छाया तत्र वृत्तितः ॥४२२।२॥

यत्कर्तृत्वाभिमननं सोऽविवेको मतः पुनः ।

विवेको विषयव्रातवृत्तिच्छायातिरस्कृतेः ॥४२३॥

स्थिरदीपशिखाप्रख्यचितोऽकर्तृत्वभावनम् ॥४२४।१॥

सांख्यशास्त्र-सम्मत विवेक और अविवेक के स्वरूप

बुद्धि में चेतन प्रतिबिम्बित होता है फलतः पुरुष को तद्वृत्ति प्रतिबिम्बित चिच्छाया में वृत्तितया कर्तृता का अभिमान होता है। यही अविवेक कहलाता है। विषय समूह के प्रतिबिम्ब का तिरस्कार कर स्थिर-दीप-शिखा-सदृश शुद्ध-चित् की अकर्तृतया भावना ही विवेक कहलाती है ॥४२२।२-४२४।१॥

आणव-मलम्

अपूर्णत्वाभिमननं मलमाणव संज्ञकम् ॥४२४।२॥

स्वातन्त्र्यहानिरूपं तत् स्वातन्त्र्याज्ञानमित्यपि ॥४२५।१॥

सपरिकर आणवमल का निरूपण

अपूर्णता का अभिमान ही आणव-मल है। यह दो प्रकार का है—स्वातन्त्र्य-हानि और स्वातन्त्र्याज्ञान ॥४२२४।२-४२५।१॥

अहमित्यवभासात्मा स्वात्मविश्रान्तिलक्षणः ॥४२५।२॥

निजानन्दचमत्कारः स्वस्वभावः प्रकीर्तितः ।

अयमुत्तमकर्तृत्वं प्रत्यभिज्ञाकृतां मते ॥४२६॥

अहम्-इत्याकारक अवभास अपने-आप में विश्रान्त और निजानन्द-मात्र है। यही स्वस्वभाव नाम से विख्यात है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के रचयिता उत्पलदेव के मत से इसे ही "उत्तमकर्तृता" स्वीकारा गया है ॥४२५।२-४२६॥

शुद्धबोध-स्वरूपस्य स्वातन्त्र्यं चेदमुच्यते ।

हानिस्तस्य मलं प्रोक्तं विज्ञानाकलसंस्थितम् ॥४२७॥

आणवं चाभिलाषाख्यं स्वस्वभावापहानितः ॥४२८।१॥

स्व-स्वभाव ही शुद्ध-बोध-स्वरूप का "स्वातन्त्र्य" है। इसकी हानि "मल" कहलाती है। अतः स्वस्वभाव की हानि से अभिलाषसंज्ञक आणवमल विज्ञानाकल में रहता है ॥४२७-४२८।१॥

दुर्घटं स्वस्वभावस्य मुख्यस्यास्ति वियोजनम् ॥४२८।२॥

किन्तु तत्रापि सामर्थ्यं स्वातन्त्र्यस्य प्रदर्शयन् ।

केवलं बोधमात्रात्माहं भासेऽन्योन्यभेदतः ॥४२९॥

इतीच्छन् समलो भूत्वा पूर्णत्वं विजहत् स्वयम् ।

स्वीकरोति मलं देवो विज्ञानाकलतां दधत् ॥४३०॥

मुख्य स्वस्वभाव का वियोजन यद्यपि असम्भव है किन्तु असम्भव को भी सम्भावित करने में स्वातन्त्र्य-सामर्थ्य को प्रदर्शित करता हुआ मैं "परस्पर भिन्नरूप से भासित होऊँ"—इस इच्छा से अहमात्मक बोधरूप शिव स्वयं समल होकर पूर्णता-त्याग-पुरःसर विज्ञानाकल बन जाता है ॥४२८।२-४३०॥

स्वेच्छयैव यदा स्वस्मिन् स्वातन्त्र्यं स्वस्य भाति न ।

तदंशस्य विनाशेन तदाणुत्वमपूर्णता ॥४३१॥

जब स्वेच्छा से ही स्व में स्वस्वातन्त्र्य का भान नहीं होता तव बोधांश के रहने पर भी स्वातन्त्र्यांश-अहंविमर्श के विनाश से शिव की जीवरूपता अर्थात् "अपूर्णता हो जाती है ॥४३१॥

शुद्धबोधत्वसत्त्वेऽपि स्वातन्त्र्यांशाप्रकाशनात् ।
ईश्वरेच्छाकृता भान्ति भिन्ना विज्ञानकेवलाः ॥४३२॥

शुद्ध-बोधरूपता रहने पर भी स्वान्त्र्य-भाग के अप्रकाशन से ईश्वरेच्छा से सृष्ट परस्पर भिन्न विज्ञानाकल प्रकाशित होते हैं ॥४३२॥

शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृताः ।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ॥४३३॥

शुद्ध-बोध-स्वरूप होने पर भी जिन विज्ञानाकलों) की उत्तमकर्तृता (अहम्परामर्श) नहीं होती उन्हें शिव ने शुद्ध-कर्तृताविनाश पुरःसर अपने से भिन्न ही बनाया ॥४३३॥

बोधादिलक्षणैक्येपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥४३४॥

इति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुत्पलेनोपपादितम् ॥४३५।१॥

बोधादिरूपता की समता होने पर भी अहंविमर्श नहीं रहने से ईश्वरेच्छा-भेद से विज्ञान केवल परस्पर भिन्न होते हैं—इस प्रकार आचार्य उत्पलदेव ने "श्री ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" में उपपादन किया है ॥४३३-४३५।१॥

तथागमे शिवेनापि वक्ष्यमाणं विनिश्चितम् ॥४३५।२॥

स सिसृक्षुर्जगत् सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥४३६॥

तथा स्वयं शिव ने भी "मालिनी-विजय" में बताया है--"जगत् की सृष्टि के इच्छुक ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही स्वेच्छा से आठ "विज्ञान-केवल" संज्ञक जीवों को बोधित किया ॥४३५।२-४३६॥

स्वातन्त्र्यशक्तेर्महिमा

> स्वमयं कल्पिताकारं कल्पितात्मककर्मभिः ।
> आत्मानं प्रतिबध्नाति स्वातन्त्र्यादिति निश्चयः ॥४३७॥
> अणुरूपोऽप्ययं पूर्णं शुद्धं रूपं स्पृशत्यहो ।
> परावृत्त्यैति महिमा स्वातन्त्र्यस्यास्य दृश्यताम् ॥४३८॥

स्वातन्त्र्य-शक्ति की महिमा का प्रदर्शन

शिव स्वयं स्वातन्त्र्य-शक्ति द्वारा कल्पित-देह से युक्त अपने आपको प्रतिबद्ध करता है तथा परावृत्त होकर पूर्ण शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त होता है। स्वातन्त्र्य की यही अद्भुत महिमा है ॥४३७-४३८॥

शिवस्य सर्वं स्वभावभूतमेव

> इतीदृशस्वभावोऽयमेकोऽपि बहुधात्मना ।
> सम्पन्नः सर्वदा भाति स्वभावे काऽनुयोज्यता ॥४३९॥

समस्त वस्तु शिव का स्वभाव ही है।

अकेले अनन्तरूपों में भासित होना शिव का स्वभाव है। अतः एक शिव बहुत रूपों में व्यक्त होकर सदा भासित हो रहा है। स्वभाव में कैसे ? क्यों ? इत्यादि प्रश्न नहीं किया जा सकता।

> एतादृशप्रथैवास्ति स्वभावोऽस्य स्वभावतः ।
> अतः शङ्का समाध्वस्ता स्वभावे नानुयोज्यता ॥४४०॥

स्वभावतः विभिन्न रूप से प्रथन ही शिवस्वभाव है। अतः किसी प्रकार की शङ्का का अवसर ही नहीं रह जाता क्योंकि स्वभाव में अनुयोग्यता नहीं होती। यथा—वह्नि की स्वाभाविक दाहिका शक्ति में क्यों ? कैसे ? इत्यादि प्रश्न नहीं होते हैं ॥४४०॥

> स्वस्य स्वात्मतिरोधित्सा कारणं मलकर्मणोः ।
> तेनानादिव्यवस्थेयं स्वभावात् सम्प्रवर्तते ॥४४१॥

अपने आप को छिपा लेने की इच्छा ही स्व-मल-कर्म में कारण हैं, अन्य कुछ नहीं। इसी से यह अनादि व्यवस्था (संसार) स्वभाव से ही प्रवर्तमान है ॥४४१॥

प्रकाशात्मा स्वतन्त्रोऽयं चिद्रूपो नर्तकः शिवः ।
स्वभावात् स्वस्वरूपस्य प्रच्छादनपरायणः ॥४४२॥

प्रकाशाभिन्न स्वतन्त्र चिद्रूप नर्तक शिव स्वभाव से ही स्वस्वरूप के आच्छादन में प्रवीण हैं ॥४४२॥

दृक्क्रियापरिपूर्णोऽयमेक एवाप्यनेककः ।
संवृत्तोऽणुः समाच्छाद्य स्वस्वरूपं स्वभावतः ॥४४३॥

ज्ञान और क्रिया-शक्ति से परिपूर्ण एकमात्र शिव स्वभाव से स्वस्वरूप का आच्छादन कर अनन्त जीव बन बैठा है ॥४४३॥

अपूर्णमन्यतैवेयं साकाङ्क्षत्वमिवात्मनि ।
लोलिकाख्यं मलं नाम स्वस्वरूपापहानिजम् ॥४४४॥

"स्वयं" को अपूर्ण मानकर स्वरूप में साकाङ्क्ष होना ही "लोकिका"-संज्ञक आवण-मल है। इसमें स्वस्वरूप की हानि ही कारण हैं ॥४४४॥

मलस्य संज्ञान्तराणि

मलस्यास्य तु नामानि शास्त्रेऽनेकानि योगतः ।
प्रोक्तानि तानि गण्यन्ते मया शास्त्रानुसारतः ॥४४५॥

मल के पर्याय-शब्दों का अभिधान

शास्त्र में योगार्थ को पुरस्कृत कर मल के अनेक नाम बताये गये हैं। मैं शास्त्रानुसार उनकी गिनती कर रहा हूँ ॥४४५॥

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिका प्रथा ।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढता ॥४४६॥

अहम्ममात्मतातङ्को माया शक्तिरथावृतिः ।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ॥४४७॥
इत्याद्यन्वर्थसंज्ञाभिस्तत्र तत्र प्रकीर्तितम् ॥४४८।१॥

मल, अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका, प्रथा, भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढ़ता, अहन्ता, ममता, आतङ्क, माया, शक्ति, आवृति, दोषबीज, पशुत्व, संसाराङ्कुरकारण इत्यादि अनेक अन्वर्थ नाम तत्र-तत्र शास्त्रों में बताये गये हैं ॥४४६-४४८।१॥

मायाया यथा मलोत्पादकत्वम्

स्वरूपं गोपयन्तीयं माया भेदं शिवात् पशोः ॥४४८।२॥
दर्शयन्ती सुषुप्तत्वमिवाधत्ते पशौ मलम् ॥४४९।१॥

माया की मलोत्पादकता के प्रकार का कथन

स्वरूप का गोपन और शिव से जीव में भेद-प्रदर्शन करती हुई माया जीव में सुषुप्ति सदृश "मल" का आधान करती है ॥४४८।२-४४९।१॥

आणवमलस्याभिलाषरूपत्वम्

आणवं मलमख्यातिरस्तु किन्त्वभिलाषिता ॥४४९।२॥
गुप्तस्य कर्तुर्नो युक्ता चैष्टव्यस्याप्यभावतः ।
इति नैव त्वया वाच्यं मर्मस्थानमिदं ननु ॥४५०॥
वच्मि तत्सावधानेन भवताप्यवधार्यताम् ॥४५१।१॥

आणव-मल की अभिलाषरूपता का स्थापन

आशङ्का—आवृत-कर्तृता-वाले विज्ञानाकल में अख्यातिरूप आणव-मल भले ही रहे किन्तु अभिलाषाख्य मल नहीं रह सकता क्योंकि उसमें एष्टव्य अर्थात् अभिलषित वस्तु का अभाव रहता हैं ।

समाधान—उपर्युक्त आशङ्का नहीं करनी चाहिये । यहाँ का रहस्य बताता हूँ । आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें ॥४४९।२-४५१।१॥

पूर्णस्यापूर्णताभानं तिरोधिः समुदाहृता ॥४५१।२॥

सैव भिन्नेन भावेन पूर्त्ति प्रति स्पृहा मता ।

स्वभिन्नोन्मुखतैवेयं लोलिकाख्याभिलाषिता ।।४५२।।

तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भणम् ।।४५३।१।।

सर्वथा पूर्णस्वरूप का "मैं अपूर्ण हूँ"—ऐसा भान होना "तिरोधान" कहलाता है। यही तिरोधान भिन्नरूप से अपनी पूर्ति की इच्छा में कारण है जिसे स्पृहा कहा गया है। अतः स्वभिन्न की प्राप्ति हेतु उन्मुखतारूप स्पृहा ही लोलिकासंज्ञक अभिलाषा है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य-मात्र से ही "मल" विजृम्भित अर्थात् उदित होता है ।।४५१।२-४५३।१।।

मलादीनां च केषांचिद् संविद्विश्रान्तिमन्तरा ।।४५३।२।।

नोपपन्ना यतः सत्ताऽतोऽत्र हेतुर्महेश्वरः ।।४५४।१।।

मल-प्रभृति समस्त वेद्य की सत्ता संविद्विश्रान्ति बिना उपपन्न नहीं हो सकती। अतः मल में संविद्रूप महेश्वर ही हेतु हैं।४५३।२-४५४।१।।

मलस्य सृष्ट्यादावेवापेक्षा न तु निग्रहानुग्रहयो :

इति सृष्टौ मलं कर्म मायां चापेक्ष्य वर्तते ।।४५४।२।।

शिवेच्छैवेति संसिद्धं सिद्धान्तं परमामृतम् ।

अतः सृष्ट्यादिकृत्येऽस्ति मलादेरप्यपेक्षणम् ।।४५५।।

निग्रहेऽनुग्रहे किन्तु नापेक्षा मलकर्मणोः ।।४५६।१।।

निग्रह और अनुग्रह के अतिरिक्त सृष्ट्यादि-कृत्य में मलादि की अपेक्षा का अभिधान

सृष्टि में मल, कर्म और माया से सापेक्ष "शिवेच्छा" हेतुरूप से विद्यमान है यह परम-तथ्य अतएव मान्य सिद्धान्त है।

अतः सृष्टि, स्थिति और ध्वंस-कृत्यों में मलादि की अपेक्षा रहती है किन्तु निग्रह और अनुग्रह में मल और कर्म की अपेक्षा नहीं रहती।

।।४५४।२-४५६।१।।

शक्तिपातः शिवे भक्तिरेव

शक्तिपातः शिवे भक्तिर्नवधा सा भवत्यथ ।।४५६।२।।

शक्तिपात की शिवभक्तिरूपता का अभिधान

"शिव में भक्ति" ही शक्तिपात हैं। वह नौ प्रकार की होती है।
॥४५६।२॥

परमः शक्तिपातोऽसौ परिपूर्णचिदात्मता।
ध्वस्तोपाध्यनवच्छिन्नसंविदेकस्वभावता ॥४५७॥

परिपूर्ण चिद्रूपता ही उत्कृष्ट शक्तिपात है। अर्थात् समस्त उपाधि के ध्वस्त हो जाने से अनवच्छिन्न संविन्मात्ररूपता ही परम शक्तिपात है।
॥४५७॥

भोगांशेन समाश्लिष्टः प्रकाशः परमः स यः।
अपरः शक्तिपातः स पर्यन्ते शिवताप्रदः ॥४५८॥

परम-प्रकाशरूप आत्मतत्त्व को जानने के पश्चात् भी भोगांश-संस्कार का बना रहना "अपर" शक्तिपात है। यह मरणोत्तर शिवरूपता प्रदान करता है ॥४५८॥

कलाद्यमूनि तत्त्वानि शुद्धान्येव हि तान्प्रति।
ये श्रीगुरु-कृपा-दृष्टया शक्तिपातपवित्रिताः ॥४५९॥
तेषां कलादयः शुद्धाः शुद्धकर्माणि तन्वते।
तथाभूतानि यैस्तेऽपि भविनो यान्ति मुक्तताम् ॥४६०॥

कला-प्रभृति समस्त तत्त्व उनके प्रति शुद्ध ही हैं, जो लोग श्रीगुरु की कृपा-दृष्टि से शक्तिपात द्वारा पवित्र कर दिये गये हैं। उनके कञ्चुक-स्वरूप कला-प्रभृति शुद्ध-तत्त्व शुद्ध कर्मों का ही विस्तार करते हैं जिनसे वे संसारी भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥४५९-४६०॥

आणवमलम्

इत्थमिच्छात्मिकैवेयं लोलिकाख्याभिलाषिता।
अपूर्णमन्यताऽज्ञानं संकुचितप्रथात्मकम् ॥४६१॥

आणवमल का स्वरूप

इस प्रकार लोलिका, अभिलाषा-प्रभृति नामवाला आणव-मल इच्छा-रूप ही है। वह अपने को संकुचित रूप से समझना अर्थात् अज्ञान ही है ॥४६१॥

मलस्य पृथक् तत्त्वत्वाभावः

मलेऽवच्छेदकत्वं न किन्ववच्छेदयोग्यता ।
तेन नास्य पृथक् तत्त्वभावः कुत्रापि स्वीकृतः ।।४६२।।

मल के पृथक् तत्त्व के अभाव का निरुपण

मल में अवच्छेदकता नहीं है किन्तु अवच्छेदन की योग्यता है। अत एव कहीं भी शास्त्र में अलग से इसे तत्त्व नहीं माना गया है ।।४६२।।

व्यतिरिक्तं स्वतन्त्रं तु प्रकाशान्नहि किञ्चन ।
शिवशक्तिमयं विश्वं तथापि व्यतिरिक्तता ।।४६३।।

यद्यपि प्रकाशरूप शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है क्योंकि समस्त विश्व शिव-शक्तिमय है तथापि तत्त्वों में अतिरिक्त रूपता भासित होती है ।।४६३।।

इच्छामात्रस्वभावेयं निष्कर्मा याऽभिलाषिता ।
न सा नियतविषयाऽतोऽवच्छेदवर्जिता ।।४६४।।

इच्छा मात्र-स्वभाव वाली अभिलाषा क्रिया विहीन है। नियत-विषयक न होने से वह अवच्छेद रहित है ।।४६४।।

अख्यातिस्वरूपम्

अपूर्णम्मन्यतैवातः साकाङ्क्षत्वमिवात्मनि ।
पूर्णज्ञानस्वरूपस्याख्यातिरज्ञानमुच्यते ।।४६५।।

अख्याति-स्वरूप का निरूपण

स्वयं प्रकाशमान "स्व" में साकङ्क्ष रहना ही अपूर्ण मन्यता है। यही पूर्णज्ञानरूप स्वरूप की "अख्याति" और "अज्ञान" है ।।४६५।।

इदं संकुचितज्ञानशब्देनाप्यभिधीयते ।
अणूनामणुतायाश्च योग्यतापीयमेव हि ।।४६६।।

इसे संकुचित-ज्ञान शब्द से भी कहा जाता है। जीवों की जीवरूपता की सम्पादिका भी उपर्युक्त स्वरूप की अख्याति ही है ।।४६६।।

अतस्तत्तदवच्छेदपात्रत्वमुदियादणोः ।
अपूर्णंमन्यतापीयं तथारूपावभासनम् ।।४६७।।

अख्याति द्वारा ही जीव की तत्-तद्-अवच्छेदन की पात्रता होती है। यह अपूर्ण मन्यता अपूर्णरूप से अवभासन मात्र ही है ; अन्य कुछ नहीं। ।।४६७।।

आभासमात्रसारत्वाद् यथा सर्वे धरादयः ।
शिवादव्यतिरिक्ता वै व्यतिरिक्ता विभान्त्यपि ।।४६८।।

तथैवास्य मलस्यापि व्यतिरिक्तत्वमिष्यते ।
आगमे वर्णितत्वाच्च व्यतिरिक्तः स्थितो मलः ।।४६९।।

जैसे आभास-मात्र सार वाले पृथिव्यादि समस्त तत्त्व शिव से अभिन्न होने पर भी भिन्नरूप से भासित होते हैं वैसे मल भी वस्तुतः शिव से अभिन्न होने पर भी भिन्न रूप से भासित होता है। आगम में वर्णित होने से भी मल को पृथक् स्वीकारा गया है ।।४६८-४६९।।

मलमेव पशुत्वम्, मलस्य स्वेच्छयैवोद्भवतिरोभावौ

अनादिमलमेवेदं पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
स्वेच्छयैवोद्गतं भाति स्वेच्छयैव विनश्यति ।।४७०।।

मल की पशुता और मल के उद्भव-तिरोभाव में स्वेच्छा की हेतुता का अभिधान

अनादि मल ही "पशुता" कहलाती है। यह मल स्वेच्छा से प्रादुर्भूत होकर भासित होता हैं और स्वेच्छा से ही तिरोभूत होता है ।।४७०।।

तादृशी कापि न शक्तिर्जडस्यास्य प्रसिद्ध्यति ।
बद्धाणुमथ मुक्ताणुं कुर्याद् भिन्नं यया पुनः ।।४७१।।

जडस्वरूप मल में कोई ऐसी शक्ति नहीं हैं ; जिससे यह "बद्ध" और "मुक्त" जीव को भिन्न कर सके ।।४७१।।

अतः स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भणम् ।
इत्येतद् गुरुणा प्रोक्तं तन्त्रालोके सुविस्तरात् ।।४७२।।

अतः अपने स्वातन्त्र्य-मात्र से मल का विजृम्भण अर्थात् उत्थान होता है। इसे गुरुवर आचार्य अभिनव गुप्तपाद ने तन्त्रालोक में विस्तार पूर्वक बताया है ॥४७२॥

मायामलम्

वृत्ते स्वरूपसंकोचे आणवेन मलेन वै।
भिन्नस्य प्रथनं यत्तन्मायीयमिति संज्ञितम् ॥४७३॥

मायीय मल का स्वरूप

आणव-मल द्वारा स्वरूप के संकुचित हो जाने पर भिन्न वस्तु का प्रथन होना ही मायीय-मल कहलाता है ॥४७३॥

कार्ममलम्

अबोधरूपदेहादेः कर्तुर्भिन्नप्रथावतः।
धर्माधर्मस्वरूपं च मलं कार्मं प्रकीर्तितम् ॥४७४॥

कार्म-मल का स्वरूप

भिन्न प्रथा वाले अबोधरूप देह-प्राण-बुद्धि आदि कर्ता के धर्म और अधर्म, "कार्म-मल" कहलाते हैं ॥४७४॥

सुखदुःखादिजनकधर्माधर्मोभयोरपि ।
वासनैवोच्यते कार्मं मलं संसारकारणम् ॥४७५॥

सुख-दुःख आदि के जनक धर्म और अधर्म की वासना ही कार्म-मल है। यही संसार का कारण है ॥४७५॥

शरीरभुवनाद्यात्मभिन्नताभासकारणम् ।
मायिकं मलमित्युक्तं संसारोऽप्ययमुच्यते ॥४७६॥

शरीर, भुवनादिरूप से भिन्नतया आभास में कारणस्वरूप मल "मायिक-मल" कहलाता है। यहीं "संसार शब्द से भी जाना जाता है।
॥४७६॥

अस्य कार्ममलस्यापि मायान्ताध्वविसारिणः।
प्रधानं कारणं प्रोक्तमज्ञानात्माणवो मलः ॥४७७॥

माया पर्यन्त सभो अध्वाओं में व्याप्त उपर्युक्त कार्म-मल का प्रधान कारण अज्ञानरूप "आणव-मल" है ॥४७७॥

दैवमानुष-तैरश्च-भेदाद् वैचित्र्यशालिनः ।
चतुर्दशविधस्यापि कार्मं सर्गस्य कारणम् ॥४७८॥

अष्टविध देवयोनि, एकविध मानुष तथा पञ्चविध तिर्यग्योनि के योग से परस्पर विचित्र चौदह प्रकार की सृष्टि का भी कारण, कार्म-मल ही है ॥४७८॥

पाशः

माययान्धीकृतो भिन्न-वेद्यं पश्यंस्तु पाशितः।
स्वात्मनो भिन्नवेद्यानां दर्शनं पाश उच्यते ॥४७९॥

पाश का स्वरूप

मायाद्वारा अन्धा बनाया गया जीव स्वभिन्न वेद्य को देखता हुआ पाश-बद्ध हो जाता है। अपने स्वरूप से भिन्नरूप में वेद्य-पदार्थों को देखना ही "पाश" अर्थात् बन्धन कहलाता है ॥४७९॥

क्लेशा अपि योगाद्युक्त- वेद्यहेतुका एव

तेनैव जायते क्लेशोऽविद्यादिरपि पश्चधा ।
वेद्यराशिवशादेव पशोः क्लेशाश्च पश्च ते ॥४८०॥

योगदर्शनादि में बताये गये क्लेश की वेद्यहेतुकता का अभिधान

इसी से योगशास्त्रोक्त अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-रूप पञ्चविध क्लेश भी उत्पन्न होते हैं जीव के पञ्चविध क्लेश वेद्य-समूह से ही होते हैं ॥४८०॥

भावाः स्वरूपतो भिन्नाः पत्युर्भान्ति सदैवहि ।
कर्माणि स्वात्मनो बन्धकराण्येव पशोः पुनः ॥४८१॥

पशुपति (शिव) को सदैव समस्त पदार्थ स्वरूप से अभिन्न ही प्रतीत होते हैं और पशु (जीव) को समस्त कर्म सदैव बन्धनरूप ही होते हैं।
॥४८१॥

कार्मस्य प्रधानतया संसारहेतुत्वम्

मलेष्वेतेषु सर्वेषु मुख्यः कार्मो मतो यतः ।
न विनाऽमुं समर्थौ तौ देहाद्यभिनिवर्तने ॥४८२॥

कार्ममल की प्रधानरूप से संसार-कारणता का अभिधान

आणव, मायिक और कार्म-सभी मलों में कार्म-मल मुख्य है क्योंकि इसके बिना शेष दोनों मल देहादि की निष्पत्ति में सक्षम नहीं होते ॥४८२॥

अतः सांख्यपुराणादौ यत्नेनैवोपदिश्यते ।
कर्मबन्धाभिमानस्य हानिरेव पुनः पुनः ॥४८३॥

अत एव सांख्य-दर्शन, पुराणों और शास्त्रों में कर्म-बन्ध के अभिमान का यत्नपूर्वक त्याग हेतु बार-बार उपदेश किया गया है ॥४८३॥

असंसरणसोपानपदबन्धो दृढीकृतः ।
तेन, दीक्षाकृतो यस्य वृत्त एतदुपक्षयः ॥४८४॥

जिस व्यक्ति का कार्म-मल श्रीगुरु से प्राप्त दीक्षा द्वारा विनष्ट हो चुका उसने मोक्ष की सीढ़ी पर अपने पांव को स्थिर कर लिया ॥४८४॥

मलभेदकृताः सप्त प्रमातारः

मलभेदकृताः सन्ति प्रमातारश्च सप्त ते ।
शक्तिमन्तः प्रकथ्यन्ते पाञ्चदश्यादि कल्पने ॥४८५॥

मल-भेद के कारण सप्त-विध प्रमाता होते हैं

मल-भेद से सात प्रमाता होते हैं। ये पदार्थों के १५, १३, ११, ९, ७,-५ और ३ रूप से तत्त्व-भेदन में उपयोगी होने से "शक्तिमान्" शब्द से पुकारे जाते हैं ॥४८५॥

शिवो मन्त्रमहेशश्च मन्त्रेश्वर इमे त्रयः ।
मायैकमलसंयुक्ता भिन्नास्तत्तारतम्यतः ॥४८६॥

शिव, मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर-तीन प्रमाता केवल माया-मल से युक्त होते हैं। मल के तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) से इनमें परस्पर भिन्नता होती है ॥४८६॥

मलद्वयकृता भान्ति प्रमातारस्त्रयस्त्वमी ।
मन्त्र - विज्ञान-कलनप्रलयाकलनामकाः ॥४८७॥

मल द्वय (माया और आणव) प्रयुक्त मन्त्र, विज्ञानाकल और प्रलयाकल तीन प्रमाता भासित होते हैं ॥४८७॥

मन्त्रे मायाकृतो भेदः स विज्ञानाकले पुनः ।
आणवेनोभयाभ्यां तु भेदो लयाकले पुनः ॥४८८॥

मन्त्र-प्रमाता में माया-मल-प्रयुक्त भेद, विज्ञानाकल में आणव-मल-प्रयुक्त भेद और प्रलयाकल में माया और आणव उभय-मल-प्रयुक्त भेद होता है ॥४८८॥

संस्काररूपः कार्मोऽपि मलोऽस्ति प्रलयाकले ।
कार्याक्षमस्तदा तत्र सूक्ष्मत्वात् तदनादरः ॥४८९॥

यद्यपि प्रलयाकल में धर्मा-धर्म-संस्काररूप कार्म-मल भी विद्यमान रहता है तथापि उस समय उक्त-मल में कार्योत्पादन की सामर्थ्य का अभाव होने से अत्यन्त सूक्ष्म कार्ममल की गणना नही की जाती है । ॥४८९॥

मलैस्त्रिभिः समायुक्तः सकलः सप्तमो मतः ।
भेदस्तत्र मलैरस्ति स्वीकृतोऽङ्गाङ्गितादिभिः ॥४९०॥

माया, आणव और कार्म-मलत्रय से युक्त सप्तम "सकल" प्रमाता माना गया है। "सकल" प्रमाता में मलत्रय के विलक्षण अङ्गाङ्गिता अर्थात् गौण प्रधान-भाव प्रयुक्त परस्पर भेद होता है ॥४९०॥

प्रमातॄणां च निर्भज्य रूपं सम्प्रति कथ्यते ।
येन विज्ञातमात्रेण सिध्यत्येव तदात्मता ॥४९१॥

सम्प्रति विभागपुरःसर उक्त सप्त-विध प्रमाता के स्वरूप का निर्वचन करता हूँ जिसके ज्ञानमात्र से तत्-तत्-प्रमातृरूपता की प्राप्ति होती है । ॥४९१॥

विज्ञानाकल स्वरूपम्

येषां चिन्मात्रमेवास्ति परमार्थो नत्वहं तु यत् ।
स्वातन्त्र्यं परमानन्दं स्वात्मविश्रान्तिलक्षणम् ॥४९२॥
शुद्धस्वातन्त्र्यरूपायाः कर्तृताया अभावतः ।
विज्ञानकेवला बोधस्वातन्त्र्यरहिता इमे ॥४९३॥

विज्ञानाकल के स्वरूप का अभिधान

जिन्हें "चिन्मात्र" ही परमार्थ है किन्तु स्वातन्त्र्यरूप परमानन्द, स्वात्म-विश्रान्ति-स्वरूप, "अहम्"-विमर्श नहीं है, वे शुद्ध-स्वातन्त्र्य-रूप उत्तमकर्तृता के अभाव से बोध-स्वातन्त्र्य-रहित "विज्ञानकेवल" है।
॥४९२-४९३॥

स्वातन्त्र्यहानिरूपांशाणवमलाश्रिता इमे ।
मुक्ता वेदान्तसिद्धान्तब्रह्मभावगता इव ॥४९४॥

स्वातन्त्र्यहानिरूप आंशिक आणव-मल से युक्त विज्ञानाकल ब्रह्म-भावापन्न-वेदान्ती की तरह मुक्त भी रहते हैं ॥४९४॥

बोधात्मकं तु विज्ञानं स्वातन्त्र्यरहितं यतः ।
रूपमेषामतः प्रोक्ता इमे विज्ञानकेवलाः ॥४९५॥

स्वातन्त्र्य-रूप अहं-विमर्श से शून्य बोधात्मक विज्ञान मात्र स्वरूप होने से उन्हें "विज्ञानकेवल" कहा जाता है ॥४९५॥

प्रलयाकलस्वरूपम्

शून्ये प्राणेऽथवा बुद्धौ जडेऽबोधात्मके त्वहम् ।
इत्युल्लासवतां येषां कर्तृत्वं प्रविजृम्भते ॥४९६॥
स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधत्वमित्यंशेनाणवेन ते ।
आवृता अकलाः प्रोक्ताः कर्तारः प्रलयाकलाः ॥४९७॥

प्रलयाकल-प्रमाता का स्वरूप

अबोध अत एव जडात्मक-शून्य, प्राण अथवा बुद्धि में "अहम्"-उल्लास वाले जिनकी कर्तृता विजृम्भित होती है; वे स्वस्वातन्त्र्य के

अज्ञानरूप आंशिक आणव-मल द्वारा आवृत होने से कर्तृरूप "अकल" अथवा "प्रलयाकल" कहलाते हैं ॥४९६-४९७॥

अस्य द्विविधत्वम्

भिन्नवेद्य प्रथाप्येषां मायिकेन मलेन तु ।
सवेद्य-रूप-सौषुप्त-पदे न त्वपवेद्य के ॥४९८॥

द्विविध प्रलयाकल के स्वरूप

प्रलयाकलों को सवेद्य अर्थात् स्वप्नरूप सुषुप्ति में मायिक मल द्वारा भिन्नरूप से वेद्य का प्रथन होता है किन्तु अपवेद्य अर्थात् गाढ़ सुषुप्ति में नहीं होता ॥४९८॥

शून्यादिभाग विश्रान्ता गाढ़निद्रावशीकृताः ।
सन्त्यपवेद्यसौषुप्तपदे मायामलं विना ॥४९९॥

शून्य, प्राण और बुद्धिभाग में विश्रान्त तथा गाढ़ निद्रा के वशीभूत ये प्रलयाकल गाढ़ सुषुप्ति में माया-मल-शून्य रहते हैं ॥४९९॥

अवशिष्टसुखाद्यात्मभिन्नवेद्यप्रथाजुषः ।
बुद्धयादिभागविश्रान्ताः सवेद्ये सन्ति तत्पदे ॥५००॥

ये प्रलयाकल स्वप्नावस्था में बुद्धि, प्राण अथवा शून्य विश्रान्त होने पर जाग्रदवस्था से अवशिष्ट सुखदुःखादिरूप भिन्न वेद्य की प्रथा से युक्त रहते हैं ॥५००॥

अस्य लक्षणम्

स्थूलदेहेन्द्रियाद्यात्म यत्कार्यकरणादिकम् ।
तद्वियोगस्वरूपत्वं प्रलयाकललक्षणम् ॥५०१॥

प्रलयाकल का लक्षण

स्थूल-देह, इन्द्रिय, भुवनादिरूप कार्य-करणादि का वियोग अर्थात् नहीं रहना ही "प्रलयाकल" का लक्षण हैं ॥५०१॥

एतदस्त्युभयोरेवावस्थयोरेकरूपकम् ॥५०२।१॥

स्थूलकार्यकरणादिवियोगरूपता स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओं में तुल्य ही हैं ॥५०२।१॥

प्रलयेन कृतास्तावत् तथाभूता भवन्ति ते ॥५०२।२॥
यावन्न वासनारूपधर्माधर्मात्मको मलः ।
कार्मः पुनरुदेत्येव प्रलयान्ते समागते ॥५०३॥

प्रलय द्वारा स्थूल कार्य-करणादि की वियोगरूपता को प्राप्त प्रलयाकल तब तक स्थित रहते हैं जब तक संस्काररूप में स्थित धर्माधर्मरूप कार्ममल उदित नहीं हो जाता। धर्माधर्म-संस्काररूप कार्ममल प्रलय अर्थात् निद्रा समाप्ति होने पर पुनः आरम्भ होता है ॥५०२।२।५०३॥

विद्येश्वरस्वरूपम्

आणवकार्ममलाभ्यां च हीना, मायामलान्विताः ।
सर्वज्ञाः सर्वकर्तारो मता विद्येश्वराश्च ते ॥५०४॥

विद्येश्वर का स्वरूप

आणव और कार्म-मलों से शून्य, केवल माया-मल से युक्त सर्वज्ञ सर्वकर्ता-विद्येश्वर कहलाते हैं ॥५०४॥

संसारोत्तीर्णरूपत्वात् त्यक्तधर्मादिवासनाः ।
अहमित्युल्लसन्तश्च पश्यन्त्यात्मतया चितम् ॥५०५॥
किन्तु वेद्यतया ह्येषां कार्यत्वेनापि भाति च ।
यद्भिन्नं तनुकरणभुवनाद्यपि सत्तया ॥५०६॥
अतो भिन्नावभासत्वान्मायैकमलताजुषः ।
सन्त्यनन्तादयः सर्वे विद्येश्वरपदाभिधाः ॥५०७॥

विद्येश्वर-गण संसार के परे होने से धर्माधर्मसंस्कार से वर्जित अहम्-उल्लास अर्थात् शुद्धकर्तृत्व से युक्त रहते हैं। ये समस्त वेद्य को चिन्मयरूप में देखते हैं। किन्तु वेद्य और कार्य रूप से इन्हें अपने से भिन्न शरीर,

इन्द्रिय और भुवनादि सद्रूप से भासित होते हैं। अतः भिन्न वेद्य के अव-भासन से अनन्त-प्रभृति समस्त विद्येश्वर केवल माया-मल से युक्त हैं।
॥५०५-५०७॥

या वेद्यादपृथग्भूतरूपता पूर्णता मता।
भाति सा तत्र नत्वत्र सदाशिवेश्वरोचिता ॥५०८॥

वेद्य-पदार्थ का भिन्नतया भान न होना ही पूर्णता है। यह सदाशिव और ईश्वर-तत्त्वों में विद्यमान और भासमान होती है ॥५०८॥

सकलाभिधस्य भविनो द्वैविध्यम्

मलत्रयेण सम्बद्धा मायातत्त्वान्तरस्थिताः।
देवादिस्थावरान्ता ये भविनस्ते द्विधा मताः ॥५०९॥

द्विविध सकलसंज्ञक संसारी के स्वरूप

आणव, मायिक और कार्म-तीनों मलों से युक्त माया-गर्भ में स्थित देवता से स्थावर-पर्यन्त समस्त सकल-संज्ञक संसारी दो प्रकार के हैं—पशु और मुक्त ॥५०९॥

मलत्रयोद्भवतिरोभावभेदाद् विभेदितः।
द्विधा भिन्नोऽस्ति सकलः पशुता-मुक्तता-युतः ॥५१०॥

"सकल" संसारी मलत्रय के प्रादुर्भाव और तिरोभाव के भेद से क्रमशः "पशुता" और "मुक्तता" से युक्त होते हैं ॥५१०॥

पशवः सकलाः

सर्वेषां त्रिदशादीनां संविद्भागस्य मज्जनात्।
चिद्रूपस्य च तत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यं न्यक्कृतं मलैः ॥५११॥

पशु की "सकल" संज्ञा है

देवादि स्थावरान्त समस्त "सकल" के संविद् अंश के निमज्जित हो जाने से मलों द्वारा चिद्रूप का स्वातन्त्र्य निषिद्ध अर्थात् अपलपित हो जाता है ॥५११॥

तदनुप्राणितं पश्चात् कलया कर्तृतामयम् ।
शून्यादिदेहपर्यन्त मायामातृषु संस्थितम् ॥५१२॥

पुनश्च स्वातन्त्र्य, कला-द्वारा किञ्चित्कर्तृता से युक्त होकर शून्य से देह पर्यन्त माया-प्रमाताओं में स्थित होता है ॥५१२॥

इदन्तापन्नशून्यादिमितमातृस्थितत्वतः ।
मितं प्रमेयतापन्नमप्रधानतथा स्थितम् ॥५१३॥

इदन्ता-युक्त शून्यादि, मितप्रमाता में अहम्भाव रहने से मित-प्रमेय-रूपता की प्रधानता और शुद्ध-प्रमातृता की अप्रधानता रहती है ॥५१३॥

यो गौरो यः सुखी चायं बुभुक्षुर्वा पिपासितः ।
यः सर्वरूपरहितः शून्यः सोऽहमसंशयम् ॥५१४॥

मैं गौरवर्ण हूँ, सुखी हूँ, भूखा हूँ, प्यासा हूँ और सर्वरूप से वर्जित शून्य-रूप हूँ—॥५१४॥

इत्थमन्तर्विलीनाहम्भावेदन्तावगाहिनी ।
परिस्फुरति संसारावस्था संसारिणामियम् ॥५१५॥

उपर्युक्त प्रकार से अन्तर्विलीन अहम्भाव को इदन्तया अवगाहन करने वाली संसारी की संसारावस्था स्फुरित होती है ॥५१५॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तात्मावस्था संसारिणामियम् ।
याभिः परिवृतो नित्यं सकलोऽयं पशुः स्मृतः ॥५१६॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये संसारी की संसारावस्था के रूप हैं । इन अवस्थाओं से नित्य परिवृत "सकल"—"पशु" कहलाते हैं ॥५१६॥

त एव मुक्ता ये समाविष्टास्तुर्यदशापन्नाः

अहम्भावेन तेनैव स्वातन्त्र्येण यदा पुनः ।
परामृशंश्च नित्यत्वपूर्णत्वाद्यपि चात्मनि ॥५१७॥

तस्मादुन्मज्ज्य शून्यादिमेयान्मातुश्चिदात्मनि ।
तिष्ठतीव तदा तस्य तुर्यातीता दशा भवेत् ॥५१८॥

समावेश-दशा-प्राप्ति-पुरःसर तुर्यदशाप्राप्त की मुक्तता का अभिधान

उसी अहमात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य द्वारा पुनः जब स्व में नित्यत्व, पूर्णत्व आदि का परामर्श करता हुआ शून्यादि-देहान्त मित-प्रमातृता से उपर उठकर चिद्रूप में ठहरता है तब यह सकल तुर्यातीत-दशा में अवस्थित हो जाता है ॥५१७-५१८॥

यदा सिद्धरसेनेवाहम्भावेनैव विध्यते ।
नित्यैश्वर्यादि सम्भिन्नस्वातन्त्र्येणापि योगिना ॥५१९॥

शून्यादिदेहधात्वन्तं तदा देहादिरप्यसौ ।
प्रमेयतां परित्यज्याध्यास्ते तुर्यदशामिव ॥५२०॥

जव योगी नित्य ऐश्वर्य आदि से अभिन्न स्वातन्त्र्य-संज्ञक "अहम्"—विमर्शरूप सिद्धरस (पारद) से शून्यादि-देहान्त-रूप धातु का वेधन करता है तब देहादि भी प्रमेयरूपता का परित्याग कर तुर्यदशा (चिद्रूपता) को प्राप्त होता है ॥५१९-५२०॥

सेयं द्वय्यपि जीवानां मुक्तावस्थेति कथ्यते ॥५२१।१

उपर्युक्त तुर्यातीत और तुर्य-दोनों अवस्था जीवों की मुक्तावस्था है ।
॥५२१।१॥

समावेशोपि शास्त्रेऽस्मिन् सम्यगावेशनात्मकः ॥५२१॥

मय्यावेश्य मनो ये मामित्यादि भगवद्वचः ।
अस्यार्थस्यैव कुरुते व्यक्तिं वीरार्जुनं प्रति ॥५२२॥

इस शास्त्र में समावेश का अर्थ है—सम्यक् रूप से चिद्रूप हो जाना । "मय्यावेश्य मनो ये माम्"--(अहम्भाव में अपने को आविष्ट कर)—इत्यादि गीता-वाक्य भी वीर अर्जुन को उपर्युक्त अर्थ की ही अभिव्यक्ति करता है ॥५२१।२-५२२॥

यस्माच्चितस्तु मुख्यत्वं कर्तृताया विभाव्यते ।
तत एव च शून्यादेर्गुणीभावोऽपि जायते ॥५२३॥

उत्तमकर्तृता अर्थात् शुद्ध-चिद्रूप में अहंविमर्श होने से शून्यादि देह-पर्यन्त में गौण हो जाता है ॥५२३॥

अचिद्रूपे गुणीभूते स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
इत्यासीद् यः पुरा मलव्यापारः सोऽपहस्तितः ॥५२४॥

अचिद्रूप देहादि के गौण हो जाने से स्वातन्त्र्य के अज्ञान रूप आणव-मल का व्यापार जो पहले था वह सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥५२४॥

अतो योऽप्यपरोऽप्यात्मभागो मलतिरस्कृतः ।
बोधात्मा सोऽधुनोन्मग्नो भाति मुख्यत्वमागतः ॥५२५॥

अतएव मल से तिरस्कृत बोधस्वरूप आत्मभाग उमड़ उठता है अर्थात् बोध-विमर्श ही प्रधान हो जाता है ॥५२५॥

समावेशलक्षणम्

चिदात्मनो हि मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणम् ।
अज्ञानात्ममल-द्वेषि ज्ञानमप्येतदुच्यते ॥५२६॥

समावेश का लक्षण

चिदात्मा की मुख्यता ही समावेश का लक्षण है अर्थात् देहादिभिन्न बोधरूप चित् में अहं-विमर्श होना ही समावेश कहलाता है। अज्ञानरूप मल का विनाशक होने से इसे ज्ञानशब्द से भी कहा जाता है ॥५२६॥

समावेशदशापन्नो देहस्थः सकलोऽप्ययम् ।
मुक्त इत्युच्यते शास्त्रे पतिश्चापि भवत्यसौ ॥५२७॥

समावेश दशा की प्राप्ति से देह में रहता हुआ भी सकल-प्रमाता मुक्त कहलाता है अर्थात् पशुपति हो जाता है—ऐसा शास्त्र में बताया गया है ॥५२७॥

ज्ञानियोगिनोर्भेदः

समावेशदशालाभतुष्टो ज्ञानीति कथ्यते ।
एतदभ्याससम्प्राप्तैश्वर्यो योगी मतो हि नः ॥५२८॥

ज्ञानी और योगी में अन्तर का कथन

समावेश दशा की प्राप्तिमात्र से सन्तुष्टजन "ज्ञानी और समावेश दशा के अनवरत अभ्यास से ऐश्वर्य-शाली जन "योगी" कहलाते हैं—यह शैवागम-सम्मत है ॥५२८॥

रागाख्यकञ्चुकम्

आणवेऽङ्कुरितप्रायं रागे मुकुलितं पुनः ।
बुद्धौ फुल्लं च फलितं भातीदं विश्ववैभवम् ।।५२९।।

रागसंज्ञक कञ्चुक का निरूपण

यह संसार आणव-मल में अङ्कुरित-प्राय, राग में पल्लवित और बुद्धि में पुष्पित-फलित अर्थात् पूर्ण विकस्वर रूप में भासित होता है ।।५२९।।

इत्थमिच्छात्मिकैवेयं लोलिकैव यदा पुनः ।
सामान्याकारविषया किञ्चिन्मे भवतादिति ।।५३०।।
तदा भवति पुंधर्मो रागः कञ्चुकमध्यगः ।।५३१।१।।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इच्छारूप "लोलिका" ही जब पुनः "किञ्चिन्मे भवताद्"—(कुछ मुझे होवे) इस प्रकार सामान्याकार विषयक–होती है तब कञ्चुक मध्यवर्ती पुरुषधर्म-विशेष राग-रूप हो जाती है ।।५३०-५३१।१।।

मायिकोऽप्यपरो योऽस्ति सांख्यशास्त्रसमीहितः ।।५३१।२।।
बुद्धिधर्माभिधो रागः सोऽपीयं बहिरागता ।
तत्तद्विशेषविषयाऽध्यवसाय पदाभिधः ।।५३२।।

सांख्य-शास्त्र में बुद्धि-धर्मतया अभ्युपगत जो अपर मायिक राग है वह भी बाह्यरूपता को प्राप्त कर तत्-तद् विशेष विषयक अध्यवसाय कहलाता है ।।५३१।२-५३२।।

किञ्चित्त्वस्य तु सर्वत्र सत्त्वेऽप्यत्रैव यत्पुनः ।
आसङ्गो रागतत्त्वं तत् पशोः कल्प्यं तु कञ्चुकम् ।।५३३।।

"किञ्चित्त्व"–सामान्य की सर्वत्र सत्ता रहने पर भी नियत-विषय में पुनः आसङ्ग ही पशुकल्पित "राग"-रूप कञ्चुक-विशेष है ।।५३३।।

कालः

मायीयं यच्च कर्तृत्वं क्रियया रूषितं पशोः ।
भावाभावावभासात्मक्रमरूपाच्च कालतः ।।५३४।।

करोम्यहं करिष्यामीत्याद्यात्मन्यवभासते ।
ततः कालपरिच्छिन्नकर्त्तृत्वप्रविभासकम् ।।५३५।।

कालतत्त्वमिदं प्रोक्तं कञ्चुकान्तर्गतं पुनः ।।५३६।१।।

कञ्चुक-गत काल-तत्त्व का स्वरूप

पशु-प्रमाता की क्रिया-संवलित मायीय-कर्तृता भाव और अभाव के अवभासनात्मक क्रम-भान से काल द्वारा मैं करता हूँ, करूँगा—इत्यादि-रूप से "स्व" में भासित होती है। इस प्रकार काल से परिच्छिन्न कर्तृता का भासन करने वाला कञ्चुक मध्यवर्ती काल-तत्त्व स्वीकारा गया है ।।५३४-५३६।१।।

नियतिः

अस्मात् कारणतश्चेदं कार्यं सिद्ध्यति नान्यतः।। ५३६।२।।

इत्येवं नियमयन्ती नियतिः कञ्चुकात्मिका ।
तुषकम्बुकसंकाशैः कञ्चुकैः परिवेष्टितः ।।५३७।।

उच्यते शिव एवात्र पुद्गलोऽणुः पुमानपि ।।५३८।१।।

नियत का स्वरूप

इसी कारण से यह कार्य होता है अन्य से नहीं—इस प्रकार नियमन करने वाली शक्ति कञ्कुकान्तर्वर्त्ती "नियति" तत्त्व है। इस शास्त्र में तुष और कम्बुक-सदृश रागादि कञ्चुकों से आवृत शिव ही "पुद्गल", "अणु" और "पुरुष" कहलाता है ।।५३६।२-५३८।१।।

प्रधानम्

कलाया योऽपरो भागो विशेषणतया स्थितः ।।५३८।२।।
किञ्चिदंशस्ततो जातं प्रधानं वेद्यमात्रकम् ।।५३९।१।।

प्रधान-तत्त्व का निरूपण

"किञ्चित् कर्तृता"-रूप कला के कर्तृतांश से भिन्न, विशेषण रूप से स्थित "किञ्चिद्"-भाग से उत्पन्न प्रधान" शुद्ध वेद्यमात्र हैं। उसमें विशेष-रूपता नहीं है ॥५३८।२-५३९।१॥

परस्पराऽवियुक्तं सद् यत्सापेक्षमिव स्थितम् ॥५३९।२॥
भोक्तृभोग्यात्मकं द्वन्द्वं तत्कलैव प्रसूयते ॥५४०।१॥

परस्पर सापेक्ष रूप से स्थित भोक्ता और भोग्य रूप द्वन्द्व को कला ही उत्पन्न करती है ॥५३९।२-५४०।१॥

गुणतत्त्वम्, यच्च क्षुब्धं प्रधानमेव

यत्सामान्यात्मकं वेद्यरूपमव्यक्तसंज्ञकम् ॥५४०।२॥
गुणतत्त्वं तदेव स्यात् प्रधानं क्षुब्धतां गतम् ॥५४१।१॥

क्षुब्ध-प्रकृतिरूप गुणतत्त्व का निरूपण

सामान्य-वेद्य-रूप अव्यक्त-संज्ञक प्रधान ही क्षुब्ध होने से "गुण" तत्त्व कहलाता है ॥५४०।२-५४१।१॥

अक्षुब्धाच्च विजातीयं कार्यं यस्मान्न सम्भवेत् ॥५४१।२॥

ततः क्षुब्धत्वमापन्नं गुणतत्त्वान्तरं स्मृतम् ।
भुवनान्यपि भिन्नानि दर्शितान्यत्र चागमे ॥५४२॥

अक्षुब्ध प्रधान से विजातीय कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत-एव क्षुब्धतापन्न प्रधान अर्थात् "गुण" को पृथक् तत्त्व बताया गया है। आगम में गुण-तत्त्व के अन्दर विभिन्न भुवनों का वर्णन पाया जाता है ॥५४१।२-५४२॥

मालिनीविजये नास्ति गुणतत्त्वान्तरं त्विदम् ।
तन्त्रालोकेऽथ स्वच्छन्दे स्वशब्देनैव स्वीकृतम् ॥५४३॥

मालिनी-विजय में गुण तत्त्व पृथक् नहीं माना गया है। "तन्त्रालोक" और "स्वच्छन्द तन्त्र" में इसे गुणशब्द से ही स्पष्ट रूप में स्वीकारा गया हैं ॥५४३॥

तत्र श्रीक्षेमराजेन प्रोक्तं जयरथेन च ।
गुणसाम्यस्वरूपायाः प्रकृतेर्न विलक्षणा ॥५४४॥
सत्त्वोत्कर्षात्मिका बुद्धिर्मध्ये यावन्न जायते ।
किञ्चिदुच्छूनतारूपं यथा बीजान्नवाङ्कुरः ॥५४५॥
अतः प्रकृतितत्त्वानतिभिन्नव्यपदेशभाक् ।
जायते गुणतत्त्वं तत् प्रकृतिं बुद्धिमन्तरा ॥५४६॥
किञ्चिदुच्छूनतापन्नबीजस्यापि तथैव हि ।
दृष्टा व्यवहृतिर्बीजशब्देनैव तथैव हि ॥५४७॥
सम्प्राप्तोच्छूनभावायाः प्रकृतेर्या गुणात्मता ।
सापि प्रकृतिनाम्नैव स्वीकृता यत्र तत्र नो ॥५४८॥
स्वीकृतं गुणतत्त्वं तु संक्षिप्तव्यवहारिणा ॥५४९।१॥

स्वच्छन्द-तन्त्र में क्षेमराज और तन्त्रालोक टीका में जयरथ ने कहा है—सत्त्व, रजस् और तमस्-तीनों गुणों की साम्यावस्था-रूप प्रकृति से सत्त्वोत्कर्ष-रूप विलक्षण "बुद्धि"-तत्त्व तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक बीज से अङ्कुरोत्पत्ति की तरह मध्य में किंचिदुच्छूनता अर्थात् हलचल रूप क्षुब्धता न मानी जाय। अतः प्रकृतितत्त्व से ईषद्भिन्न गुणतत्त्व उत्पन्न होता है। यह प्रकृति और बुद्धि का मध्यवर्ती है। जैसे किञ्चि-दुच्छूनतावस्था में बीजशब्द से ही व्यवहार किया जाता है वैसे ही किञ्चिदुच्छूनता-वस्था (गुणावस्था) में भी जिस ग्रन्थ में प्रकृति शब्द से ही व्यवहार किया गया है; उसमें संक्षिप्तरूप से व्यवहार करने वाले ग्रन्थ-कार ने "गुणतत्त्व" का पृथक् अङ्गीकार नहीं किया है ॥५४४-५४९।१॥

श्रीमद्भागवते प्रोक्तं श्रीकृष्णेनोद्धवं प्रति ॥५४९।२॥
अन्तर्भाव्य बहिर्भाव्य तत्त्वसंख्या विभेदिता ।
मुनिभिस्तेन संख्याया भ्रमस्त्याज्यः सुबुद्धिभिः ॥५५०॥

"श्रीमद्भागवत" महापुराण में श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—मुनि-जनों ने तत्त्वों के अन्तर्भाव और बहिर्भाव द्वारा उनकी विभिन्न संख्याओं

का निर्धारण किया है। अतः बुद्धिमान् जनसंख्या-भेद-विषय भ्रम का त्याग करें ॥५४९।२-५५०॥

बुद्धितत्त्वम्

गुणेभ्यो बुद्धितत्त्वं तत् सर्वतो निर्मलं पुनः ।
जायते यत्र वेद्यस्य पुंसश्च प्रतिबिम्बनम् ॥५५१॥

बुद्धितत्त्व का निरूपण

अत्यन्त स्वच्छ बुद्धि-तत्त्व, गुणों से उत्पन्न होता है। इसमें वेद्यवस्तु और पुरुष का प्रतिबिम्ब होता है ॥५५१॥

वृत्त्यात्मास्य जडो बोधो यद्यप्यस्ति स्वभावतः ।
वेद्यावभासको जातो बोधात्मा पुंप्रकाशतः ॥५५२॥

यद्यपि बुद्धि की बोधात्मक-वृत्ति स्वभावतः जड है तथापि वह पुरुष के प्रकाश से बोधरूप होकर वेद्य का अवभासन करती है ॥५५२॥

विषयप्रतिबिम्बं तु बुद्धावक्षकृतं क्वचित् ।
स्वोपस्थापितमेवास्ति स्वप्नोत्प्रेक्षादिषु क्वचित् ॥५५३॥

जाग्रत्कालीन घटादि विषय का इन्द्रिय द्वारा बुद्धि में प्रतिबिम्ब होता है और स्वप्न, उत्प्रेक्षा, मनोराज्य-प्रभृति अवस्था में बुद्धि से उपस्थापित विषयों का ही बुद्धि में प्रतिबिम्ब होता है ॥५५३

अहङ्कारः

करणत्वमिवास्त्येव बुद्धेः कारणतापि च ।
अतो बुद्धेरहंकारः प्रतिबिम्बात्मवस्तुनि ॥५५४॥
प्रकाशे वेद्यकलुषे जातोऽहम्मननात्मकः ॥५५५।१॥

अहङ्कार तत्त्व का निरूपण

बुद्धि पुरुष का अन्तःकरण और अहङ्कार का कारण है। अतएव प्रतिबिम्बात्मक वेद्य-कलुषित प्रकाश में बुद्धि-तत्त्व से अहम्-मनन रूप "अहंकार" उत्पन्न होता है ॥५५४-५५५।१

संरम्भरूपया वृत्त्याऽहंकारस्य प्रवर्तितः ॥५५५।२॥
वायुः प्राणादिरूपोऽयं जीवनाय प्रवर्तते ।
वायोरप्रेरणे मृत्युरिति शास्त्रे विनिश्चितम् ॥५५६॥

अहंकार की संरम्भात्मक वृत्ति द्वारा प्रवर्तित प्राणादि-वायु ही जीवन-हेतु है । वायु की प्रेरणा न होने से मृत्यु हो जाती है—ऐसा शास्त्र में कहा गया है ॥५५५।२-५५६॥

कृत्रिमोऽयमहंकारोऽतोऽहंकारः प्रकथ्यते ।
स्वातन्त्र्याहंस्वभावात्मा विशुद्धात्मा त्वहमुच्यते ॥५५७॥
इत्ययं करणस्कन्धोऽहंकारस्य निरूपितः ॥५५८।१॥

वेद्य-कलुषित प्रकाश में "अहम्"-अभिमान कृत्रिम है । अतएव इसे अहंकार कहा जाता है । स्वातन्त्र्यरूप नित्यस्पन्द से अभिन्न विशुद्ध अहम्-विमर्श "अहम्" कहलाता है इस प्रकार अहंकार के करण-स्कन्ध का निरूपण किया गया । अब इसकी प्रकृति-रूपता का निरूपण करूँगा ।
॥५५७-५५८।१॥

अहङ्कारस्य त्रिविधप्रकृतिस्कन्धः

त्रिधास्य प्रकृतिस्कन्धः सात्त्वराजसतामसाः ॥५५८।२॥

अहंकार के त्रिविध प्रकृतिस्कन्ध का निरूपण

अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस-तीनरूपों में सृष्टि करता है ॥५५८।२॥

बुद्धीन्द्रियाणि

बुद्धीन्द्रियाण्यहंकारात् सात्त्विकान्मनसा सह ।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा प्रजायन्ते च नासिका ॥५५९॥

ज्ञानेन्द्रियों का निरूपण

सात्त्विक अहंकार से मन और श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण रूप ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं ॥५५९॥

मनः

सर्वतन्मात्रकर्तृत्वविशिष्टात्तु मनो यतः ।
नान्यवन्नियतग्राहि सर्वमेवावगाहते ॥५६०॥

मनस्तत्त्व का निरूपण

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप पञ्च-तन्मात्र के हेतुभूत अहंकार से उत्पन्न होने से मन अन्य इन्द्रिय (श्रोत्रादि) की तरह शब्दादि नियत विषय का ही नहीं अपितु समस्त विषय का अवगाहन करता है ॥५६०॥

अध्यवसायसंरम्भविकल्पा याः क्रियाः पृथक् ।
तत्रैषां करणत्वात्त्वन्तः करणमिदं त्रयम् ॥५६१॥

अध्यवसाय (निश्चय) संरम्भ (गर्व) और विकल्प (संकल्प) रूप क्रियाओं के प्रति असाधारण कारण होने से बुद्धि, अहंकार और मन-तीनों "अन्तःकरण" कहलाते हैं ।५६१॥

तत्तत्तन्मात्रहेतुत्वविशिष्टाहंकृतिर्यतः ।
तस्य तस्येन्द्रियस्यास्ति जनिकेतीन्द्रियं पुनः ॥५६२॥
चक्षुरादिस्वविषये नियते ह्येव वृत्तिमत् ।
वृत्तिरेषां तु पञ्चानामालोचनमिति स्मृतम् ॥५६३॥

रूपादि एक-एक तन्मात्र का कारणरूप अहंकार एक-एक चक्षुरादि इन्द्रिय का जनक है। अतः चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय रूपादि नियत विषय में ही वृत्तिमान् होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ "आलोचन" कहलाती हैं ॥५६२-५६३॥

कर्मेन्द्रियाणि

राजसादप्यहंकाराज्जातमिन्द्रियपञ्चकम् ।
कर्मेन्द्रियं तद् वाक्पाणिपायूपस्थाङ्घ्रिनामकम् ॥५६४॥

कर्मेन्द्रियों का निरूपण

राजस अहंकार से वाणी, हाथ, गुदा, प्रजनन और पैर-पाँच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं ॥५६४॥

तन्मात्रपञ्चकम्

तमःप्रधानाहङ्काराद् भोक्त्रंशच्छादनात्मनः ।
भूतादि नाम्नस्तन्मात्रपञ्चकं भूतकारणम् ॥५६५॥

पंच तन्मात्रों का निरूपण

भोक्त्रंश के आच्छादक भूतादिसंज्ञक तामस अहंकार से आकाशादि पाँच भूतों के कारण "पञ्चतन्मात्र" उत्पन्न होते हैं ॥५६५॥

सात्त्विकस्तामसश्चायं निष्क्रियो न क्षमो यतः ।
स्वस्वकार्याभिजननेऽतो राजसमपेक्षते ॥५६६॥

सात्त्विक और तामस अहंकार निष्क्रिय होने से स्व-स्व-कार्य के उत्पादन में सक्षम नहीं हैं । अतः ये राजस अहंकार की अपेक्षा करते हैं ॥५६६॥

यत्सामान्यं हि गन्धत्वं विचित्रे गन्धमण्डले ।
तत्तन्मात्रमिति प्रोक्तमित्थमेव रसादिषु ॥५६७॥

विविध गन्ध-समूह में विद्यमान गन्धत्व सामान्य ही गन्धतन्मात्र कहलाता है इसी प्रकार रस-रूप-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रों के विषय में भी समझना चाहिये ॥५६७॥

आकाशादि पञ्च भूतानि

वाच्याध्याससहः शब्दो नभः सर्वावकाशदम् ।
शब्दतन्मात्रमेवातः क्षुभितं नभ इव स्थितम् ॥५६८॥

आकाशादि पाँच भूतों के स्वरूप

अभेदेन समस्त अर्थ का अधिष्ठान शब्द है और समस्त वस्तु को अवकाश प्रदान करने वाला (अधिकरण) आकाश है । अतएव क्षुभित शब्दतन्मात्र ही आकाशरूप से स्थित है ॥५६८॥

तदेव स्पर्शतन्मात्रयोगात् प्रक्षुभितं पुनः ।
वायुः क्षुब्धाम्बर इव शब्दस्पर्शोभयात्मकः ॥५६९॥

पुनश्च स्पर्शतन्मात्र के योग से प्रक्षुभित शब्दतन्मात्र-रूप आकाश ही शब्द और स्पर्श-गुणों से युक्त वायुतत्त्व कहलाता है ॥५६९॥

इमौ तु रूपेण समं प्रक्षुब्धौ त्रिगुणान्वितम् ।
तेजस्तानि सह रसैरापः स्युश्च चतुर्गुणाः ॥५७०॥

ये शब्द-स्पर्श-तन्मात्र ही रूपतन्मात्र के योग से प्रक्षुभित होकर शब्द-स्पर्श-रूप-गुणों से युक्त "तेजस्"-तत्त्व कहलाते हैं। एवम् रसतन्मात्र के योग से प्रक्षुभित शब्द-स्पर्श-रूप-तन्मात्र ही शब्दादि चार गुणों से युक्त "जल" तत्त्व कहलाते हैं ॥५७०॥

गन्धतन्मात्रसहिताः प्रक्षुब्धत्वसमाश्रिताः ।
इमाः शब्दादितन्मात्राः पृथ्वी पञ्चगुणान्विता ॥५७१॥

"गन्ध"-तन्मात्र के साथ प्रक्षुभित शब्द, स्पर्श, रूप, रस-तन्मात्र ही शब्दादि पाँच गुणों से युक्त "पृथ्वी" तत्त्व है ॥५७१॥

गन्धादिधर्मसंघातव्यतिरिक्ता न काचन ।
भूर्विभातीति तन्मात्रमात्रं पृथ्व्यादि पञ्चकम् ॥५७२॥

गन्धादि पाँच धर्मों से अतिरिक्ततया "पृथिवी" तत्त्व भासित नहीं होता, अतः यह तन्मात्रों से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, प्रत्युत उन्हीं का स्थूल रूप है ॥५७२॥

नहि धर्मातिरिक्तोऽत्र धर्मो कश्चन विद्यते ।
षष्ठीप्रयोगो धीभेदाद् भेद्यभेदकतादि च ॥५७३॥

इस शास्त्र में धर्म से अतिरिक्त धर्मी की सत्ता नहीं है। बुद्धि-भेद से ही "राहोः शिरः" की तरह "पृथिव्याः गन्धः" इत्यादि षष्ठी (सम्बन्ध) का प्रयोग और भेद्य-भेदक-भाव आदि उपपन्न होते हैं ॥५७३॥

भुवनानि

प्रतितत्त्वमनेकानि भुवनानि पुराणि वा ।
तदधिष्ठातृरुद्राश्च निग्रहानुग्रहेश्वराः ॥५७४॥

भुवनों का निरूपण

प्रत्येक तत्त्व में अनेक भुवन अथवा पुर और निग्रहानुग्रह समर्थ उनके अधिष्ठाता रुद्र हैं ॥५७४॥

सन्ति नामानि तेषां तु स्वयं कल्प्यानि तानि वा ।
शास्त्रेषूक्तानि सन्त्येव कथ्यन्तेऽपि कियन्त्यपि ॥५७५॥

भुवनों के नाम शास्त्रों में बताये गये हैं। कतिपय नाम तो अधिष्ठातृ-देवों के नामों द्वारा कल्पित किये गये हैं सम्प्रति उन्हें बताता हूँ ॥५७५॥

पृथ्वीतत्त्वात् समारभ्य गुणं यावत् पुराणि तु ।
मुख्यान्येव न गौणानि सप्ताधिकशतद्वयम् ॥५७६॥

अन्तर्बहिरधस्ताच्च भूमेरष्टोत्तरं शतम् ।
जलाद्याकाशतत्त्वेषु प्रत्येकं नव सन्ति च ॥५७७॥

तन्मात्रेषु च सन्त्यष्टाविन्द्रियेषु तथैव च ।
मनस्येकं चन्द्रमसोऽहंकारेषु नवैव च ॥५७८॥

बुद्धौ द्वात्रिंशदेव स्युर्गुणे पंक्तित्रयं पुनः ।
इत्थं जयरथेनोक्तं तन्त्रालोकाष्टमाह्निके ॥५७९॥

"पृथिवी" से "गुण" तत्त्व पर्यन्त २०७ मुख्य भुवन हैं। तथाहि—पृथिवी तत्त्व के मध्य, बाह्य और अधोभाग में एक सौ आठ भुवन हैं। पृथिवी के अन्दर कालाग्नि, कूष्माण्ड, हाटक, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के छः भुवन हैं। पृथिवी के बाहर दशों दिशाओं में शतरुद्र के सौ भुवन और इनके ईश वीरभद्र का एक भुवन है। एवं पृथिवी के अधोभाग में अनन्त या मूलकेश शिव का एक भुवन है। इस प्रकार पृथिवी तत्त्व के मध्य, बाह्य और अधोभाग में एक सौ आठ भुवन हैं।

जल, तेज, वायु और आकाश-प्रत्येक में ९ (नौ) भुवन हैं—इनका योग ३६ (छत्तीस) होता है।

पञ्च तन्मात्र में आठ और इन्द्रियों में दश भुवन हैं। मन में एक भुवन है। इसके अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं। अहंकार में नौ भुवन हैं।

बुद्धि में बत्तीस और "गुण" तत्त्व में तीन गुरु-पङ्क्ति हैं। इस प्रकार जलादि-गुणतत्त्वान्त में भुवनों की संख्या निन्यानवें है।

उपर्युक्त प्रकार से तन्त्रालोक के अष्टम आह्निक में टीकाकार जयरथ ने दो सौ सात भुवनों का निरूपण किया है ॥५७६-५७९॥

संक्षिप्त तालिका

तत्त्वनाम	भुवन संख्या
पृथिवी	१०८
जलादिचतुष्टय	३६
तन्मात्रपञ्चक	८
इन्द्रिय	१०
मन	१
अहंकार	९
बुद्धि	३२
गुण	३
	योग—२०७

स्वच्छन्दे क्षेमराजेन चतुर्थे दशमेऽपि च।
दीक्षामुद्दिश्य संक्षिप्तां पृथिव्यण्डस्थितानि तु ॥५८०॥
भुवनानि यथापूर्वमष्टोत्तरशतं पुनः।
जलादिगुणतत्त्वान्ते सप्ताधिकशतद्वयम् ॥५८१॥
प्रोक्तानि तानि दर्श्यन्ते भुवनानि यथाक्रमम् ॥५८२।१॥

स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ और दशम पटल में आचार्य क्षेमराज ने संक्षिप्त दीक्षा को उद्देश्य कर पूर्ववत् पृथिव्यण्ड में एक सौ आठ भुवन और "जल" तत्त्व से "गुण" तत्त्व पर्यन्त दो सौ सात भुवन बताये हैं। उन भुवनों को क्रमशः बताता हूँ ॥५८०-५८२।१॥

कुत्रचिद् भुवनानां वै तदीशानां च कुत्रचित् ॥५८२।२॥
केवलं सन्ति नामानि शास्त्रे वच्म्यप्यहं तथा।
ब्रह्माण्डान्तरधोभागे कालाग्निः कूष्महाटकौ ॥५८३॥

भूलोकेशः शिवो मध्ये सत्यान्तं ब्रह्मणः स्थितिः ।
स्वामिनौस्तस्तदुपरि विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोः ॥५८४॥
इत्थं सप्तबही, रुद्रशतं दिक्षु दशस्वपि ।
वीरभद्रस्तु सर्वेषां स्वामीत्यष्टोत्तरं शतम् ॥५८५॥

शास्त्र में कहीं भुवनों और कहीं भुवनेशों के नाम बताये गये हैं। मैं भी उसी प्रकार बता रहा हूँ। ब्रह्माण्ड के अन्दर अधोभाग में "कालाग्नि", "कूष्माण्ड" और "हाटक" मध्य में भूलोकेश शिव और सत्यलोक पर्यन्त ब्रह्मा हैं। सत्यलोक के ऊपर अपने-अपने लोक के अधिपति विष्णु और रुद्र हैं। इस प्रकार "कालाग्नि" से "रुद्र" पर्यन्त सात भुवन हैं।

ब्रह्माण्ड के बाहर दश दिशाओं में एक सौ रुद्र और उनका स्वामी "वीरभद्र" हैं। इस प्रकार पृथिव्यण्ड एक सौ आठ भुवन होते हैं।
॥५८२।२-५८५॥

जलावरणरुद्रस्य धरित्र्या जलधेस्तथा ।
श्रियश्चापि सरस्वत्या एकैकं भुवनं ततः ॥५८६॥
अष्टौ गुह्याष्टकस्याथ शिवाग्नेरेकमेव हि ।
अतिगुह्याष्टकस्याष्टौ वाय्वीशस्यैकमेव हि ॥५८७॥
अष्टौ गुह्यातिगुह्याष्टकस्य सन्ति ततः परम् ।
खेश्वरस्यैकमष्टौ तु पवित्राद्यष्टकस्य च ॥५८८॥

जलावरणरुद्र, धरित्री, समुद्र, लक्ष्मी और सरस्वती-प्रत्येक का एक-एक भुवन है। गुह्याष्टक के आठ, शिवाग्नि का एक, अतिगुह्याष्टक के आठ, वाय्वीश का एक, गुह्यातिगुह्याष्टक के आठ, खेश्वर का एक और पवित्राद्यष्टक के आठ भुवन हैं॥५८६-५८८॥

तन्मात्रसूर्यशीतांशुवेदानामष्ट तानि वै ।
सूर्याचन्द्रमसोः पञ्च पुराणि करणात्मनोः ॥५८९॥
अहङ्कारपतेश्चैकमष्टौ स्थाण्वष्टकस्य च ।
द्वाषष्ठिर्भुवनानीत्थं बुद्धौ द्वाषष्टिरेव हि ॥५९०॥

देवयोनेश्च क्रोधस्य तेजसो योगिनस्तथा ।
मूर्त्तेरस्त्यष्टकं तस्माच्चत्वारिंशद् भवन्ति च ॥५९१॥
श्रैकण्ठं पुनरौमञ्च द्वे स्तो योग्यष्टकोपरि ।
सुशिवद्वादशानां च द्वादशैवाष्टकानि तु ॥५९२॥
महादेवाष्टकानां च द्वाषष्टिर्योजने कृते ॥५९३।१॥

पञ्चतन्मात्र, सूर्य, चन्द्र, और वेद के आठ भुवन, करणरूप सूर्य और चन्द्र के पाँच, अहंकारपति का एक और स्थाण्वष्टक के आठ भुवन हैं। इस प्रकार जलावरणरुद्र से स्थाण्वष्टक पर्यन्त बासठ भुवन हैं। बुद्धि में भी निम्नलिखित—बासठ भुवन हैं—देवयोनि, क्रोध, तेज, योगी और मूर्त्ति-पाँचों में आठ-आठ भुवन होने से चालीस भुवन होते हैं। उपर्युक्त योग्यष्टक के ऊपर श्रीकण्ठ और उमा के दो भुवन हैं। बारह सुशिव के बारह भुवन और आठ महादेव के आठ भुवन हैं। इस प्रकार देवयोनि से महादेवाष्टक पर्यन्त भुवनों के योग से बुद्धि में बासठ भुवन होते हैं।

॥५८९-५९३।१॥

त्र्यशीतिर्भुवनानां च गुरुपंक्तित्रये यतः ॥५९३।२॥
तामसी प्रथमा पंक्ती रुद्रैर्द्वात्रिंशता युता ।
राजसी त्रिंशता चैकविंशत्या चापि सात्त्विकी ॥५९४॥

गुरुपङ्क्तित्रय में तिरासी भुवन हैं। तथाहि—प्रथम तामसी पंक्ति में तीस भुवन और तृतीय सात्त्विक पंक्ति में इक्कीस भुवन हैं ॥५९३।२-५९४॥

अतो मेलनया सर्वभुवनानि शतद्वयम् ।
सप्ताधिकं भवन्त्येवं ज्ञेयान्यग्रे यथागमम् ॥५९५॥

जलावरणरुद्र से गुरुपंक्तित्रय-पर्यन्त योग करने से "दो सौ सात" भुवन होते हैं। आगे के तत्त्वों में भी भुवनों का वर्णन किया गया है। उन्हें आगम से ही समझना चाहिये ॥५९५॥

अनुगम हेतु संक्षिप्त तालिका—

	तत्त्व	भुवन संख्या
१.	जलावरणरुद्र से स्थाण्वष्टकपर्यन्त	६२
२.	देवयोनि से महादेवाष्टक पर्यन्त बुद्धि तत्त्व में	६२
३.	गुरुपंक्तित्रय में	८३
		योग—२०७

सर्वतत्त्वात्मक गुरु स्मरणम्

सर्वस्य तत्त्वस्य च तत्त्वभूतो
गुरुः स एको नहि कश्चिदन्यः ।
विभासमानोऽपि न भास्यते यो
गुप्तो , गुरुः सोभिनवः सदास्ते ॥५९६॥

समस्त तत्त्वरूप सद्गुरु का स्मरण

समस्त तत्त्वों के तत्त्वस्वरूप एक सद्गुरु ही हैं, अन्य कुछ नहीं। गुरु तत्त्व सदा स्वयमेव भासमान है। वह किसी से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। गुरुतत्त्व हृदय में गुप्त और सदा अभिनव है। अथवा आचार्य श्रीमान् अभिनव गुप्त गुरुदेव सदा ही विद्यमान हैं ॥५९६॥

यथाऽऽमोदो न कर्पूरान्माधुर्यान्नहि शर्करा ।
भिद्यते न प्रभा सूर्यान्न शिष्यो गुरुतस्तथा ॥५९७॥

जैसे कर्पूर से आमोद, (सुगन्धि) माधुर्य से शर्करा एवम् सूर्य से प्रभा भिन्न नहीं होते वैसे ही शिष्य श्रीगुरु से भिन्न नहीं होता ॥५९७॥

गुरुशिष्यस्वरूपेण दृश्यते यद्यपि द्विधा ।
तथापि गुरुरेवैकः सर्वलक्षणलक्षितः ॥५९८॥

यद्यपि गुरु और शिष्य-उभय-रूप दृष्टिगत होते हैं तथापि एकमात्र श्रीगुरु ही विराजमान हैं क्योंकि सर्वरूपेण श्रीगुरु ही विद्यमान हैं ॥५९८॥

ग्रन्थकर्तुः स्थानादिः

भूमिः सा मिथिला जयत्यतिरां भूत्यै जगज्जन्मिनां
तत्रैवास्ति "करेह्"-नाम-तटिनी क्ष्मामूर्जयन्ती भृशम् ।
तत्तीरे कृतलक्षणोस्ति "पटसा"-ग्रामो विदामाकरस्-
तत्रासोच्छिवभक्तिनिष्ठसुकलो नाम्ना "नृसिंहो" द्विजः ॥५९९॥

मूलग्रन्थनिर्माता के जन्मस्थान, वंश और गुरुजन-प्रकृति का उल्लेख

संसार में जन्म लेने वाले प्राणि-मात्र के कल्याण हेतु उत्कृष्ट अनुपम "मिथिला"-भूमि सर्वोत्कर्षेण विद्यमान है। इसी मिथिला में प्रचुर "उर्वरता" को अनुप्राणित करती हुई "करेह्" (बागमती)-नामक नदी प्रवाहित होती है। इसके तीर पर दक्षिण-दिशा में स्थित विद्वज्जन की "खान" पटसा"-गाँव अपने विविधविशिष्ट-गुणों से विश्रुत है। इस गाँव में शिव-भक्त सुकल (दाता-भोक्ता) "श्रीनरसिंह" संज्ञक ब्राह्मण थे ॥५९९॥

तस्माच्छ्रीयुतराघवः कलिमलास्पृष्टोऽपरो राघवो
जातो यस्त्रिभिरन्वितोऽनुजवरैः ख्यातिं कुलस्याकरोत् ।
तद्भ्राता निखिलैषणाविरहितः सद्ध्यानमग्नः सदाऽ-
"योध्यानाथ"-पदाह्वयोर्विजयते मज्जन्मदो योगिराट् ॥६००॥

श्रीनरसिंह-जी से कलियुग-मल से वर्जित अपर राम के सदृश श्रीमान् "राघव" संज्ञक पुत्र उत्पन्न हुए। इन्होंने अपने तीन अनुजों के साथ "कुल" को विख्यात किया इनके भ्राता लोकैषणा-वित्तैषणा-पुत्रैषणा से वर्जित सदा सद्ध्यान में मग्न रहते हैं। ये हैं मेरे जन्मदाता पितृपाद योगिराज "अयोध्यानाथ-जी। सर्वोत्कर्षेण विद्यमान आप ग्रन्थ-लेखन-काल में जीवित हैं ॥६००॥

अस्य द्वावनुजौ स्मृतावपि हरौ क्लेशाब्धिभङ्गस्य यौ-
धूताज्ञानमलौ धरामुपगतौ देवौ दयालू इव ।
विद्याज्ञानपराङ्मुखान् निजजनान् सत्सोज्झिनोवंशजान्
भारद्वाजकुलोद्भवान् कलयितुं कर्त्तुं च विद्योन्मुखान् ॥६०१॥

इन (पिताजी) के दो अनुज थे, जिनका स्मरण-मात्र अविद्या को हरनेवाला है। ये दोनों भाई भी अज्ञान-मल से शून्य थे। वे ऐसे लगते थे—मानो-दयालु ब्रह्मा और शिव ही धरातल पर अवतीर्ण हो गये हों और विद्या-ज्ञान से पराङ्मुख भारद्वाज-गोत्र एवं "सोत्रिनी"-मूलवाले स्वजन को "विद्या-ज्ञान" की ओर उन्मुख करने हेतु ही मानव-शरीर धारण किये हों ॥६०१॥

नित्यानन्दाक्षयाकारौ "नित्यानन्दाक्षया"-भिधौ ।

प्रणमामि महात्मानौ पितृव्यौ परमौ गुरू ॥६०२॥

शरीर और नाम से नित्यानन्द और अक्षयस्वरूप परमगुरु पितृव्य-चरणों को प्रणाम करता हूँ ॥६०२॥

मातरं च "रमां" वन्दे "काञ्चिनीं" च पितामहीम् ।

ययोरद्यापि वात्सल्यं स्मरन् काञ्चित् स्थितिं भजे ॥६०३॥

माताजी—"श्रीमती रमा" और पितामही-"श्रीमती-काञ्चिनी" को प्रणाम करता हूँ, जिन दोनों के वात्सल्य का आज भी स्मरण होने पर मेरी अद्भुत स्थिति हो जाती है ॥६०३॥

प्रणमामि पुनः "सीतां" स्वसारं "सरयूं" पितुः ।

मातृवल्लालितो याभ्यां गतायां दिवि मातरि ॥६०४॥

पुनश्च अपनी बहिन "सीता" और पिता की बहिन "सरयू" को प्रणाम करता हूँ, इन दोनों ने मेरी माँ के स्वर्गवास हो जाने पर मेरा लालन-पालन माँ की तरह ही किया था ॥६०४॥

श्री "दामोदर" संज्ञकोऽस्ति गणको मान्यः सतां राघवि-

स्तद्भ्राता बहुशास्त्रबुद्धिनिपुणः "श्रीरामदेवा" भिधः ।

वेणीनाटकटीकयास्य विदिता साहित्यमर्मज्ञता

वादिध्वान्त निवारणैकचतुरोऽयं सर्वशास्त्रेष्वपि ॥६०५॥

श्रीराघव जी के सुपुत्र "श्रीदामोदर झा" नामक चचेरे भाई सज्जनों के संमाननीय गणक (ज्योतिषी) हैं। उनके अनुज श्रीरामदेव झा जी विभिन्न शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। "वेणीसंहारनाटक" की टीका से इनकी साहित्य-मर्मज्ञता विदित होती है। ये समस्त-शास्त्र में वादिजनों के अज्ञानान्धकार निवारण में परम निपुण हैं ॥६०५॥

नित्याचाररतो महामृतयुतो विद्यालयस्थापको
धर्मात्मा प्रियवाक् परापरसमो भक्त्या गुरून् ह्लादयन्।
शास्त्रालोकनतत्परः सहृदयैश्छात्रैः सदा सेवितो
नित्यानन्दसुतः सतामपि च सच्छ्री "ब्रह्मदेवोऽ"भवत् ॥६०६॥

नित्य-आचार में संलग्न, महान् ज्ञानामृत से युक्त "नित्यानन्द संस्कृत विद्यालय" के स्थापक, धार्मिक, प्रियभाषी, परमार्थ और व्यवहार में निष्णात, भक्ति द्वारा गुरुजन को आह्लादित करने वाले, शास्त्रावलोकन-तत्पर और सदा सहृदय छात्रों से सुसेवित, श्रीनित्यानन्दजी के पुत्र महान् सत्पुरुष "श्री ब्रह्मदेव" जी थे ॥६०६॥

आसीत् प्राणपथैरवाप्तगिरिशो योगीश्वरो यो गुरु——
स्तस्मादक्षयधामतः समभवच्छ्री--"बालकृष्णो" मम।
शिष्यो, ध्वान्तविनिर्गतो ह्यनुपमो योगीव वाचंयमो
धीरो धर्मसखः स्वकर्मनिरतो विद्वान् मनस्वी महान् ॥६०७॥

योगिराज पूज्यपाद अक्षय झा जी जो प्राण-मार्ग अर्थात् योग द्वारा शिवस्वरूपावाप्ति किये थे, वे मेरे स्वर योग के गुरु थे। उनसे श्री बाल-कृष्ण झा जी उत्पन्न हुए। ये मेरे शिष्य, अज्ञानान्धकार-रहित, अनुपमेय, योगी सदृश मितभाषी, धीर, धर्ममित्र, स्वकर्तव्य परायण, महान् मनस्वी विद्वान् हैं ॥६०७॥

साक्षरान् कृतवानस्मान् यौवने यो महामनाः।
वृद्धत्वे भजमानोस्ति शिवं तं नौमि "कल्लरम्" ॥६०८॥

जिन महामना ने अपनी युवावस्था में बन्धु बान्धव-सहित हमें साक्षर किया और वृद्धावस्था में शिवभजनशील हैं; उन श्रीगुरु "कल्लर झा" जी को नमन करता हूँ ॥६०८॥

यो मां संस्कृत्य गायत्रीम्प्रायच्छज्झोपनामकः ।
"पञ्चानना"ख्यदायादं वन्दे तं ब्रह्मदं गुरुम् ॥६०९॥

मैं पूज्यपाद श्री पञ्चानन झा जी को प्रणाम करता हूँ जो मेरे दायाद-पितृव्यपाद हैं जिन्होंने मेरा उपनयन-संस्कार कर मुझे गायत्री-प्रदान-पुरःसर वेदाध्ययन कराया था ॥६०९॥

प्रणमामि पुनर्भक्त्या गुरुन् विद्याप्रदान् मुहुः ।
सर्वतः प्रथमं तत्र रामदत्ताभिधं गुरुम् ॥६१०॥
मिश्रोपनामकाचार्यं निजग्रामनिवासिनम् ।
विद्यानाथं मुक्तिनाथं रघुनाथं मनीषिणम् ॥६११॥
राधाकृष्णं सदानन्दमुग्रानन्दं महागुरुम् ।
सन्ति सर्वत्र यस्यास्य शिष्यशिष्या ह्यनेकशः ॥६१२॥

अब मैं भक्ति पुरःसर विद्याप्रद गुरुजनों को बार-बार प्रणाम करता हूँ। उनमें सर्वप्रथम अपने "पटसा"-गाँव के निवासी श्री रामदत्त मिश्र गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ। तदनन्तर श्री विद्यानाथ झा जी, श्री मुक्तिनाथ मिश्र जी, मनीषी श्री रघुनाथ झा जी, श्री राधाकृष्ण झा जी और श्री सदानन्द झा जी गुरुजन को प्रणाम करता हूँ।

जिनके अनेक विद्यावान् शिष्य-प्रशिष्य सर्वत्र विराजमान हैं, ऐसे महान् गुरु श्री उग्रानन्द झा जी को प्रणाम करता हूँ ॥६१०-६१२॥

येन मित्रेण मित्रेण चक्षुरुन्मीलितं मम ।
व्याकृतौ बाल्यवस्थायां तमुपेन्द्रं स्मराम्यहम् ॥६१३॥

सूर्य-सदृश तेजस्वी जिस सन्मित्र ने बाल्यावस्था में व्याकरण में मेरी दृष्टि खोली, मैं उन श्रीमान् उपेन्द्र झा जी का निरन्तर स्मरण करता हूँ ॥६१३॥

यो मे मित्रं गुरुश्चापि यस्याहं चापि तादृशः ।
सोऽस्ति "नारायणःसप्रे" वित्स्वामी हठयोगवित् ॥६१४॥

जो मेरे मित्र और गुरु हैं और मैं भी जिनका मित्र और न्याय-विद्या-गुरु हूँ—वे हठयोग-वेत्ता, विद्वान् रामकल्याणनाथ स्वामी श्री "नारायण सप्रे" महान् ज्ञानी और संन्यासी हैं ॥६१४॥

प्रियस्मृतिप्रसङ्गेस्मिन्नुमाकान्तो न विस्मृतः ।
स्मृतः सर्वक्षणे यस्मात् स्वस्वरूपतया स्थितः ॥६१५॥

प्रिय-जन की स्मृति के प्रसङ्ग में ग्रामीण श्रीमान् उमाकान्त चौधरी (ज्यौतिषी) जी का विस्मरण नहीं हो रहा है क्योंकि वे स्वात्मस्वरूप ही हैं।

अथवा

प्रिय-जन के स्मरण-प्रसङ्ग में भगवान् उमाकान्त (शिव) विस्मृत नहीं हुए हैं क्योंकि वे प्रतिक्षण मुझसे अभिन्नरूपतया स्थित हैं ॥६१५॥

नाम्नैकार्थितयैकदैशिकतया जात्या स्वभावेन च
श्रीवीरेश्वरपुत्रपञ्चकवरो रामेश्वरो मत्सखा ।
काश्यां स्वात्ममहेश्वराप्तविभवः सौलभ्यमस्मादृशः
कुर्वन्नैहिकसाधने विजयते देहस्य जीवो यथा ॥६१६॥

नाम, ज्ञानस्वरूप प्रयोजन, सतीर्थ्य (एकाक्षयोगी के शिष्य) जाति (ब्राह्मण) और स्वभाव (तेजस्विता-प्रभृति) से श्री वीरेश्वर जोशी जी के पुत्र-पञ्चक में श्रेष्ठ श्री रामेश्वर जोशी जी का मैं मित्र हूँ। इन्होंने काशी में स्वात्म-महेश्वर से वैभव प्राप्त किया है। जीव जिस प्रकार देह को सुविधायें प्रदान करता है उसी तरह हमारे सदृश व्यक्ति हेतु सांसारिक साधनों को सुलभ करने वाले श्री रामेश्वर जोशी जी विराजमान हैं ॥६१६॥

ग्रन्थनिर्मितेः समयः

काश्मीराभिजनो "जवाहर" कृती यत्रास्ति काले महा-
मन्त्री भारतशासनस्य जनतास्वातन्त्र्यसंस्थापकः ।
"राजेन्द्र"श्च विराजते पतिरसौ राष्ट्रस्य राष्ट्रप्रियस्-
तत्रेयं स्वयमुद्गता स्वरसतोऽभिज्ञापयन्तो जनान् ॥६१७॥

ग्रन्थ निर्माण का समय

जिनके पूर्वजों का स्थान काश्मीर है और जो पं० जवाहर लाल नेहरू

स्वयं कर्मशील होने से भारतीय जनता की स्वतन्त्रता की स्थापना कर भारत-शासन के प्रधान मंत्री हैं। एवम् राष्ट्रप्रिय राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति हैं। इन्हीं के समय में यह "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" सुजनों को स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा कराने हेतु स्वरसतः हृदय में उमड़ उठी है ॥६१७॥

"श्रीरामेश्वरजोशि"ना सह गते काश्मीरदेशं मयि
भिक्षां याचितुमागतोऽस्मि भवता दातुं प्रतिज्ञायताम्।
इत्थं येन हठान्निगृह्य वचसा तन्त्रे नियुक्तो ह्यहं
तं "श्रीदेवगिरिं" स्मरामि सततं साक्षाच्छिवं शान्तिदम् ॥६१८॥

श्रीमान् रामेश्वर जोशी जी के साथ मैं काश्मीर प्रदेश गया था। वहाँ शान्तिप्रद साक्षात् शिव श्री देवगिरि जी महाराज ने "भिक्षा-याचना हेतु आया हूँ आप देने की कृपा करें" ईदृश-वचनों से हठ पूर्वक मुझे तन्त्र-शास्त्र में नियोजित किया था। अतः मैं सतत उनका स्मरण करता हूँ ॥६१८॥

अथेतिसंस्पर्शविहीनतत्त्वे तदात्मके तत्प्रतिपादके च।
सदैकरूपेण विजृम्भमाणे प्रारम्भपर्यन्तकथा कथं स्यात् ॥६१९॥

इस ग्रन्थ में बताये गये तत्त्व और तद्रूप तत्त्व-प्रतिपादक में "अथ" और "इति" का स्पर्श नहीं हो सकता यह सदैव एक रूप (अहं विमर्श) से चमत्कृतिशाली है। अतः इसमें प्रारम्भ और परिसमाप्ति की बात ही कैसे हो सकती है? ॥६१९॥

पूर्णताप्रत्यभिज्ञेयं सर्वभावसुनिर्भरा।
मोक्षलक्ष्मीर्महालक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव प्रिया ॥६२०॥

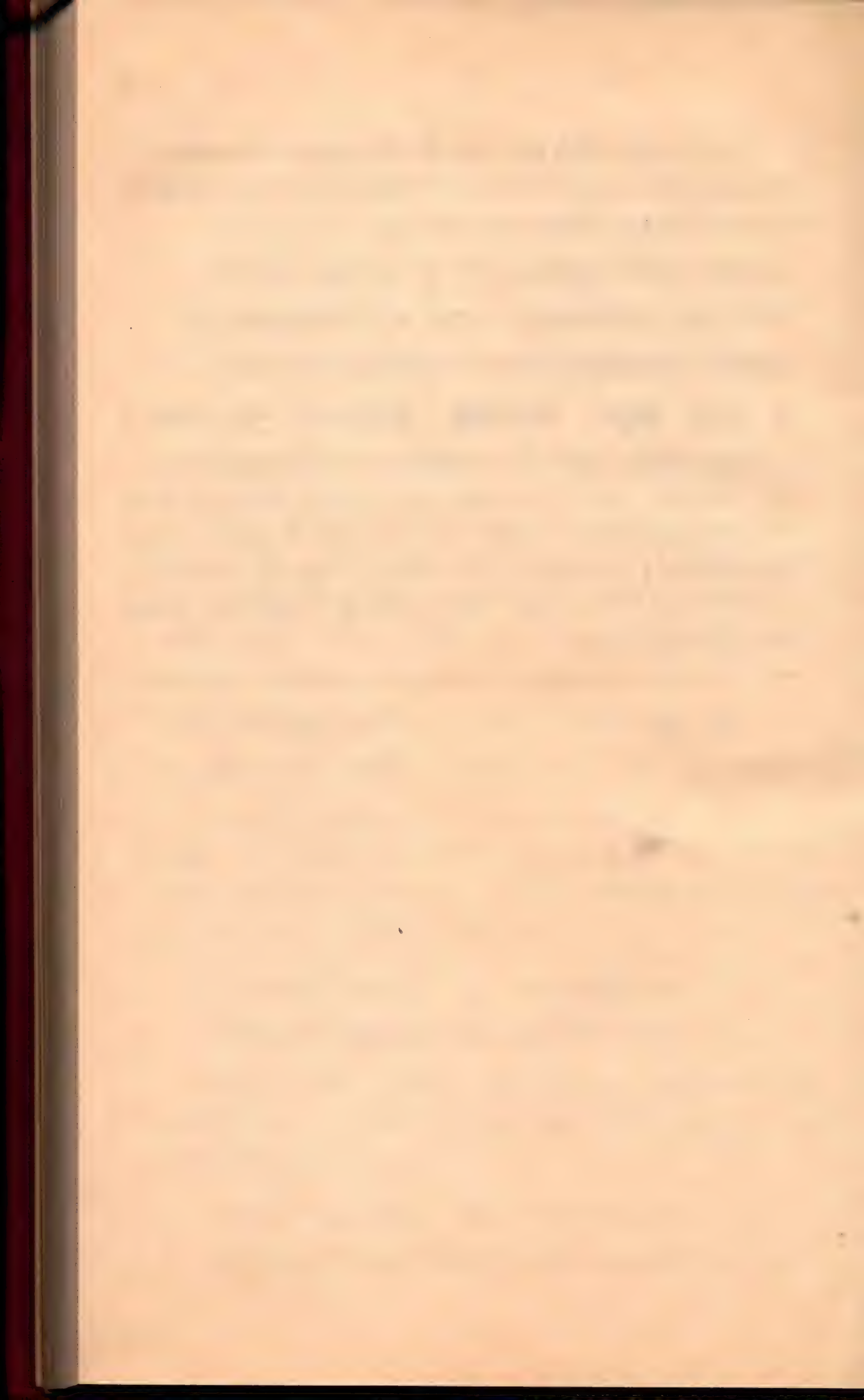
सर्वविधभाव से परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मी-रूपा "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" महालक्ष्मी रूप "राजलक्ष्मी" संज्ञक धर्मपत्नी के समान ही मुझे प्रिया है ॥६२०॥

दत्तको ब्रह्मदेवस्य पुत्रो रामेश्वरात्मजः।
अभिजानातु सर्वः स्वं रमानाथ इवामुतः ॥६२१॥

पं० श्री ब्रह्मदेव जी के दत्तक पुत्र और मेरे आत्मज "श्रीरमानाथ झा" इस ग्रन्थ से जैसे स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा प्राप्त किये, वैसे ही, समस्त सहृदय इस पुस्तक से स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करें ॥६२१॥

वाञ्छन्ती स्वयमभ्युपागतवती यं भारती स्वोन्नतिं
भातं वेदपुराणशास्त्रसहितं ज्ञानं च यस्मिन् स्वतः ।
यत्संविच्छविभिन्नभेदतिमिरा एतादृशाः स्मो वयं
तं नित्यं स्वगुरुं परापरमयं ह्यानन्दरूपं नुमः ॥६२२॥

अपनी उन्नति चाहती हुई भगवती सरस्वती स्वयं जिनके समीप आ गई, जिनमें वेद, पुराण और शास्त्र-सहित ज्ञान अपने आप प्रगट हो गये और जिनके ज्ञान-किरण द्वारा भेद-तिमिर मिट जाने से हमलोग एतादृश (लोक-विलक्षण) शिवस्वरूप हैं, उन व्यवहार और परमार्थ में परम-निष्णात नित्य आनन्द रूप "श्रीनित्यानन्द झा" गुरुदेव को निरन्तर नमन करता हूँ ॥६२२॥



हृदयम्

यद्यप्यागमनिगमयोः परम्परायामाचार्याणां ज्ञानवैलक्षण्यात् समुद्गतानि विभिन्नानि दर्शनानि समवलोक्यन्ते, तथापि तेषु केषांचित् तारतम्येन अभ्युदयमात्रस्य केषांचिच्च निःश्रेयसमात्रस्य साधनत्वात् सकलाभ्युदयस्य पूर्णमोक्षस्य चामोघसाधनन्तन्त्रमस्तकं प्रत्यभिज्ञादर्शनमेवानुसृत्य स्वातन्त्र्यमनुभवन्तो जना यथाभिलाषं सानन्दमेव निखिलाभ्युदयं मोक्षञ्चावाप्तुं शक्नुवन्तीत्यसंशयमुद्धोषयन्ति सदा समासादितस्वकल्याणा विश्वकल्याणमात्राभिलाषिणो मनीषिणो महात्मानः।

यद्यपि आगम एवं निगम की परम्परा में आचार्यों के ज्ञानवैलक्षण्य से विभिन्न दर्शन आविर्भूत हुए तथापि उनमें कतिपय दर्शन तारतम्य से अभ्युदय मात्र के साधन हैं तथा कुछ निःश्रेयस मात्र के साधन हैं। समस्त अभ्युदय तथा पूर्ण मोक्ष के अमोघ साधन तन्त्रशिरोमणि प्रत्यभिज्ञादर्शन का अनुसरण कर स्वातन्त्र्य का अनुभव करते हुए लोग सानन्द यथेप्सित सकल अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति में सक्षम होते हैं ऐसा असंदिग्ध उद्घोष—सदा स्वकल्याण-सम्पादन पुरःसर विश्वकल्याण-के अभिलाषी मनीषी महात्म-जन करते हैं।

यतो हि—यथा साक्षात्क्रियमाणो जगदात्मा सूर्यः प्रतिक्षणोच्छलत्प्रकाश्यस्वभावो भासमानोऽस्ति, तथैव प्रतिक्षणोच्छलच्चैतन्यशक्तिः स्वतन्त्रपूर्णानन्दात्मा लौकिकालौकिकसमस्तावस्थाव्यवस्थापकः शिवात्मा स्वात्मैव प्रतिपदं प्रतिरूपञ्च निरन्तरं विभासमानोऽस्तीति प्रत्यभिज्ञायते संस्कृतान्तःकरणेन जाग्रता जनेनानेनैव दर्शनेन। नहि कोपि कुत्रापि स्वस्मिन् स्वशक्तेरप्रकाशमनुभवति, प्रत्युत सर्व एव जनाः सर्वत्र सर्वदा

स्वस्मिन् शक्तेः स्फुरणमेवानुभवन्तीति योग्यानुभवस्योपपादकत्वात्, समुपलभ्यमानानां समेषामद्वैतवादानामवस्थाभेदेन स्वस्मिन्नन्तर्भावकत्वात्, सिद्धत्वाच्च यथाप्रतीतिव्यवहारमयमेव श्रेयान् शिवाद्वैतवादः स्वातन्त्र्याद्वैतवादो वा स्वातन्त्र्यानन्यप्रणयिनः प्राणिमात्रस्य सर्वथोपयोगी चेति सुस्पष्टम्पश्यन्ति विशुद्धाशया विज्ञानिनः।

क्योंकि—जिस प्रकार साक्षात्कार किया जाता हुआ प्रतिक्षण उच्छलत्प्रकाश्यस्वभाव जगदात्मा सूर्य विभासमान है उसी प्रकार प्रतिक्षण उछलती हुई चैतन्यशक्ति से युक्त, स्वतन्त्र, पूर्णानन्दरूप, लौकिक समस्त अवस्थाओं का व्यवस्थापक, शिवस्वरूप, स्वात्मा ही प्रतिपद तथा प्रतिरूप में निरन्तर विभासमान हो रहा है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा, संस्कृत अन्तःकरण वाले जागरूक जन को इसी दर्शन से होती है।

कोई भी व्यक्ति कहीं भी किसी भी समय अपने में स्वशक्ति के अप्रकाश का अनुभव नहीं करता प्रत्युत सबलोग सब जगह सदा अपने में शक्ति के स्फुरण का अनुभव करते हैं—अहम्, हम, मैं इत्यादि रूप से। अतः सर्वजनवेद्य अनुभव का उपपादक यह शिवाद्वैतवाद है।

उपलब्ध समस्त अद्वैतवाद का अवस्थाभेद से शिवाद्वैतवाद में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

यह शिवाद्वैतवाद साध्य नहीं अपितु सिद्ध ही है।

उपर्युक्त तीन (योग्यानुभव का उपपादक, समस्त अद्वैतवाद का अन्तर्भावक तथा सिद्ध) कारणों से अनुभव के अनुसार व्यवहार करने वाला यह शिवाद्वैवाद अर्थात् स्वातन्त्र्याद्वैतवाद ही प्रशस्त है।

यह स्वातन्त्र्याद्वैतवाद स्वातन्त्र्यमात्र के प्रेमी (इच्छुक) प्राणिमात्र के लिये सर्वथा उपयोगी है—ऐसा विशुद्ध आशय वाले विज्ञ-जन स्पष्टतया अनुभव करते हैं।

वादस्यास्य पोषकत्वादागमशिरसः प्रत्यभिज्ञादर्शनस्यास्य प्रतिपाद्यमुपोद्बलयतां विभिन्नप्रकारकाणां पुस्तकानां विज्ञतमैः सोमानन्दोत्पलदेवाभिनवगुप्ताद्याचार्यैर्निबद्धानां सत्त्वेऽप्यद्यत्वेऽ-

निवृत्ता बहुविधा जिज्ञासाः स्वसुतानां समीक्ष्य दयामय्या पुत्रवत्सलया जगज्जनन्या प्रेरितेन साक्षाच्छिवेन रामेश्वरात्मना पूर्णताप्रत्यभिज्ञानामकं साक्षात्कृष्णेन व्यासरूपेण गीताख्यमिव पुस्तकं प्रकाश्य सर्वथाऽनुगृहीता भक्तिशालिनस्तनयाः ।

इस शिवाद्वैतवाद अर्थात् स्वातन्त्र्यवाद का पोषक आगमश्रेष्ठ प्रत्यभिज्ञादर्शन है। इस दर्शन के प्रतिपाद्य विषय को विशद करने वाली विभिन्न प्रकार की पुस्तकें मौजूद हैं, जिनकी रचना अतीव विज्ञ—सोमानन्द, उत्पलदेव तथा अनिभवगुप्तपाद प्रभृति आचार्यों ने की है। तथापि आज अनेक प्रकार की असमाधेय जिज्ञासायें हैं। अपने पुत्रों की ऐसी जिज्ञासाओं की निवृत्ति हेतु दयामयी, पुत्रवत्सला जगज्जननी से प्रेरित साक्षात् शिवरूप आचार्यरामेश्वर झा महानुभाव ने "पूर्णता प्रत्यभिज्ञा" नामक ग्रन्थरत्न की रचना की।

साक्षात् कृष्ण रूप महर्षि व्यास द्वारा प्रणीत "गीता" की तरह साक्षात् शिव रूप आचार्य रामेश्वर झा प्रणीत "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" नामक पुस्तक को प्रकाशित कर जगज्जननी द्वारा श्रद्धा-भक्ति सम्पन्न पुत्रों को सर्वथा अनुगृहीत किया गया।

पुस्तकमिदं श्रद्धया भूयो भूयोऽधीत्य साधारणा अपि संस्कृतवाङ्मनसो जिज्ञासवो जना निरस्तसमस्तसंशयाः पूर्णतां प्रत्यभिजानन्तोऽवश्यं जीवनसाफल्यमनुभविष्यन्ति, तर्हि का कथा स्वपरगुणानुरागविशिष्टानां तादृशां जिज्ञासूनां महात्मनां विदुषाञ्च ।

इस "पूर्णताप्रत्यभिज्ञा" को श्रद्धा पुरःसर पौनःपुन्येन पढ़ने से संस्कृत मन तथा वाणी वाले साधारण जिज्ञासु-जन भी समस्त संशयों से रहित होकर पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा करते हुए जीवनसाफल्य की निःसन्देह अनुभूति करेंगे।

स्वकीय तथा परकीय गुणों के अनुरागी, महात्मा, विद्वान्, जिज्ञासु के विषय में तो कहना ही क्या है ?

अत्र हि पुस्तके—आगमतात्पर्यार्थस्य शिवाद्वैतस्य सर्वथोपपादनद्वारा प्रतिश्रद्धालु-जिज्ञासु पूर्णतां प्रत्यभिज्ञापयितुं शिव-शक्ति-परा-पश्यन्ती-विद्या-मायादितत्त्वानां विभिन्नप्रकारेणानेकत्र तथा प्रतिपादनमस्ति, यथा शीघ्रमेव तादृशा जिज्ञासवः सविश्वासन्तदध्ययनेन कञ्चिद्विलक्षणं चमत्कारमनुभवन्तः सर्वदा सर्वत्रानन्दात्मकसम्पूर्णविश्ववपुषं शिवमेवात्मत्वेन प्रत्यभिजानन्तो ध्रुवं कृतार्थतामनुभवन्ति ।

इस पुस्तक में—आगमों के तात्पर्य-विषयीभूत "शिवाद्वैत" का सर्वथा उपपादन किया गया है।

प्रत्येक श्रद्धालु तथा जिज्ञासु को पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा कराने हेतु शिव, शक्ति, परा, पश्यन्ती, विद्या तथा माया प्रभृति तत्त्वों का अनेक स्थलों में विभिन्न रूप से विलक्षण प्रतिपादन किया गया है, जिसके सविश्वास अध्ययन से विलक्षण चमत्कार का अनुभव जिज्ञासु-जन करते हैं तथा सदा सब जगह आनन्दात्मक विश्व-विग्रह शिव का स्वस्वरूपतया प्रत्यभिज्ञान कर निश्चय ही कृतकृत्य हो जाते हैं।

किं बहुना—अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं शिवं, शिवात्मकं वाऽनन्तकोटिब्रह्माण्डमात्मत्वेनानुभवतामस्मदादीनां न किमपि पारतन्त्र्यं प्रतिभाति, प्रतिभासितपारतन्त्र्यादेरपि स्वातन्त्र्यावभासमात्रसारत्वात् । वयं हि स्वानुभवेऽहन्तया भासमानेऽस्मिन्नपरोक्षे वस्तुनि सर्वाधारे कदापि पारतन्त्र्यं नानुभवामोऽपि तु स्वातन्त्र्यमेव । सेयं स्वतन्त्रतैव हि प्रियतमा स्वानुभवधारा नित्यनिरतिशयप्रेमास्पदानन्दस्वरूपसंरक्षिका प्रसरति स्वसत्तावगमिका, किन्तु मायाविभासितेदन्ताच्छादितैव सा प्रतिभाति जाग्रदाद्यवस्थासु, तत एव सुखसाधनानां मध्ये विराजमाना अपि जगज्जीवा योगिनश्च विह्वलायन्ते गुणीभूतेदन्ताका-

विच्छिन्नतादृशानुभवाय तमःप्रकाशान्यतरदेशीयाय शयनाय समाधये वा ।

तस्मादुत्थितानां हि सुखमहमासमित्यादि-प्रतीतिरेवावगमयत्यविच्छिन्नतां तत्र स्वानुभवधाराया इत्यलं स्वसंवेद्यार्थ-प्रकाशनेन ।

अधिक क्या कहा जाय—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डरूप शिव अथव शिवरूप अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड को आत्मरूप से अनुभूति करने वाले हमलोगों को लेशमात्र भी परतन्त्रता की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि प्रतिभासित होते हुए परतन्त्रता प्रभृति का भी सार स्वातन्त्र्यावभास ही है।

हम "अहम्-अहम्" इस रूप से भासमान अपरोक्ष स्वानुभवरूप सर्वाधार वस्तु में कभी भी पारतन्त्र्य का अनुभव नहीं करते, प्रत्युत स्वातन्त्र्य का ही अनुभव करते हैं।

यह स्वानुभवधारारूपिणी अत्यन्त प्रिय स्वतन्त्रता ही नित्यनिरतिशय प्रेम का प्रतिष्ठान है जो आनन्दरूप स्वस्वरूप की रक्षा करती हुई स्वसत्ता-बोधपुरःसर प्रसृत होती है।

किन्तु यह स्वतन्त्रता माया द्वारा बिभासित इदन्ता से आच्छादित होकर ही जाग्रत्-प्रभृति अवस्थाओं में प्रतिभासित होती है।

अतएव सुख-साधनों के मध्य में विराजमान रहने पर भी संसारी जीव तथा योगिजन तादृश अविच्छिन्न अनुभूति हेतु विह्वल होते हैं जिसमें इदन्ता गौण हो जाती है। यह अनुभूति अन्धकार-सदृश सुषुप्ति अथवा प्रकाशसदृश समाधिरूप है।

सुषुप्ति और समाधि से उत्थित जनों की "मैं सुखपूर्वक स्थित था" इत्यादि प्रतीति ही उन अवस्थाओं में स्वानुभवधारा की अविच्छिन्नता में प्रमाण है—अस्तु स्वानुभूतिमात्रगम्य वस्तु का प्रकाशन व्यर्थ ही है।

एवञ्च जीवानां सर्वथाऽपेक्षितस्य स्वातन्त्र्याद्वैतवादस्य सर्वथाऽपेक्षितं जगता सामञ्जस्यं सर्वथोपपादयत् पुस्तकमिदं

यदि सर्वत्र प्रचारितं स्यात्, स्यान्नूनं तर्हि विश्वे सकलै-राकाङ्क्षिता शान्तिः समुन्नतिश्च सर्वदिग्गामिनीति सुदृढं प्रतीमो वयम् ।

अत एव शिक्षाजगत्सम्बद्धाः समे महानुभावाः सादरं निवेद्यन्ते प्रकृतपुस्तकमात्मसाद् विधातुम्, येनावश्यं पूर्णतां प्रत्यभिजानतान्तेषां तत्प्रियाणां च समस्तं जीवनं सुखशान्तिमयं सम्पद्येत ।

आशास्महे च—सर्वे विश्वकल्याणाभिकाङ्क्षिणो नेतारो मन्त्रिणश्च विद्वांसो महाशया यथास्थानावसरं पुस्तकमिदं समादृत्य कर्तव्यम्पालयन्तो ध्रुवं जनतामुपकरिष्यन्तीति ।

उपर्युक्त प्रकार से सिद्ध होता है कि प्राणियों के लिये स्वातन्त्र्या-द्वैतवाद का जगत् के साथ सामञ्जस्य सर्वथा अपेक्षित है । उक्त सामञ्जस्य का सर्वथा उपपादन करने वाले इस ग्रन्थ का प्रचार-प्रसार हो तो निश्चय ही विश्व में सकलजन वाञ्छित "शान्ति" तथा सर्वतोमुखी समुन्नति के भागी होंगे—ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है ।

अतएव शिक्षा-जगत् से सम्बन्धित समस्त महानुभावों से सादर निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ-रत्न को आत्मसात् करें । जिससे पूर्णरूपता की प्रत्यभिज्ञा करते हुए उनका तथा उनके प्रियजनों का समस्त जीवन सुखमय तथा शान्तिमय हो जाय ।

आशा करता हूँ—विश्व-कल्याण के अभिलाषी समस्त विद्वान्, महाशय, नेता तथा मन्त्रिजन उपयुक्त स्थान तथा अवसर पर इस पुस्तक का आदर कर निज कर्तव्य का पालन एवं जनता का उपकार करेंगे ।

ग्रन्थस्यास्य निर्मातारो भगवद्गीतोक्तसुदुर्लभजन्मता-सूचितपुण्यातिशया विश्वगुरुभारतभालजानकीजनकयोगियाज्ञ-वल्क्यगौतममण्डनवाचस्पति - जन्मभूमि-मिथिलामणयोऽप्रतिम-प्रभाविभासितवैदुष्याः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः पयोमात्राहारयापित-

यौवनाः स्वाध्याययोगावाप्तज्ञानभक्तिमयजीवनाः परोपकार-मात्रकार्याः शिवात्मानः श्रीमन्तो "रामेश्वर झा" महाभागा विश्वात्मभिरस्माभिर्भूयो भूयः सानन्तधन्यवादं प्रणम्यन्ते, यैर्हि प्रकृतपुस्तकप्रणयनेन समेषां सहृदयानां महानुपकारो विहितः ।

इस ग्रन्थ के निर्माता आचार्य रामेश्वर झा महानुभाव अत्यन्त पुण्य-शाली हैं तब तो "शुचीनां श्रीमतां गेहे", "अथवा योगिनानेव कुलेभवति भारत" तथा "एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्" इत्यादि भग-वद्गीता-प्रतिपादित अत्यन्त दुर्लभ, पवित्र-श्रीमान् योगिजन संकुल कुल में आपने जन्म लिया ।

आप विश्वगुरु भारत के भाल (मस्तक) स्वरूप "मिथिला" के मणि हैं—जो मिथिला—भगवती-जानकी, राजा-जनक, योगिवर-याज्ञवल्क्य, महर्षि-गौतम, प्रख्यातवैदुष्य-मण्डनमिश्र और टीकाकार-आचार्यवाचस्पति-मिश्र की जन्मभूमि है ।

आप अप्रतिम प्रतिभा से मण्डित प्रख्यात-वैदुष्य और समस्त शास्त्र के अधिकारी विद्वान् (सर्वतन्त्र स्वतन्त्र) हैं ।

आपने युवावस्था को गोदुग्ध-मात्र-आहार लेकर व्यतीत किया है ।

स्वाध्याय और योगाभ्यास द्वारा ज्ञानमय और भक्तिमय जीवन जीने वाले आचार्य श्री झा जी का कार्य परोपकार मात्र है ।

शिवात्मा श्रीमान् आचार्य "**रामेश्वर-झा**" महानुभाव को विश्वरूप हम अनन्त धन्यवाद पुरःसर भूयोभूयः प्रणाम करते हैं—जिन्होंने "पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा" नामक इस पुस्तक का निर्माण कर, समस्त सहृदयजनों का महान् उपकार किया है ।

प्रार्थ्यते चान्ते पूर्णं शिवं भासयन्ती विभावयन्ती च जगदीश्वरी शिवैव पुत्रवत्सला सानुनयं प्रतिपुत्रं पुस्तकस्यास्य प्रचारायेति हृदयं सहृदयानां सम्मुखं समुपस्थापयन्तो वयम्—

श्रीरुद्रधर झा शर्माणः

न्यायवेदान्तव्याकरणाचार्याः

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयीय-दर्शन-विभागप्राध्यापकाः ।

अन्त में पूर्ण शिव को भासित करती हुई तथा जगत् को विभावित करने वाली त्रिभुवनेश्वरी पुत्रवत्सला भगवती शिवा से प्रार्थना है कि वह स्नेहातिरेक से प्रत्येक पुत्र के हितार्थ इस पुस्तक का प्रचार प्रसार करें। इसप्रकार सहृदयजनों के सम्मुख हम "हृदय" को उपस्थापित (प्रस्तुत) करते हैं—

पं० प्र० श्री रुद्रधर झा जी

न्याय-वेदान्त-व्याकरणाचार्य काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय–
प्राच्यविद्याधर्मविज्ञान संकाय में दर्शनविभागीय—प्राध्यापक

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१	पर्णता	पूर्णता
२	२१	सर्वोत्क	सर्वोत्क
३	१८	द्यू	द्यु
६	१	मय्यय्या	मय्या
८	२	च्घु	च्छू
९	६	संविद	संविद्
१०	१९	मैं	में
११	४	शात्व	शत्व
१२	२७	भूव	भुव
१४	२५	वात	बात
१५	२	उस शक्ति	शक्ति
१६	१७	श	शः
१७	१२	वाव	त्राव
१८	१	पूर्णप्रति	पूर्णता-प्रत्यभि
१८	८	वभा	समा
१८	१०	च्छ्रा	च्छा
१९	२	द्वार	द्वारा
२०	२	त्मा	त्म
२०	१७	सव	सर्व
२०	२५	यें	जें
२१	१०	र्थौ	र्थो
२१	१३	भू	भु
२१	१८	स्ति	स्मि
२२	२३	मुद	मुदं
२२	२४	मातत्	मातृतत्
२४	१८	भेदन	भेदेन
२४	२४	धर	धार

२५	१२	हऽपि	हेऽपि
२५	२३	त्रा	त्र
२५	२७	णदौ	णादौ
२७	२०	धन	घन
२८	२७	मया	मयी
३०	२२	दीखती	दीखती है
३०	२४	संशि-	संवि-
३२	९	स्वरू	स्वरूप
३४	७	-हाम ।-	-हामा-
३४	२५	विध्वं-	दिध्वं-
३५	२२	-ती	-ता
३८	५	"अभ्यस्त किये गये उक्त ज्ञान से पौरुष अज्ञान विनष्ट होता है।" यह उत्तरार्ध का अर्थ नहीं छपा है।	
३८	८	त्म	-प्त (प्त)
४०	५	केण	केन
४०	२२	मुझसे	मुझे
४१	२१	रुप	रूप
४२	२१	प्ये-	य्ये
४३	१८	न्तुर्मु	न्तर्मु-
४४	८	यायाः	तायाः
४५	३	शाध-	साध-
४५	२५	न	नो
४६	१९	स्वत्मा	स्वात्मा
४६	२०	-सासर	-सार
४७	२२	-टेस्थि-	-टस्थि-
५०	५	मिलो	मलो
५१	१२	उत्पा	उपपा
५२	१४	इस	इसलिये
५४	२६	-दिला-	-द्विला-
५५	९	प्र प्रवि-	प्रवि-
५८	२२	हे	हुआ

६०	४	माह	मोह
६२	३	सफल	सकल
६५	११	-यों के	-यों को
६५	१३	लिये हेतु	लिये
६६	१८	-र्य्य	-र्य्यं
६९	२	विकास	विकास से
७०	१७	-नुप-	-नुपप-
७६	१३	-त्मवि-	-त्मकवि-
७८	५	"अर्थात् सन्मात्रता भी सिद्ध नहीं हो सकती।" यह अंश गलत छपा है।	
७८	१३	-रता	-रत्ता
७८	२२	घ्रन	घन
७९	११	माध्य-	मध्य-
८०	५	-ञरा	-परा
८१	६	"इसका स्वरूप परामर्श को परावाक् कहते हैं।" यह अंश गलत छपा है।	
८१	२४	-नी	-नि
८३	१९	-तृणा	-तृ्णा
८४	१३	और	और न
८७	५	हि	त्विदमेव हि
८७	१७	-यं	यँ
८९	१	युक्त से	से युक्त
८९	६	तत्रा-	यत्रा-
९०	७	निम्न	भिन्न
९०	८	भा	भी
९१	११	वीजं	बीजं
९१	२३	बीजन	बीजेन
९५	१	आर	और
९६	३	लभ्या-	अभ्या
९६	९	प्रर्या-	पर्या-
९६	२१	-क्ति	-क्त

९७	१	योन्यु	योन्यु
९७	९	वणो	वर्णों
९९	१४	-ष्ठेव	-ष्ठैंव
९९	२६	दहे	देह
१०२	२२	सवैं	सैंव
१०६	७	कर-	कार-
१०७	११	-न्टि-	-ण्टि
१०८	२	पाच	पाँच
१०८	२१	सहिता	सहितो
१०८	२६	विन्द्वा-	बिन्द्वा
१०९	१	दतो-	दयो
१०९	१३	-रूपल-	-रुपल-
११०	५	-घात्	-घात
११०	१०	-स्थि ।	-स्थिता
११०	२५	-ल्वघि	-ल्वधि
११०	२५	-घ्ये	-ध्ये
१११	१	-न्ध्रं-	-न्ध्रे-
१११	२	-वया	-वता
१११	१३	-गि	-गी
१११	१५	तन्त्र	तत्त्व
१११	२१	वणों	वर्णों
११५	१९	-रदि	-रादि
११६	१९	होता	होती
११७	१६	षाड-	षोड-
११८	४	-दान्द-२	-दान्त-२
११९	१९	मः क	-मःक-
१२०	४	स्फू	स्फु-
१२०	६	वहीं	वही
१२१	३	-टित-	-टति
१२३	३	-स्या	-स्यां
१२३	१०	सभा-	सभी
१२३	८	दृष्टि-	द्दृष्टि

१२३	१२	-खरो	-खरी
१२३	१५	निर्दे-	निदे-
१२६	१५	इत्य-	इत्थ-
१२७	१४	स्त्येत्र	स्त्येव
१२८	२५	है	होता है
१३१	२३	धक्	धृक्
१३१	२६	कहला	कहलाता
१३३	१०	-पत्य	-पत्र
१३५	२५	वर्णो	वर्णों
१३९	१७	प्रथम	अन्तिम
१४०	६	-न्यद्-	-न्याद्-
१४३	९	प्रश्चा-	पश्चा-
१४४	२२	-ध्रूय-	छ्रूय-
१४८	७	चन्त	चान्त
१४९	४	आलकन	आकलन
१४९	९	षोऽश	षोडश
१५१	६	-शन्त-	-रान्त-
१५१	१९	-क्ति	-क्ती
१५२	३	इस	इन
१५२	१३	भेया	मेया
१५२	१९	निरु-	निरू-
१५३	१८	सः	स
१५४	२	-ण्यण्ड	-ठ्यण्ड
१५४	११	-मत्क्ता-	मत्का-
१४५	१८	-ण्यण्ड	ब्यण्ड
१५५	२५	त्या	स्त्या
१५६	२२	आण्ड	अण्ड
१५८	२३	-वत्ति	-वृत्ति
१५८	२४	बोद्धी	बोद्ध्री
१५९	३	-त्या	-स्त्या
१५९	१३	मि-अना	-मी ह्यना-
१६०	२०	॥१९१॥	॥१९०॥

१६०	२४	वरं विभज्य····सका	त्रयंविभज्य···समा
१७७	पृ० सं०	१६१ से १७६ तक पृ० सं० मात्र छूटा है। विषय का निरूपण क्रमिक ही है।	
१७७	३	को	के
१७८	१४	वञ्चा-	पश्चा-
१७९	३	को	की
१७९	५	तत्व	तत्त्व
१७९	१२	"समावेश के पाँच भेद तथा पचास उपभेद हैं। अवतरणिका छूटा है।	
१८१	२१	-ष्ठ	-ष्ट
१८२	१९	स्वात-	स्वत
१८३	२२	बोधक	बोध
१८३	२५	नदृ-	नादृ-
१८४	१	रुपे	रूपे
१८४	८	स्थित	स्थिति
१८४	१४	र्जि-	र्वजि-
१८४	१७	शिद्धि	सिद्धि
१८५	५	द्या	धा
१८५	१७	मयो	मतो
१८५	२२	म्या	भ्या
१८६	४	यों	यों
१८६	२०	मैं	में
१८७	५	योगी	उपयोगी
१८८	१	मिदा	भिदा
१८८	३	१५२/१	२५२/१
१८८	१६	क्षै	क्षो
१८९	९	ना	नां
१८९	९	धभि-	द्यभि-
१८९	१४	वम्	नम्
१८९	२५	रम्य	रतम्य
१९१	१	दे	दै

१९१	१६	विव	विध
१९१	२०	पर	पार
१९२	१८	कोड़े	कीड़े की
१९२	२२	लक्षण:	लक्षणा
१९३	२	र्त्तत्व	र्त्तृत्व
१९३	२०	रुप:	रूप:
१९३	२२	श्र	श्व
१९५	६	प्रकारा	प्रकाश
१९५	७	-न्म	-न्त
१९६	१	कहता	कहा
१९६	६	धत	धृत
१९७	९	-द्ध-	द्धृ
१९८	२०	वे	वेद्य
१९८	२१	त्यव्यव	त्यव-
१९८	२५	-ष्णवा-	-ष्ण्वा-
१९९	८	और अनन्यो-	और अन्यो-
१९९	२६	स:	स
२००	९	वास्त-	वस्त-
२००	१०	ह्म	ह्य
२००	१९	बाध-	बाह्य-
२००	२०	मान	भान
२०१	७	करते	कहते
२०२	२६	तत्त्वौद्य:	तत्त्वौघ:
२०३	६	-त्कू-	-त्कृ-
२०३	९	-ष्ट-	-ष्ठ-
२०४	१०	सद्यात	संघात
२०४	१५	स्फुठा	स्फुटा
२०४	१७	मियु-	मित्यु-
२०५	६	तत्बे	तत्त्वे
२०५	२४	एकास्या	एकस्या
२०५	२६	म्मि	-म्भि-
२०६	११	-धाम	-धान

२०६	१३	-लाती	-लाता
२०६	२०	धियो	धियोः
२०७	१५	सता	सती
२०७	१८	तद्वेध	तद्वेद्य
२०७	२२	तत्व	तत्त्व
२०७	२२	ष्ठिता	-ष्ठिताः
२०७	२३	भदे	भेद
२०८	१०	अस्फुटः	अस्फुट
२०९	१८	सः	स
२०९	१८	घ्वनि	ध्वनि
२०९	२१	वह	वह क्रम
२११	१०	धारण	धारण करने से
२१३	१६	माघातुं	माधातुं
२१४	३	विष्यां	विशेष्यां
२१६	१६	दहा	देहा
२१६	२६	कारिणो	कारिणी
२१७	३	न्व-	त्व-
२१७	१३	-च्छऽया	-च्छया
२१९	३	कर्मजो	कर्मजा
२२३	२१	योग्यता	-योज्यता
२२४	२३	लाश्चा	लाषश्चा
२२८	४	निरु-	निरू-
२२८	२०	-पूर्णम-	-पूर्णम्म-
२३६	१८	ह्मे	ह्ये-
२३९	९	घ्या-	ध्या
२४१	१७	-भिधः	-भिधा
२४२	१८	नियत	नियति
२४५	१	विषय	विषयक
२५२	१२	पृथिव्यण्ड	पृथिव्यण्ड में
२५३	१८	"बत्तीस रुद्राधिष्ठित भुवन, द्वितीय राजसी पक्ति में" यह अंश नहीं छपा हैं।	
२५५	६	प्रकृति	प्रभृति
२५६	१६	रसयूं	सरयूं

